विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य का सांस्कृतिक अनुशीलन

*

गोवा विश्वविद्यालय, गोवा की पीएच.डी. (हिन्दी)
उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध

*

शोध - छात्र

वी. वेंकटरमण भट्ट
एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी) बी. एड्.
केन्द्रीय विद्यालय, क्रमांक-1,
वास्को-द-गामा,
गोवा

891.43
DVA/CUL
T-179

*

शोध - निर्देशक

डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र
रीडर एवं अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
गोवा विश्वविद्यालय,
गोवा

*

गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

अप्रैल -१९९९

DECLARATION

I the undersigned hereby declare that the Ph.D Thesis titled "Vidya Niwas Mishra ke Nibandha Sahitya ka Samskritika Anusheelan" has been written exclusively by me and that no part of this Thesis has been submitted earlier for the award of any degree of this University or elsewhere.

April, 1999
Taleigao Plateau
GOA

V. Venkatraman Bhat

GOA UNIVERSITY

Head
Department of Hindi
GOA UNIVERSITY

U. S. Upadhyay 8.3.2000

Guide
06/3/2000

CERTIFICATE

As per the Goa University Ordinance, I certify that the Thesis is a record of Research work done by the candidate Mr. V. Venkatraman Bhat himself during the period of study under my guidance and that it has not previously formed the basis for the award of any other Degree or Diploma in the Goa University or elsewhere.

Taleigao Plateau,
GOA.

Dr. R. N. Mishra
Reader and Head,
Department of Hindi,
Goa University,
GOA.

विषय सूची

पृ.सं.

प्रथम अध्याय:

व्यक्ति और सृजन ... 1-26

द्वितीय अध्याय:

विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य का परिचय ... 27-72

तृतीय अध्याय:

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों में लालित्य योजना का तात्विक विश्लेषण ... 73-107

चतुर्थ अध्याय:

भारतीय संस्कृति और विद्यानिवास मिश्र ... 108-128

पंचम अध्याय:

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का सांस्कृतिक विश्लेषण ... 129-200

षष्ठ अध्याय:

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा एवं शैली ... 201-237

सप्तम अध्याय:

उपसंहार ... 238-243

परिशिष्ट ... 244-260

संदर्भ ग्रन्थ-सूची ... 261-267

पुरोवाक्

आधुनिक चिन्तकों, मनिषियों एवं साहित्यकारों में विद्यानिवास मिश्रजी का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है । ये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की परंपरा के रचनाकार हैं । बहुमुखी प्रतिभा के धनी मिश्रजी की लेखनी ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध ही नहीं किया अपितु उसे गरिमा भी प्रदान की ।

मूलतः संस्कृत के विद्वान, चिंतक एवं पत्रकार होने के कारण जीवन जगत् के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी ही पैनी होकर मौलिक रूप में व्यक्त हुई है । इन्होंने पौराणिक एवं मध्ययुगीन धार्मिक ग्रन्थों का जितना विशद व्यापक अध्ययन किया है उतना ही आधुनिक एवं लोक जीवन का भी ।

मिश्रजी के निबंधों में लोक जीवन की माटी की गन्ध सर्वत्र विद्यमान है । इसके साथ ही साथ संस्कृत के उद्धरणों की अनुपम छठा भी । मूलतः ललित निबंधकार होने के कारण विषय का लालित्य भी मौजूद है । मिश्रजी की अनुभूति का दायरा जितना व्यापक है उतनी ही अभिव्यक्ति की कुशल क्षमता भी उनमें पाई जाती है ।

मिश्रजी के पास शब्दों का प्रचुर भण्डार है जिसमें कि संस्कृत एवं लोक जीवन के शब्दों की बहुलता विद्यमान हैं । इसके पीछे इनकी यायावरी प्रवृत्ति भी रही है ।

विद्यानिवास मिश्र स्वभावतः सहज, सरल एवं भारतीय परंपरा के पोषक हैं । संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता भी हैं ।

परिवार में धार्मिक वातावरण होने के कारण मेरी रुचि संस्कृत विषय में अधिक हुई, इसका कारण था कि मेरे पिताजी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे एवं धर्म-कर्म में काफ़ी विश्वास रखते थे । घर में सुबह-शाम पूजा-पाठ आदि होने के कारण स्वभावतः मेरी प्रवृत्ति धार्मिक होती गई । अतः बचपन से लेकर धर्म-कर्म की एक धुन सी मुझ पर सवार थी । बदलते परिवेश

के दौरान इस धर्म का महत्व दिन-ब-दिन घटता गया, परंतु मेरे संस्कारों में बसा हुआ यह धर्म-कर्म मेरी स्मृति का अभिन्न अंग बना रहा । जिसके परिणाम स्वरूप मैंने पारंपरिक पद्धति से सामवेद एवं संस्कृत का अध्ययन करके ''कर्नाटक प्रौढ़ शिक्षण परीक्षा महासभा'' से 'विद्वान' की उपाधि प्राप्त की साथ ही साथ कक्षा आठवीं से ही संस्कृत को प्रथम भाषा के रूप में चुना और कालांतर में मैसूर विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. भी किया ।

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति में संस्कृत माध्यम से बी.एड. करने के पश्चात् गोकर्ण संस्कृत महाविद्यालय में संस्कृत पढ़ाने का सुअवसर प्राप्त हुआ । तदुपरांत मेरा नियमित चयन केन्द्रीय विद्यालय में हुआ, जहाँ मुझे हिन्दी का एक अच्छा माहौल मिला । इससे प्रभावित होकर मैंने सन् 1994 में मैसूर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किया । अध्ययन के दौरान मेरे मन में विद्यानिवास मिश्रजी के निबंध साहित्य पर शोध कार्य करने की इच्छा उत्पन्न हुई । विषय चयन के संबंध में जब मैंने गुरुवर डॉ.रवीन्द्रनाथ मिश्रजी से बातचीत की तो उन्होंने बताया कि विद्यानिवास मिश्रजी के साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष पर कार्य करना अधिक बेहतर होगा । आपस में विचार-विमर्श करने के पश्चात् शोध प्रबंध केलिए ''विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य का सांस्कृतिक अनुशीलन'' नामक विषय का चयन किया गया ।

उक्त विषय को अध्ययन की सुविधा एवं समीचीन मूल्यांकन की दृष्टी से निम्नांकित सात अध्यायों में विभाजित किया गया ।

शोध प्रबंध के पहले अध्याय में विद्यानिवास मिश्र का जीवन परिचय दिया गया है । इस अध्याय को तीन खण्डों में विभाजित किया है । पहले खण्ड में विद्यानिवास मिश्रजी का कुल-परिवार, जन्म, बाल्यावस्था, शिक्षा एवं दांपत्य जीवन, आजीविका, सम्मान एवं पुरस्कार, यात्रा वर्णन आदि का विवरण दिया गया है । व्यक्तित्व नामक दूसरे खण्ड में बाह्य एवं आंतरिक पक्ष, मिश्रजी के वेश-भूषा, उनका स्वभाव, संस्कार, रुचियाँ आदि के विवेचन करते हुए इनके प्राध्यापकीय, प्रशासकीय, संपादकीय एवं पत्रकारिता के गुणों का विश्लेषण किया गया है । साहित्य सृजन एवं लेखकीय यात्रा नामक तीसरे खण्ड में मिश्रजी के द्वारा लिखित निबंध साहित्यों,

कविता संग्रहों, संपादित ग्रन्थों, शोधपरक ग्रन्थों, भाषा ग्रन्थों एवं आलेखों का नामोल्लेख किया गया है ।

'विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य का परिचय' नामक दूसरे अध्याय को दो खण्डो में विभाजित किया गया है । पहले खण्ड के अंतर्गत उनके साहित्यिक निबंध, सामाजिक निबंध, धार्मिक निबंध, ऐतिहासिक निबंध, यात्रा विषयक निबंध, संस्मरणात्मक निबंध, सांस्कृतिक निबंध, भाषा विषयक निबंध, कला विषयक निबंध, समीक्षात्मक निबंध, भावात्मक निबंध एवं वर्णनात्मक निबंध आते हैं । वस्तुतः मिश्रजी का निबंध साहित्य इतना विपुल एवं व्यापक हैं कि भिन्न-भिन्न विषय सारणियों में विभक्त करना बहुत कठिन काम है । फिर भी मैंने यहाँ पर समीचीन मूल्यांकन केलिए उनके निबंधों को विषयानुसार वर्गीकरण करने का प्रयास किया है । इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में सांस्कृतिक निबंध साहित्य का विहंगावलोकन किया है । यहाँ पर मैंने विशेष रुप से सांस्कृतिक निबंधों को ही केन्द्रबिन्दु बनाकर मिश्रजी के सन् 1952 से लेकर सन् 1996 तक प्रकाशित एवं उपलब्ध निबंध साहित्य का आकलन करने का प्रयास किया है ।

'विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों में लालित्य योजना का तात्विक विश्लेषण' नामक तीसरे अध्याय में तीन खण्ड सम्मिलित हैं । पहले खण्ड में निबंध एवं ललित निबंध शब्द का व्युत्पत्तिपरक एवं कोषगत अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, विकास एवं ललित निबंध की विशेषताओं का समग्र चित्रण किया गया है । दूसरे खण्ड में मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में विद्यमान, वैयक्तिकता, स्वच्छन्दता, संक्षिप्तता, बौद्धिकता, काल्पनिकता, एकसूत्रता एवं कलात्मकता का स्वरूपगत विवेचन किया गया है । इसी अध्याय के तीसरे खण्ड में विद्यानिवास मिश्र एवं अन्य ललित निबंधकारों के प्रति दृष्टिपात हुआ है ।

'भारतीय संस्कृति और विद्यानिवास मिश्र' नामक चौथे अध्याय में संस्कृति शब्द का व्युत्पत्तिपरक एवं कोषगत अर्थ, अवधारणा एवं स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है । इसके साथ ही संस्कृति और सभ्यता का, संस्कृति और समाज का, संस्कृति और साहित्य का संबंध स्थापित करने का सफल यत्न भी रहा है । इसी अध्याय में भारतीय संस्कृति की

विशेषताओं पर प्रकाश डाल कर मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में अभिव्यक्त संस्कृति संबंधी विचारधाराओं का अवलोकन भी किया गया है ।

'विद्यानिवास मिश्रजी के निबंधों का सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक पाँचवाँ अध्याय इस शोध प्रबंध का केंद्रबिंदु रहा है । इस अध्याय को मैंने चार खण्डों में विभाजित करने का प्रयास किया है । पहले खण्ड में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ का, सत्य, दया, अहिंसा, दान आदि जीवन मूल्यों का, धार्मीक अनुष्ठानों का, अवतारवाद का, प्रकृति प्रेम, मांगलिक प्रतीक, भारतीयता, देशप्रेम, समन्वयवादि आदि विषयों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है । इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में मध्यकालीन संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, साहित्य, धर्म, परंपरा, मूल्य, कला, सामाजिक संवेदना आदि मध्यकालीन संस्कृति के तत्वों का गहन अध्ययन करने का सफल यत्न भी रहा है । अधुनिक संस्कृति नामक तीसरे खण्ड के अंतर्गत समाज एवं साहित्य आधुनिक भौतिकतावाद, राजनीति, जाति, धर्म एवं, संप्रदाय, सांस्कृतिक मूल्य विघटन आदि विषयों का समीचीन मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है । लोक संस्कृति इस अध्याय का चौथा खण्ड है जहाँ पर लोक जीवन, परंपरा, आस्था-विश्वास तथा लोक वार्त्ता के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ भावबोध एवं भाषाबोध का भी विश्लेषण हुआ है ।

'विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा एवं शैली' इस शोध प्रबंध का छटा अध्याय है । इस अध्याय के भाषिक संरचना नामक पहले खण्ड के अंतर्गत मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों की शब्दसंपदा का अर्थात् तत्सम-तद्भव, देशज-विदेशी शब्दप्रयोगों के बारे में गहन एवं गम्भीर चर्चा की गयी है । दूसरे खण्ड में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द सामर्थ्यों का विश्लेषण हुआ है । अभिव्यंजना नामक तीसरे खण्ड में सांस्कृतिक निबंधों में मिश्रजी के द्वारा प्रयुक्त सामाजिक शब्द, वैदिक मंत्रों का उच्चारण, संस्कृत श्लोकों का उद्धरण, मुहावरों एवं लोकोक्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है । साथ ही अलंकार योजना, प्रतीक योजना, बिंब योजना के प्रति भी दृष्टिपात किया गया है । भावात्मक गुण इस अध्याय का चौथा खण्ड है जिस में भाषा की सहजता, सरलता एवं स्पष्टता का चित्रण हुआ है । विविध शैलियाँ नामक

पाँचवें खण्ड में मैंने विविध शैलियों की विवेचना करते हुए शैली के महत्व को दर्शाया है साथ ही प्रसाद, व्यास, समास, विवेचन, व्यंग्य, तरंग, विक्षेप, धारा आदि शैली के भेदों पर प्रकाश भी डाला गया है । मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में अभिव्यक्त शैलियों का विस्तृत विश्लेषण करने का प्रयास भी मैंने यहाँ पर किया है ।

सातवाँ अध्याय उपसंहार है । इस अध्याय के अंतर्गत मिश्रजी के सभी सांस्कृतिक निबंधों का सम्यक् विश्लेषण किया है । भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन केलिए मिश्रजी के योगदान को रेखांकित करने का सफल प्रयास भी हुआ है । इस शोध प्रबंध को अधिक स्पष्ट एवं मौलिक बनाने केलिए प्रत्येक अध्याय के अंत में निष्कर्ष भी दिया गया है ।

परिशिष्ट में विद्यानिवास मिश्रजी के निबंधों की वर्णानुक्रम सूची दी गयी है । साथ ही संदर्भ ग्रन्थ सूची का उल्लेख किया गया है ।

आभार

गोवा विश्वविद्यालय के कुलगुरु प्रो. बी.एस.सोंदे एवं कुलसचिव प्रो. डी.वी.बोरकर के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि इनके प्रबुद्ध कौटुम्बिक परिवेश में मुझे मनन, अध्ययन और चिन्तन करने का गौरव प्राप्त हुआ ।

सबसे पहले मैं कृतज्ञ हूँ आदरणीय गुरुवर डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्रजी (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय) का, जिनके विद्वत्तापूर्ण एवं स्नेहपूरित निर्देशन में इस शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति संभव हुई ।

हिन्दी विभाग के डॉ. बी.के.शर्मा 'रोहिताश्व', डॉ.इशरत खाँन, श्रीमती वृषाली मान्द्रेकर, डॉ.रवीन्द्र मिश्र, लिपिका श्रीमती प्रार्थना, श्री यशवंत नायक एवं अर्जुन आदि के स्नेह एवं सहयोग के प्रति शुक्रगुजार हूँ ।

भाषा संकाय के वर्तमान एवं भूतपर्व अधिष्ठाता प्रो. ओलिविन्यु गोमिश और प्रो.अशोक जोशी के प्रति भी विनम्र शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

उपकुलसचिव श्री. एम.ए.वैद्य, श्री गोलटकर एवं उस अनुभाग के समस्त कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ ।

वर्तमान एवं भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ.पी.वी.कोण्णूर एवं श्री विट्ठल रघुवीर नावेलकर तथा विश्वविद्यालय के समस्त कर्मचारियों के प्रति मैं शुक्रिया व्यक्त करता हूँ क्योंकि आप सभी लोगों का मुझे भरपूर सहयोग मिला ।

प्रो.टी.आर.भट्ट, (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड) के प्रति मैं श्रद्धानत हूँ क्योंकि आपकी प्रेरणा, स्नेह और सहयोग से ही इस दुरूह कार्य को करने में सफल हुआ । श्रीमती प्रभा भट्ट एवं प्रो.नन्दिनी गुंडूराव के प्रति शुक्रगुजार हूँ क्योंकि आप लोगों ने जिस तन्मयता से सहयोग दिया वह निश्चय ही सराहनीय है ।

केन्द्रीय विद्यालय, वास्को के प्राचार्य श्री एन.एस.आर.शर्मा तथा उपप्राचार्य श्रीमती एस.एम.जोशी, पुस्तकालयके अध्यक्ष श्रीमती सुजाता कुलकर्णी, भाई शिवरुद्रय्य, श्री उदयराज सरोज, महम्मद शमीम, आर.एस.शुक्ल, टी.आर.शर्मा, आर.के.यादव, डा.वी.पी.मिश्र, श्री काशीनाथ तथा अन्य सभी मित्रों के प्रति मैं हृदय से नमन करता हूँ क्योंकि आप लोगों ने मुझे भरपूर आत्मबल प्रदान किया ।

अंत में श्री गिरीश कुलकर्णी जी तथा श्री हनुमंत कुलकर्णी के प्रति आभार व्यक्त न करें तो शायद मेरी बहुत बड़ी धृष्टता होगी क्योंकि आपने शोधप्रबंध के टंकन का कार्य अवकाश लेकर पूरा किया ।

शोध कार्य की मंजिल तक पहुँचने में मैं उन सभी ज्ञात-अज्ञात लोगों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने कि मुझे इस दुरूह कार्य में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया ।

धन्यवाद ।

वी. वेंकटरमण भट्ट

प्रथम अध्याय

व्यक्ति और सृजन

प्रथम अध्याय

व्यक्ति और सृजन

खण्ड - क

जीवन वृत्त

रचनाकार की सृजनशीलता उसके व्यक्तित्व एवं परिवेश पर आधारित होती है । परिवेश की खाद प्राप्त कर उसके मन-मस्तिष्क में सर्जना के बीज अंकुरित होती है, अंकुरण की प्रक्रिया तब और तीव्र होती है, जब रचनाकार में परिवेश की गहरी अनुभूति की पकड़, निष्ठा, परिश्रम एवं ईमानदारी के तत्व मौजूद होते हैं ।

विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में जीवन जगत् की हलचल एवं लोकजीवन की माटी की महक सर्वत्र विद्यमान है । लगता है कि मिश्र जी ने आस-पास के जीवन को बहुत सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि से देखा, जिसकी अनुगूँज आपके साहित्य में सर्वत्र दिखाई देती है । मिश्र जी के निबन्ध साहित्य का अनुशीलन करने के पूर्व उनके व्यक्तित्व एवं परिवेश को जान लेना अधिक तर्क संगत होगा ।

जन्म एवं कुल-परिवार

विद्यानिवास मिश्र का जन्म गोरखपुर जिले के पकड़डीहा नामक गाँव में 14 जनवरी 1926 ई. को हुआ । आपके प्रपितामह पं.उमादत्त थे । माता का नाम श्रीमती गौरीदेवी एवं पिताजी का नाम स्व.पं.प्रसिद्धनारायण मिश्र है । पिताजी पेशे से वकील थे । कालांतर में वकालत से विरक्त होकर पौरोहित्य कर्म करने लगे । प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल पूजा-अर्चन करना उनके जीवन का नित्य कर्म बन गया । पिताजी के इस धर्माचरण के संबंध में मिश्र जी ने स्वयं लिखा है "घर में पिताजी और दो पितृव्य पूजा पाठ बहुत निष्ठापूर्वक करते हैं, इसलिए तीन होरसे तो कम से कम घर में हैं ही । प्रतिदिन इन पर चन्दन और प्रायः मलयागिरि चन्दन ही घिसा जाता है । रक्त चन्दन या देवी चन्दन तो नवरात्र में या रविवार को ही इन होरसों पर घिसता है । इसलिए चन्दन से बड़ी पुरानी जान-पहचान है ।

पाँच-छः वर्ष का था, मैं अपने बडे पितृव्य के पास जाकर चुपचाप बैठ जाता था और उनका महिम्न स्तोत्रपूर्वक चन्दन घिसना देखा करता था । पूजा उनकी घण्टों चलती थी । बीच-बीच में किसी वस्तु की आवश्यकता हुई, तो वे देवभाषा में ही संकेत करते और मैं ला देता । पूजा समाप्त होने पर गौरी, गणेश, पार्थिव शिव, एकादश रुद्र और श्री दुर्गा सप्तशती तथा श्रीमद्भागवत पर चढने से जो चन्दन अवशिष्ठ रहता था, उसको पितृव्य मेरे भाल पर या ग्रीवा में चर्चित करते और तब अपने भाल पर तिलक लगाते । इसके बाद प्रसाद देते, जिसके लोभ से मैं इतनी देर तक बैठा रहता था । उस चन्दन-तिलक से भाल चर्चित करने के सुअवसर अब नहीं मिलते, पर उसकी सुरभि मन में यत्न से सुरक्षित है ।''[1]

मिश्र जी के व्यक्तित्व पर उपर्युक्त धार्मिक परिवेश का गहरा प्रभाव दिखाई देता है । आज भी मिश्रजी वैचारिक रूप से आधुनिक होते हुए भी परंपरागत जीवन मूल्यों के प्रति सतर्क हैं । पिताजी की भाँति इनकी माता गौरी देवी जी का आचरण भी धार्मिक एवं लोकोन्मुख था । वे रामायण महाभारत एवं पंचतंत्र की कहानियाँ प्रायः बचपन में ही सुनाया करती थी लोकजीवन से जुडे अनेक गीत एवं रामचरितमानस की कई चौपाइयाँ उन्हें कंठाग्र थी । माताजी के संबन्ध में मिश्रजी का कथन इस प्रकार है - ''मेरी माँ लोकपुराण की एक अद्वितीय व्यास थीं । गाँव में ही नहीं, पूरी बिरादरी में उनसे लोग लोक-अनुष्ठान की बात पूछने आते थे । उनका कंठ और व्यवहार दोनों मधुर थे । लोक-भाषा लोक-साहित्य से मेरा जुड़ाव मेरी अपनी माँ से जुड़ाव है ।[2]

धार्मिक वातावरण में पले एवं बडे हुए मिश्रजी के बाल्य जीवन पर पारिवारिक संस्कारों एवं लोक-जीवन के परिवेश की अमिट छाप पडी, और कालान्तर में वे रचना के दौरान अपने को ग्रामीण एवं लोक संस्कृति से अलग नहीं कर सके । इस संबंध में डॉ. शिवप्रसाद सिंह का अभिमत इस प्रकार है - ''प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान, लोक मंगल की कामना से युक्त, जीवन में शिवम् और सुन्दरम् के साथ सत्यम् पर भी अपार निष्ठा रखनेवाला, लोक संस्कृति की सरसता एवं मादकता में आकंठ डूबा हुआ, उन्मुक्त, भावुक, आधुनिक भारतीय संक्रमण काल के मूल्य बोध का बहतरीन नमूना होकर भी उसकी सीमाओं को अतिक्रान्त कर गया'' ।[3]

इस कथन से विदित होता है कि मिश्र जी का व्यक्तित्व इनके निबन्धों में सर्वत्र सहज रूप से देखा जा सकता है ।

शिक्षा एवं दाम्पत्य जीवन

विद्यानिवास मिश्र की प्रारंभिक शिक्षा गाँव में संपन्न हुई । प्राथमिक पाठशाला में दाखिला लेने के पूर्व मिश्र जी को पारिवारिक माहौल से ही बहुत कुछ जानकारियाँ प्राप्त हो गयी थी क्योंकि उनके बाबा एवं उनकी माँ उन्हें पौराणिक कहानियाँ सुनाया करती थी । धार्मिक आचरण की शिक्षा उन्हें घर से प्राप्त हुई और हिन्दी एवं गणित का ज्ञान मिश्रजी को पाठशाला के अध्यापकों द्वारा प्राप्त हुआ । इस संबंध में वे स्वयं लिखते हैं - "यह नहीं छूटता कि बिना कोई परीक्षा पास किये, या किसी स्कूल में गये मेरे बाबा ने बचपन में रामायण, महाभारत और हितोपदेश-पंचतंत्र की पूरी कहानी सुना दी थी । उस निखालिस भदेस भोजपुरी इलाके के प्राइमरी स्कूल के अध्यापक ने मुझे दर्जा चार तक ही ऐसी हिन्दी सिखा दी थी कि कभी भी उसके बाद व्याकरण और वर्तनी का भूल हिन्दी लिखने-बोलने में नहीं हुई और यादवचन्द्र चक्रवर्ती का अंकगणित ऐसा मश्क करा दिया था कि अंग्रेजी स्कूल में दर्जा सात में भर्ती हुआ तो गणित के मास्टर पीठ पर इस बात के लिए स्नेहपूर्वक एक धौल देते थे कि क्या तू पेट में गणित पढ़ता रहा" ।[4]

इंटरमीडियट की परीक्षा गोरखपुर से उत्तीर्ण करने के पश्चात् मिश्रजी का आगमन प्रयाग में हुआ । इलाहाबाद में रहकर अपने स्नातक एवं सन् 1945 में संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर की परीक्षा पास की । विश्वविद्यालयीन शिक्षा के दौरान ही आप वैवाहिक सूत्र में बँध गए । सन् 1942 में बिहार के चंपारन जिले के मंझरिया नामक गाँव की राधिका देवी जी से आपका विवाह हुआ । राधिका देवी भारतीय नारी की साक्षात् प्रतिमूर्ति थी । पति सेवा एवं धार्मिक आचरण उन के जीवन के अभिन्न अंग बन गये । कुछ समय के पश्चात् राधिका जी ने पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम मंजुला रखा गया । माता-पिता के सान्निध्य में पली हुई मंजुला का विवाह शुक्ल परिवार में हुआ और कुछ समय के पश्चात् मंजुला ने एक पुत्र और दो पुत्रियों को जन्म दिया, जिनके नाम क्रमशः वसुरात, आमोदिनी और मृडानी रखे

गये । इस संबन्ध में डॉ. जगन्नाथ चौधरी का कथन है - "अपनी सन्तान के बारे में आचार्य जी लिखते हैं - सन्तान के रूप में मेरी एक मात्र पुत्री श्रीमती मंजुला शुक्ला है और उनके तीन बच्चे हैं । एक तो आमोदिनी, दूसरी मृड़ानी और तीसरा वसुरात"[5] पारिवारिक संबन्ध में वे स्वयं लिखते हैं - "मेरी लड़की मिनी अभी भी आती जाती है, पर जो लड़की सत्रह वर्षों तक मेरे घर-मन के आँगन की गौरैया बनी निर्भय फुदकती रही वही लड़की कहती है - बाबूजी, आप मुझे वो पूछते नहीं अपनी धेवती को ही पूछते हैं, इसने अपना अधिकार छीन लिया । अपनी ही बिटिया से इस तरह वह माख करती है तो लगता है वह फिर छोटी हो गई है पर साथ ही उसके लिए मोह-छोह मेरी धेवती आमोदिनी के मोह-छोह में रूपांतरित हो गया है मिनी माँ होगई है, आमोदिनी से लड़ती है उसे छोडकर अपने ससुराल जाने लगती है तो एका एक बड़ी हो जाती है उसके आँखों में आँसु आ जाते हैं ।"[6]

मिश्रजी ने अपनी एक मात्र पुत्री मंजुला को (जिसे प्यार से मिनी बोलते हैं) उत्तम संस्कार दिया वे इस सन्तान को वरदान मानते हैं । इस बात को पुष्टि देनेवाला एक उल्लेख उनके निबन्ध में प्राप्त है -"अकेली बेटी का बाप होने के कारण कन्या पर मेरी ममता शायद कुछ अधिक हो, अनेक कन्याओं वाले लोग कन्या का जन्म अभिशाप मानते हैं" ।[7] बेटी मिनी के प्रति मिश्रजी की ममता तो अधिक थी । इसलिए उन्होंने एक बार बालोपयोगी रचना माँगने पर सोहनलाल द्विवेदी जी को अपनी बेटी मिनी का फोटोग्राफ भेज दिया था जिसे वे सबसे बड़ी रचना मानते थे । इस संबन्ध में यह उल्लेख दृष्टव्य है - "बालसखा के संपादक मित्रवर सोहनलाल द्विवेदी ने एक बार मुझ से बालोपयोगी रचना माँगी । मैंने उन्हे मिनी का फोटोग्राफ भेज दिया और लिखा कि इससे बड़ी रचना मैं आजतक नहीं कर पाया हूँ । मिनी बड़ी है मेरे अर्जित परिष्कार से, मेरी अर्जित विद्या और मेरी अर्जित कीर्ति से, क्योंकि उसकी मुक्त हँसी में जो मोगरे बिखर जाते हैं, उनकी सुरभी से बड़ी कोई परिष्कृति सिद्धि या कीर्ति क्या होगी ! वही मिनी जब गौरयों को देखकर नाचती है, उन्हे बुलाती है उनके पास आते ही खुशी में ताली बजाती है, उन्हे धमकाती है, फिर मनाती है तब मुझे लगता है कि सृष्टि की दो चरम आनन्दमयी अभिव्यक्तियाँ ओत-प्रोत हो गई हैं ।[8]

आज वही आनन्द उन्हे अपने धेवतियों से मिल रहा है । समय प्राप्तकर मिश्रजी उन बच्चों के साथ खेलते-खेलते स्वयं ही बच्चे बन जाते हैं। इस संबंध में वे लिखते हैं - ''दो साल से नाना बना तो अब यह समस्या आगयी कि कैसे बच्चा बन जाय । धेवती कहती है नाना, चल खेल घुंतू-मंतू या ओक्का-बोक्का और यह भी आशा रखती है कि नाना को खेल के पूरे बोल याद होंगे । अब नाना को बचपन के भाषा को संस्कारों को बार-बार पुकार लगानी पडती है ।''[५]

उपर्युक्त कथन में मिश्रजी बालसुलभ क्रीडाओं का ममेस्पर्शी चित्रण करते हैं इससे में स्वयं ही डूबकर उनके अंतर्मन को झाँकते हैं । इससे परिवार के प्रति उनकी गहरी संवेदनाओं को जाना जा सकता है ।

आजीविका

अध्ययन हेतु विश्वविद्यालय में पहुँचते-पहुँचते मिश्रजी की विचारधारा पाश्चात्य विद्वानों के प्रति आकर्षित हो गई । राबर्ट लुई, स्टीवेन्शन थॉमस डिक्केन्सी, चार्ल्स लैम्ब आदि लेखकों की कृतियों से प्रभावित होगए । साथ ही साथ संस्कृत के भवभूति, अभिनवगुप्त पादाचार्य, बाणभट्ट आदि लेखकों के भक्त भी बने । हिन्दी के गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह, माधवमिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखक आपके पथ-प्रदर्शक बने । फलतः कविता लेख आदि रचना की शुरुआत हुई । मिश्रजी की आरम्भिक कार्य साधना के प्रति डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया लिखते हैं - ''लेखक विद्यानिवास मिश्र 1937 से ही ललित लेख लिखने लगा था । चार्ल्स लैम्ब के ''एसेज ऑफ एलिया'' से लेखक को दिशा संकेत मिला । जिससे प्रेरित होकर इन निबन्धों को लिखा गया ।''[६]

इस संबन्ध में डॉ. विद्यानिवास मिश्र का कथन है - ''शंकर साप्ताहिक गोरखपुर से निकलता था । उसमें पहली रचना छपी । पहले ब्रज भाषा में कविता लिखी, हिन्दी में कहानियाँ लिखी जो स्थानीय पत्रिकाओं में छपी । निबन्ध लेखन 1944 से प्रारम्भ हुआ । इलाहाबाद की पत्र-पत्रिकाओं में लिखना शुरु किया । पहला संग्रह 'छितवन की छाँह' 1952 में छपा ।''[७]

प्रारम्भ से ही अध्ययनशील प्रवृत्ति के कारण मिश्रजी का मोह भाषा संस्कृति एवं भाव के प्रति बढ़ता गया । अतः आपने अपनी योग्यता, मौलिक प्रतिभा एवं परिश्रम के बल से साहित्यिक क्षेत्र में एक विशिष्ट मानदण्ड स्थापित किया । यह प्रक्रिया आपके जीवन के परिवर्तित कार्य क्षेत्रों में भी चलती रही । संस्कृत के वेत्ता होकर भी हिन्दी में लिखने की शुरुआत पं. हजारीप्रसाद एवं श्री नारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से हुई । इस सम्बन्ध में डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा लिए गए एक साक्षात्कार में मिश्रजी कहते हैं - "बचपन से ही मैं घर में संस्कृत का पूरा वातावरण रहते हुए भी, हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ । मेरे ननिहाल में भारतेन्दु युग के पं. बिंदेश्वरी प्रसाद त्रिपाठी रहते थे और वे नाना के भाई लगते थे, उन्होंने अपनी बहुतसारी किताबें मेरे नाना के पास रख दी थीं और खड्ग विलास प्रेस और भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित पुस्तकें तथा भारतेन्दु युग की पत्रिकाएँ वहाँ पर पड़ी रहती थीं । मैं छुट्टियों में वहीं जाता और कौतुकवश इनका अवलोकन करता । धीरे-धीरे मेरा व्यसन ही यह बन गया और जब मैं हाईस्कूल में था तभी से मैं निबन्ध, कहानी और कविता आदि लिखने लगा । मैंने इंटरमीडिएट तक हिन्दी औपचारिक रूप से पढ़ी पर हिन्दी पुस्तकों को पढ़ने और खरीदकर पढ़ने का चाव बढ़ता ही गया । मुझे पूज्य पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा उपहासदंश तो नहीं मिला, संस्कृत हिन्दी दोनों के अध्यापक कुछ-न-कुछ अनखाव जरूर रखते रहे । मैंने इस अनखाव का कुछ भी बुरा न माना और उसका कुछ-न-कुछ मजा ही लेता रहा हूँ । मैंने हिन्दी को जीविका का साधन नहीं बनाया । मेरा कर्मक्षेत्र संस्कृत था और भावक्षेत्र हिन्दी, इसलिए दोनों स्थितियों में किसी संघर्ष की संभावना नहीं थी । मुझे हिन्दी के लेखकों का और बड़े लेखकों का स्नेह प्रारम्भ से ही मिला और इसमें अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूँ कि स्व. अज्ञेय जैसे शीर्षस्थ लेखक ने मेरी रचनाएँ 'प्रतीक' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में पहली बारी छापीं और पहला संग्रह श्रीपत राय ने बडे प्रेम और सुरुचि से स्वयं कहकर लिया और प्रकाशित किया । इसके बाद तो कभी भी मुझे प्रकाशन के लिए किसी के आगे हाथ पसारना नहीं पड़ा । मुझे बहुत से लेखकों और मर्मज्ञ आलोचकों ने व्यक्तिगत रूप से जानने के पहले रचना के माध्यम से ही जाना और आगे उनका स्नेह बहुत प्रगाढ़ रूप में मिला । स्व. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं. नलिन विलोचन शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय,

वियोगी हरि, राजर्षी पुरुषोत्तमदास टण्डन, कृष्णदेव प्रसाद गौड, पं. श्री नारायण चतुर्वेदी, बलभद्र प्रसाद मिश्र, पं. रामबहोरी शुक्ल, विजयेन्द्र स्नातक आदि लोगों ने निरंतर प्रोत्साहन दिया । इन अग्रजों का मैं बहुत ऋणी हूँ । मेरी सिर्फ दो-तीन रचनाओं पर इन गुरुजनों मे से पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री अज्ञेय जी और पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने भूमिका लिखी है और मन से लिखी है । मैंने इनकी अनुशंसा प्राप्त करने के बाद इसकी आवश्यकता ही नहीं महसूस की कि मैं फिर किसी से अनुशंसा प्राप्त करूँ, इन अग्रजों के स्नेह के कारण आलोचकों के यहाँ चर्चित न होने की मुझे कोई विशेष यंत्रणा नहीं हुई । कभी-कभी चिकोटी काटने पर जैसा उद्वेग होता है वैसा हुआ । पर वह क्षणिक रहा ।''[12]

इस प्रकार विद्यानिवास मिश्र को एक निबन्धकार के रूप में ख्याति मिलने लगी थी । इन्होंने प्रारम्भ से ही विविध विषयों को चुना और उस पर अपनी लेखनी चलाई । वस्तुतः मिश्रजी शब्दकोशकार, समीक्षक भाषावैज्ञानिक, अनुवादक एवं सफल कवि रहे हैं परंतु मिश्रजी ने जिन विशिष्टताओं से प्रेरित होकर निबन्ध विधा को ही अपना भाव क्षेत्र बना दिया उन विशिष्टताओं पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं - ''निबन्ध विधा दो कारणों से मेरी अपनी विशिष्ट विधा बनी । एक तो इसमें किसिम-किसिम की गूँजों-अनुगूँजों को संश्लिष्ट करने की संभावना दिखी, कविता की अपेक्षा इसमें लोकजीवन में रमनेवाली प्रवृत्ति के लिए अनुकूल अवसर था । दूसरा कारण यह था कि बचपन से ही मुझे गद्य काव्य की कसौटी होने के कारण लेखन की चुनौती जैसा लगा । बाणभट्ट और दण्डी जैसे संस्कृत लेखक और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, माधव प्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, रघुवीर सिंह वियोगी हरि, राय कृष्णदास, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय जैसे हिन्दी के वरेण्य लेखकों का गद्य मुझे आकृष्ट करता रहा । बंगाल के प्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचना, कमलाकान्तैर दप्तर, रवींद्रनाथ ठाकुर की साहित्य चर्चा संबंधी रचनाएँ मुझे बहुत भायीं, अंग्रेजी के व्यक्तिव्यंजक रचनाकारों में राबर्ट लुईस स्टिवेंशन, थामस डिकेंसी, विलियम हैजलिट जैसे रचनाकारों की रम्य रचनाओं ने और मांटेन तथा कुछ अन्य ने भी अपनी रचनाओं से मुझे अत्यधिक आकृष्ट किया । लोक साहित्य के साथ जुड़ाव मुझे भाषा शैली में तत्संगबहुल होने से बराबर रोका । इस कारण

मैं निबन्ध रचना के माध्यम से अपने को पहचानने की कोशिश करने में सार्थकता पाने लगा ।''[13]

इस प्रकार मिश्रजी ने लेखनी का प्रयोग अधिकाधिक रूप से निबन्ध रचना में ही किया । साहित्य लेखन की प्रवृत्ति तो मिश्रजी को स्वभावतः हुई, इसके पीछे आजीविका की भावना नहीं थी इस संबन्ध में वे स्वयं लिखते हैं - ''मैंने साहित्य को व्यवसाय के रूप में नहीं लिया बचपन से ही मुझे अच्छी भाषा का संस्कार प्राप्त करने की रुचि थी और वस्तुओं को बारीकी से देखने में रुचि थी । बचपन से किताबों का कीड़ा रहा । इन सबके कारण निबन्ध और विशेषरूप से ऐसा आत्मपरक निबंध जिसमें पुस्तकीय मन और जगत् दोनों का उपयोग होता है, अपनी अभिव्यक्ति का अपना सहज माध्यम लगा । कविताएँ भी लिखी पर अधिकतर वो कुछ दूसरी कविता से अभिभूत होकर ही लिखी, कुछ बड़ी गहरी परेशानी में लिखी, आलोचना भी लिखी पर अधिकतर आस्वाद परक आलोचना लिखी ।''[14]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि मिश्रजी निबंध के साथ-साथ कविताएँ भी लिखते थे । समय के साथ-साथ इनकी लेखन क्षमता निखरती गई ।

प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. करने के पश्चात् विद्यानिवास मिश्र स्व. राहुल सांस्कृत्यायन के निर्देशन में हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कोशकार्य करने लगे, जहाँ किताबी दुनिया में डूबकर साहित्यिक गतिविधियों की शुरुआत की । यहीं पर वे हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में मूर्धन्य स्थान पर सुशोभित राजर्षि टंडन गुरुवर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, अज्ञेय, स्व. नवीन जी और तेज बहादुर प्रभू आदि लेखकों के संपर्क में आए । श्रीनारायण चतुर्वेदीजी की प्रेरणा से इन्हें विन्ध्य प्रदेश शासन के सूचना विभाग में सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ । उस समय बुंदेलखंड और बघेलखंड की रियासतों में हिंदी का वातावरण कुछ अधिक सहज बना हुआ था । इन रियासतों में हिंदी साहित्यकारों की बड़ी प्रतिष्ठा थी । इसीलिए यहाँ पर अपने आप साहित्यिक वातावरण बना । इस साहित्यिक परिवेश में रहकर मिश्रजी ने नागार्जुन के साथ भारतीय संविधान का हिंदी अनुवाद किया । विंध्य प्रदेश की इकाई बनने पर हिंदी साहित्य सम्मेलन स्थापित हुआ साथ ही विंध्यप्रदेश संस्कृत परिषद भी स्थापित

हुई । इन दोनों संस्थाओं के सम्पर्क में रहकर मिश्रजी ने इसी समय शासन शब्द कोश सिद्ध किया । वस्तुतः मिश्रजी सरकारी नौकरी केलिए विंध्य-प्रदेश में गये परन्तु वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होकर जंगलों, खंडहरों और झरनों-नदियों के मुखर सन्नाटों से मित्रता पाकर अत्यन्त आत्मीय बनगयें । इस आत्मीयता के संबन्ध में 'यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवों मे' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं- "विंध्य प्रदेश में 1952 से 1956 तक रहा । गया तो मन में कचोट थी कि नौकरी केलिए बारह वर्ष अपने घर जैसे प्रयाग से निर्वासित हो रहा हूँ और विद्या के क्षेत्र से निर्वासित होकर सरकारी नौकरी का वनवास स्वीकार कर रहा हूँ । पर चार-पाँच वर्ष में ऐसा हो गया कि विंध्य प्रदेश घर से भी अधिक अपना हो गया। वन का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है उस में रम जायं तो गृहस्थी का सुख ही कुछ जूठा लगता है और अगर कहीं गृहस्थी का सही माने में एकांत सुख वन में मिल जायं तो फिर बात ही क्या?"[1]

उपर्युक्त कथन से यह विदित होता है कि मिश्रजी विन्ध्य प्रदेश में सरकार के प्रचार साधनों का संगठन करने गये थे परंतु वहाँ की कलासमृद्धि और साहित्यिक जीवन्तता से चुंबकित हो गये ।

रीवा से स्थानांतरण होकर लखनइऊ में आ गये लेकिन लखनऊ में ज्यादा दिन नहीं रहे । फिर से शिक्षा क्षेत्र में पादार्पण कर गोरखपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करते रहे । इसी बीच सन् 1960 से 1961 तक बर्कले विश्वविद्यालय में तथा 1967 से 1968 तक सियेटेल विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापक के रूप में सेवा की । सियेटेल से वाराणसी में आ गये । सन् 1977 तक संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत एवं 1984 तक आगरा विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान का अध्यापन कार्य करते रहे । कुछ समय तक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिंदी विद्यापीठ के निदेशक पद को सुशोभित करने के साथ-साथ काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापक के रूप में भी कार्य करते रहे । उसके पश्चात् सन् 1992 तक क्रमशः सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय एवं काशी विद्यपीठ के कुलपति रहे । सन् 1992 से लेकर 1994 तक 'नवभारत टाइम्स' के प्रधान संपादक के रूप में कार्य करते

रहे । इसी दौरान इन्होंने उस समाचार पत्र को काफी लोकप्रिय बनाया । मिश्रजी प्रत्येक रविवार को किसी न किसी विषय पर अपना निबंध भी देते थे जिसे कि लोग बड़े भाव से पढ़ते थे । मिश्रजी ने 'नवभारत टाइम्स' को लोकप्रिय बनाने के साथ-साथ उसे गरिमा भी प्रदान की । इससे उनके साहित्यकार एवं पत्रकार की प्रतिभा का समन्वयात्मक स्वरूप दिखाई देता है । संप्रति 'साहित्य अमृत' नामक साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन कार्य कर रहे हैं साथ-ही-साथ देश-विदेशों में आयोजित होनेवाली संगोष्ठियाँ एवं व्याख्यानों में भी सक्रिय भाग ले रहे हैं ।

सम्मान एवं पुरस्कार

विद्यानिवास मिश्र के साहित्यिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने सन् 1988 में 'पद्मश्री' और 1999 में 'पद्मविभूषण' पुरस्कार से पुरस्कृत किया । अमेरिका तथा युरोप में आयोजित अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अनेक बार सम्मानित हुए । मिश्रजी की शास्त्रीय एवं समीक्षात्मक कृति 'महाभारत का कव्यार्थ' को सन् 1990 में अर्थात् विक्रम सं.2047 के कार्तिक शुद्ध पंचमी के दिन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा मूर्तिदेवी पुरस्कार प्राप्त हुआ । इस सम्मान की स्वीकृती करते हुए मिश्रजी सहृदय समाज के आगे अपना आत्मनिवेदन करते हैं - "मैं मूर्तिदेवी पुरस्कार के निर्णेताओं और न्यासधारियों का हृदय से आभार मानता हूँ कि उन्होंने इस सम्मान के साथ-साथ इतने बड़े सहृदय समाज के आगे आत्मनिवेदन का अवसर दिया । सहृदय ही साहित्यकार को पूरी मंजूरी देता है, क्योंकि रचना हृदय से हृदय को संबोधित होती है और संबोधित होते ही यदि दोनों के तार क्षणभर को मिल जाएँ तो रचना कृतकार्य हो जाती है ।"[16]

हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का प्रतीक पुरूष मानते हुए मिश्रजी को केशव पुरस्कार, संस्कृत अकादमी का विश्वभारती पुरस्कार, बिडाला संस्थान का शंकर पुरस्कार आदि अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत किया गया है । सितंबर 1997 को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने हिन्दी दिवस के अवसर पर मिश्रजी को दो लाख 52 हजार रूपये के सर्वोच्च भारत-भारती पुरस्कार से सम्मानित किया ।

यात्रा वर्णन

विद्यानिवास मिश्र ऊँचे चरित्र, उत्साह, कार्य-शक्ति और शैक्षणिक योग्यता से संप्पन्न व्यक्ति हैं । इनकी उपलब्धियों की चर्चा संक्षिप्त प्रमाण पत्र में करना कठिन है, इस देश के कोने-कोने में तथा अन्य देशों के विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं में जाकर उन्होंने व्याख्यान दिये हैं । कुल ले देकर वे असाधारण क्षमता और निष्ठावाले शिक्षाविद हैं जिनकी शैक्षणिक सेवा की मूल्यवत्ता अपने भारत देशवासी अवश्य समझेंगे । यात्राएँ उनके जीवन में दुर्निवार बन गयी है । हर यात्रा उन्हें एक नई आत्मीयता जोड़ती है और आत्म का नया विस्तार और नया परिष्कार करती है । बदरी-केदार से लेकर कन्याकुमारी तक की यात्रा उन्होंने की । जब गढ़वाल विश्वविद्यालय के कला संकाय की बैठक में ठाकुर गुरूप्रसाद से निमंत्रण आया तो उसी बहाने बदरी और केदार का दर्शन भी किया । दक्षिण में कोचीन विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने आयोजित 'सूरपंचशती' आयोजन में बड़े आग्रह से जब बुलाया था तब कन्याकुमारी तक की यात्रा भी की । इस यात्रा के संबन्ध में वे लिखते हैं- "मैं न सैलानी हूँ न तीर्थयात्री । मुझे न यात्रा वर्णन का ढंग आता है, न वस्तु निरीक्षण कर पाता हूँ, न नोटबुक भरता चलता हूँ और तीर्थ की महिमा से मण्डित भी नहीं हो पाता । तीर्थ माहात्म्य जाने क्रम से याद नहीं रहते, प्रत्येक तीर्थ के अनुष्ठान की मीमांसा की धार्मिक जागरूकता भी नहीं रख पाता । मैं बस बीच में टंगा रहता हूँ । न तीर्थयात्री की तरह धार में डूबते बनता है, न सैलानी की तरह भर आँख देखते बनता है । देखता भी हूँ तो उसे टोक नहीं पाता हूँ, खुद ही उस दृश्य में टंक जाता हूँ । डूबते हुए भय लगता है कि कहीं दृश्य हाथ से न निकल जाये और डूबना नहीं होता । यात्रा पूरी हुई होती तो यात्रा का वर्णन सिलसिले से लिखता । यात्रा भी अभी लगता है, हो ही रही है । कई दिन बीत गये, पर कोई रात नहीं जाती जब यात्रा सपनों में लौट नहीं आती है । मैं यात्रा की बात क्या करूँ, अभी तो यात्रा शुरू ही नहीं हुई ।"[17]

गोवा की यात्रा

सन् 1992 में मिश्रजी का आगमन गोवा में राष्ट्रभाषा हिन्दी के अधिवेशन के उद्घाटन के संदर्भ में हुआ । मिश्रजी ने गोवा की समृद्धी, संस्कृति परंपरा और यहाँ की नैसर्गिक -

सुषमा का भरपूर अवलोकन किया । इसी दौरान वे यहाँ के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री रवींद्र केलेकर जी से भी मिले। गोवा से दिल्ली जाने के बाद उन्होंने गोवा प्रवास के दौरान अपनी अनुभूतियों को "गोवा की हरी-नीली पट्टी" नामक लेख में व्यक्त किया जो कि नवभारत टाइम्स में 10 अक्तूबर 1993 में प्रकाशित किया । गोवा के संबंध में उनकी अनुभूतियाँ इस प्रकार है कि यहाँ के लोग जीवन को सहज ढ़ंग से जीनेवाले लोग हैं । जनता तो इतमीनानी जनता है साथ ही बड़ी श्रद्धालू हैं । आमोद-प्रमोद यहाँ के जीवन का अंग है । काजू के फल से बनी हुई फेनी नाम की शराब के प्रति अधिक निष्ठा रखते हैं । समुद्री हवाओं की थपकी यहाँ के लोगों के आलसी भाव को जगाती है और लोग भी तिपहरी की नींद लेने के अभ्यासी हो गये हैं ।

मिश्रजी ने अनेक बार विदेशों की यात्राएँ की । सबसे पहले बर्कले और सियेटेल गये थे । उनके निबंधों में चीड़, देवदार, यूकेलिप्टस के साथ-साथ कविता, संगीत, नाट्य और प्रशान्त महासागर की सलोनी गन्ध से सुवासित इस बर्कले नगर का सुन्दर वर्णन है । साथ साथ सियेटेल के बुरूँश वन की लहकी हुई लाली और एज़ीलिया की छिटकी हुई फूल झड़ी की रमणीयता का आस्वादन भी कर सकते हैं । कालांतर में रोम एवं वियाना होते हुए बुखारेस्त विश्वविद्यालय में गये थे । समय आने पर बैंकॉक, वियतनाम और हनोई की यात्राएँ भी की । इन सब का विस्तृत विवरण हमें तीन नदियाँ तीन देश नामक निबन्ध में मिलता है । भारतीय सांस्कृतिक संपर्क परिषद् ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की सांस्कृतिक यात्रा केलिए व्यवस्था की थी । इस यात्रा के दौरान मलयेशिया, सिंगापुर और हिन्देशिया को देखने और वहाँ के संस्कृति को समझने केलिए मिश्रजी को सुअवसर प्राप्त हुआ था । इसका वर्णन उनका 'सागर घेरे विशाल' नामक निबन्ध में मिलता है ।

विश्व संस्कृत सम्मेलन का छठाँ अधिवेशन में भाग-ग्रहण करने हेतु मिश्रजी को उत्तरी अमेरिका के फिलाडेल्फिया नगर में जाना पड़ा । 'यात्रा रास्ते की नहीं यात्री का पहचान' नामक निबन्ध में इस यात्रा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । 'चलन चहत रघुरैया' नामक निबन्ध से विदित होता है कि मिश्रजी ने कनाडा एवं पश्चिमी जर्मनी के फ्रंकफर्ट का भी भ्रमण किया । मिश्रजी ने 'हाँगकाँग' यात्रा के अनुभवों को 'काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी' नामक निबन्ध के द्वारा पाठकों के सम्मुख रखा है ।

इस प्रकार मिश्रजी देश-विदेशों के विविध भागों पर भ्रमण करते रहते हैं । इन यात्राओं में अनुभूत अनुभवों का सजीव चित्रण को निबन्धों के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखते हैं । पाठक भी उन निबधों को पढ़ते-पढ़ते मानसिक रूप से विचरण करने लगता है ।

खंड - ख

व्यक्तित्व

भौगोलिक दृष्टि से विद्यानिवास मिश्रजी का जन्म भारत के पूर्वी भाग में हुआ हे लेकिन उनके मन में समस्त भारत वर्ष की खास करके गोरखपुर, बनारस, विन्ध्याचल, वृन्दावन, प्रयाग एवं लखनऊ की मनोरम स्मृतियाँ प्रवाहित होती रहती है । मिश्रजी के अन्तश्चक्षु कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि के भव्य विभूतियों की महिम झलकियों में रमे हुए हैं । ये संस्कार इनके लेखन क्षमता की अनुभूति ओर अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं ।

बाह्य पक्ष

वेश-भूषा: गोरा रंग, लम्बाई पाँच फुट सात इंच । सामान्य शरीर जो अब दुर्बल हो चला है बड़ी बड़ी आँखें जो व्यख्यान देते समय प्रदीप्त हो उठती है, ललकार भरी बुलन्द आवाज़, तेज चाल और क्षिप्र क्षिप्रबुद्धि से यह प्रतीत होता है कि मिश्रजी का व्यक्तित्व पर्याप्त आकर्षक एवं प्रभविष्णुता से पूर्ण है ।

भाल पर स्थित चन्दन, चोटी की सहेजी हुई ग्रन्थी भारतीय परिधान धोती-कुर्ता, काष्ठ की चरण पादुकाएँ आदि इनके बाह्य रूप रंग में वैयक्तिक समस्त विशिष्टताएँ प्रतिबिंबित हो रही है । इस प्रकार वे अतीतकाल के मनीषियों के शारीरिक सौष्ठव की ओर हमारी दृष्टि को आकर्षित करते हैं । इनका व्यक्तित्व किसी को निराशा करता नहीं बल्की प्रेरणादायक है ।

आंतरिक पक्ष

स्वभाव: सहज रूप से मिश्रजी अत्यंत विनयशील हैं । वे स्वयं हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य के महान् लेखक एवं जन मानस के नेता होते हुए भी अपने से अधिक मान्य व्यक्तियों के ही नहीं, अपितु अपने समीक्षकों एवं पाठकों के साथ भी आदर का व्यवहार करते हैं । विनम्रता का परिचय देते हैं । न केवल साहित्य बल्कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी वे नव

पीढ़ियों की भावनाओं का ध्यान रखते हैं । अपनी बुजुर्गीपन दिखाकर अन्यों को उपदेश देने की प्रवृत्ति उनकी नहीं है । वे किसी भी काम या समस्या को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते । प्रशंसा करने में वे उन्मुक्त हैं परंतु अपनी निन्दा या स्तुति उन्हें सह्य नहीं हैं । परोपकारी हैं, औढ़रदानी वृत्ति केलिए प्रसिद्ध हैं । इसीलिए वे सदा व्यस्त रहनेवाले व्यक्ति हैं । आवश्यकता के अनुसार समाज के अन्य सदस्यों से उचित संबंध स्थापित करने का बराबर ख्याल रखते हैं ।

संस्कार: मिश्रजी भारतीय जनजीवन और भारतीय संस्कृति की परंपरा के उन्नायक हैं । माताजी के विशेष संस्कार से लोक भाषा और लोक संस्कृति के अध्ययन में विशेष अभिरुचि रही । पिताजी और पितृव्यों से मिश्रजी ने शास्त्रों, पुराणों और सभी प्रकार के दर्शनों का भी अध्ययन किया है । इस संस्कार के प्रभाव से ही वे भारतयि संस्कृति को आधुनिक संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं । भावनापूर्ण हृदय होने के कारण छोटे-छोटे विषयों में भी भारतीय संस्कृति की झलक दिखाई देती है । ईश्वर में अगाध विश्वास होने के कारण मानव को भीतर से ईश्वरत्व को तलाशने की प्रेरणा देते हैं । मिश्रजी का घर का वातावरण पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण इन्हें अध्ययन में गहरी रुचि होती गई । अध्ययन जब लेखन में परिवर्तित हुआ तो वह ज्ञान गरिमा के बोझ से दब गया । अंततोगत्वा किसी भी विषय की प्रस्तुति में अनेकानेक विषयों का संगुम्फन तारतम्य विहीन सा हो जाता है । इनके निबंधों में भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति से संबंधित विचारों का सम्मिश्रण है परन्तु मिश्रजी के ऊपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव नहीं है । इस विवेचन से यह सिद्ध होता है, जिस वातावरण में साँस लेकर पढ़ता है वह वातावरण और वे संस्कार उसके भावों और संदेशों के निश्चय करते हैं । यह लेखक विद्यानिवास मिश्रजी के संबन्ध में भी अक्षरशः सत्य प्रामाणित सिद्ध होता है ।

रुचियाँ: सामान्यतः लेखकों की विशिष्ट आदतें होती है । इस में मिश्रजी भी विभिन्न नहीं है । उन्हें ताम्बूल प्रिय है । वे ताम्बूल का सेवन नियमित रूप से करते हैं । यह उनकी प्रेरणा का आवश्यक अंग है । इसकी अनुपस्थिति में उनका मस्तिष्क स्वाधीन परिस्थिति को

प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है । तांबूल की प्रशंसा करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं । फूलों में उन्हें बेला प्रिय है । उनके कमरे में एक प्लेट में रखे हुए बेले के फूलों की महक हमेशा व्याप्त रहती हे । फोन वे स्वयं रिसीव करते हैं । प्रायः प्रातः पाँच बजे से रात में दस-ग्यारह बजे तक लोग मिलने आते हैं । मिश्रजी प्रातः लगभग एक घण्टा पूजा करते हैं । उसके बाद एक कॉफी, तब मिलना-जुलना कार्यालयीन कार्य आदि शुरु होते हैं । जीवन का अधिकांश समय यात्रा, किसी न किसी सभा, सम्मेलन, गोष्ठी, उत्सव, उद्घाटन आदि कार्यक्रमों में ही बीतता है । प्रतिदिन दिन में सादा भोजन और रात को फलाहार करते हैं, मगर प्रवास के दिनों में सूखे मेवे और फल से ही काम चला लेते हैं ।

अनेक बार विदेशों में हो आने के पश्चात् भी वे पाश्चात्य संस्कृति को महत्व नहीं देते हैं । यह उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता, संस्कारों की पटुता तथा स्वभाव की नैसर्गिक सरलता का परिचायक है ।

मिश्रजी संस्कृत भाषा के उद्भट विद्वान हैं प्रत्येक विषय को पैनी दृष्टि से देखकर उसकी नाप-झोक कर लेते हैं । इसीलिए वे एक स्वतन्त्र और मौलिक चिंतक के रूप में पाठकों के सामने आ जाते हैं ।

प्रध्यापकीय एवं प्रशासकीय गुण

विद्यानिवास मिश्रजी की ख्याति न केवल निबन्धकार के रूप में है परन्तु वे एक समर्थ एवं सुविख्यात प्राध्यापक भी रहे । गोरखपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत का, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत एवं आगरा विश्वविदायलय में भाषाविज्ञान का अध्यापन बड़ी योग्यतापूर्वक किया । यदा-कदा बर्कले विश्वविद्यालय, सियेटेला विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी अतिथि अध्यापक के रूप में अपना कार्य सुचारु ढंग से निभाया । आप एक श्रेष्ठ व्याख्याता होने के कारण छात्रों के पढ़ाने में इतनी रुचि थी कि आप लगातार दो-दो या तीन-तीन घण्टे पढ़ाते ही रहते । कब घण्टी बजती इसका ख्याल आपके साथ-साथ छात्रों को भी नहीं रहता । आपके इस प्रभावपूर्ण एवं पाण्डित्यपूर्ण अध्यापन के संबन्ध में डॉ. सुरेश गुप्ता लिखते हैं - "संस्कृत भाषा और भाषाविज्ञान पर आपका असाधारण अधिकार है । आपके बढ़े रोचक ढंग से पढ़ाने से तथा पाण्डित्य से छात्र गण बड़े प्रभावित रहते हैं ।"[18]

इस बात से यह विदित होता है कि आप एक श्रेष्ठ एवं विख्यात तथा छात्रप्रिय प्रध्यापक रहे ।

प्रशासकीय गुण

मिश्रजी का व्यक्तित्व बहु आयामी है । इन्होने ऊँचे प्रशासकीय दायित्व और रचना धर्म का निर्वाह समान रूप से किया । इनकी सृजनशील यात्रा प्रशासकीय पदोन्नति से अप्रभावित रही है । जब ये विन्ध्य प्रदेश में सूचना एवं प्रसारण विभाग में अधिकारी रहे तभी भी अपनी योग्यता एवं निजी अनुभव के आधार से श्रेष्ठ प्रशासनाधिकारी के रूप में लोगों से जाने गयें ।

विभिन्न विद्यापीठों ने मिश्रजी को निदेशक और ऊँचे प्रशासनाधिकारी के रूप में सम्मानित किया है । इस समय में यह प्रशासकीय दायित्व की कठोरता ने उनकी रचना धर्मिता को बराबर उद्वेलित किया है । वे समझते है, किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची । वे प्रशासन में कल्पनाशीलता को महत्व देते रहे इसीलिए कठिन परिश्रम भी करना पड़ा और विरोध भी झेलना पड़ा । संस्कृत के उन्नति तथा संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रगति हेतु कुछ समय तक वे निःशुल्क काम करते रहे । राजनीति के विषम चक्रव्यूह से बाहर निकलने के बाद ही इन्होंने वेतन लिया । इनके साथ काम करनेवाले लोग भी इनसे व्यक्तिगत रूप से ऐसे जुड़ गये हैं कि उन पदों से अलग हो जाने पर भी उतने ही नहीं बल्कि उससे अधिक आत्मीय बने हुए हैं । यह उनके प्रशासकीय गुण की सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

संपादन और पत्रकारिता

मिश्रजी संस्कृत, प्राकृत, पाली, हिन्दी, अपभ्रंश, बंगाली, इंगलिश आदि भाषाओं के प्रकांड विद्वान हैं साथ ही श्रेष्ट इतिहासविद भी हैं अतः इन्होंने लगभग तेईस ग्रन्थों का सम्पादन किया जिनका नामोलेल्ख इसी अध्याय के 'ग' खण्ड में किया गया है । सम्पादन केलिए आवश्यक विषयज्ञान, शब्दभण्डार, अनुसन्धानात्मक दृष्टि, भाषा प्रभुत्व आदि गुण मिश्रजी के पास विद्यमान होने के कारण वे एक समर्थ एवं निष्ठावान् सम्पादक के रूप में प्रख्यात हुए । मिश्रजी के सम्पादकीय स्वरूप को देखकर उनकी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए डॉ. सुरेश गुप्ता

लिखते हैं - ''इस स्वरूप में इन्होंने एक नहीं अनेक कोशों का संपादन किया है । इसमें से प्रमुख हैं - शासन शब्द कोश, दर्शन शब्दकोश, भाषाविज्ञान शब्दकोश । इन कोशों के सम्पादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रकार के भाषायी प्रयोगों में इन्हें महारस हासिल है । इनके भाषायी तकनीकी ज्ञान का परिचय भी इस संपादकीय स्वरूप से स्पष्ट हो जाता है । कोष का निर्माण और संपादन वास्तव में एक बड़ा ही दुष्कर एवं जोखिम का कार्य माना जाता है, पर मिश्रजी ने इन जोखिम भरी चुनौतियों को स्वीकार कर अपनी निर्माणी ओर कारयित्री प्रतिभा का जो परिचय दिया है, वह निश्चय ही अजोड़ अपनी किस्म का एक एवं प्रशस्य है ।''[19]

इस बात से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रजी एक समर्थ एवं प्रतिभाशाली सम्पादक रहे । मिश्रजी की ख्याति न केवल सम्पादन में या निबन्ध लेखन में है । वे एक दक्ष एवं सफल पत्रकार भी हैं । नवभारत टाइम्स, साहित्य अमृत आदि पत्र-पत्रिकाएँ इस बात केलिए प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । 'साहित्य-अमृत' पत्रिका में मिश्रजी का सम्पादकीय उत्प्रेरण का सामर्थ्य रखता है । आज के पाठक विहीन और स्तरीयता के अधोमुखी जग में मिश्रजी के द्वारा संपादित होनेवाली 'साहित्य-अमृत' पत्रिका निस्सन्देह पुनर्जागरण का वाहक है जो साहित्य केलिए ही समर्पित पत्रिका है । इस से मिश्रजी के पत्रकारिता का गुण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।

खण्ड - ग

साहित्य सृजन एवं लेखकीय यात्रा

हिन्दी साहित्य में मिश्रजी का एक विशिष्ट स्थान है । वे अपनी विद्वत्ता और कारयित्री प्रतिभा से हिन्दी निबन्ध साहित्य में एक मानदण्ड स्थापित किया । विभिन्न विषयों पर गहन एवं गम्भीरता से अपनी कलम चलाई । वे एक श्रेष्ठ निबन्धकार के साथ-साथ भाषाविज्ञानी, कवि, कोशकार एवं सफल अनुवादक भी हैं । मिश्रजी का साहित्य संसार एक वट वृक्ष है जो विस्तृत एवं विशाल है । इस खण्ड में समय-समय पर प्रकाशित उनके कृतियों का नामोल्लेख किया गया है, साथ ही अध्ययन की सुविधा केलिए संग्रहों में संकलित एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों का नाम निर्देश भी किया गया है ।

निबन्ध संग्रह

		प्रकाशन वर्ष
1	छितवन की छाँह	1952
2	कदम की फूली डाल	1955
3	तुम चन्दन हम पानी	1956
4	आँगन का पंछी और बनजारा मन	1963
5	मैने सिल पहुँचाई	1966
6	भोर का आवाहन	1969
7	वसन्त आगया पर कोई उत्कण्ठा नहीं	1970
8	मेरे निबन्ध मेरी पसन्द की	1974
9	कंटीले तारों के आर-पार	1976
10	कौन तू फुलवा बीननि हारी	1980
11	अस्मता केलिए	1981
12	भ्रमरानन्द के पत्र	1981
13	तमाल के झरोखे से	1981
14	परम्परा बन्धन नहीं	1981
15	संचारिणी	1982
16	साहित्य का प्रयोजन	1983
17	अंगद की नियति	1984
18	गाँव का मन	1985
19	अग्निरथ	1985
20	महाभारत का काव्यार्थ	1985
21	लागौ रंग हरी	1985
22	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	1986
23	साहित्य की चेतना	1987

24	शेफाली झर रही है	1987
25	नैरन्तर्य और चुनौती	1988
26	भारतीयता की पहचान	1989
27	सोऽहम्	1991
28	देश, धर्म और साहित्य	1992
29	नदी, नारी और संस्कृति	1993
30	बूंद मिले सागर में	1994
31	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है	1994
32	फागुन दुई रे दिना	1994
33	शिरीष की याद आई	1995
34	भारतीय चिन्तनधारा	1995
35	साहित्य का खुला आकाश	1996
36	सपने कहाँ गये	1997
37	पीपल के बहाने से	1994

कविता संग्रह

पानी की पुकार

नयी कविता की मुक्तधारा

अनुवाद ग्रन्थ

मोड़र्न हिन्दी पोयट्री

दि इण्डियन पोयटिक ट्रेडिशन

अमरु शतकम्

ध्वनि रूपक

पंचशर

सम्पादित ग्रन्थ

आज के लोकप्रिय कवि 'अज्ञेय'

सूर वाङ्मय सूची

श्याम सुन्दरदास निबन्धावली

भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका

रसखान रचनावली

तुलसी मंजरी

गति और रेखा

वैयाकरण भूषणम्

हिन्दी सेवा की संकल्पना

प्रौढ़ों का शब्द संसार

व्रज के लोक मंगल का संसार

चन्दन चौक

रहीम ग्रन्थावली

सत्यनारायण कविरत्न ग्रन्थावली

कबीर वचनामृत

देव की दीपाशिखा

स्तबक

वेदाख्यान कल्पद्रुम

संस्कृत साधना

आलम रचनावली

वेदार्थ मंजरी

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा स्मृति ग्रन्थ

आचार्य सारमूर्ति अभिनन्दन ग्रन्थ

शोधात्मक ग्रन्थ

हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज

दि इण्डियन क्रियेटिव माइण्ड

सहृदय

सम्प्रेषण और समाधान

रीति विज्ञान

भारतीय भाषा दर्शन की पीठिका

हिन्दी की शब्द सम्पदा

कोश साहित्य

शासन शब्दकोश

दर्शन शब्दकोश

भाषाविज्ञान शब्दकोश

साहित्यिक व्रजभाषा कोश

हिन्दू धर्म विश्वकोश

शोध प्रबन्ध

दि डिस्क्रिप्टिव टेक्निक ऑफ पाणिनी

'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित निबन्ध

नवरात्र

साहित्य और जीवन

सा विद्या या विमुक्तये

शान्ति की राजनीति

खेतिहरी की आँखों से

राम होने का अर्थ

भारतीयता की खोज: क्यों और कैसे

मानववाद और मानववाद

राम आज के सन्दर्भ में

हिंसा और अहिंसा

अहिंसा को जीना

हिन्दी और हिन्दी भाषी राज्य सरकारें

काल-बोध

देहाती दुनिया का संस्कारी पुरुष

सर्वं शब्देन भासते - वाक् की अवधारणा

गंगा किसकी

अर्थ और राजनीति

वन और वन का स्वभाव

हिन्दी भाषी क्षेत्र: दिये के नीचे अन्धेरा

माघ मेला के बहाने

सागर तट पर

हम भूगोल होगये हैं

बादलों के घर में

बीज में वृक्ष: वृक्ष में बीज

अधूरेपन से पूर्णता की ओर

फागुन दुइ रे दिना

हिमालय के पांवों पर झूलते हुए

हमारी भाषिक एकता

धर्म ही बलि का बकरा क्यों ?

भाषा और अस्मिता

साथ रहने का संस्कार

पीपल के बहाने

धर्म का बुनियादी सरोकार

दीपावली: अपने में पूर्ण प्रकाश का भाव

हम क्या हैं ?

रूढ़ियों का उपनिवेश

इतिहास एक है घण्टा घर

बस्तियाँ मलिन क्यों ?

भारत की विश्व छवि

राजनीति कितनी छाये ?

साहित्य की काल निचोड शक्ति

चुनाव की फसल

अपराजित जय

क्या पूरब - क्या पच्छिम

भारतीय मन का अकेलापन

राजनीतिक संस्कृति

हृदय कुंज में वापसी की प्रतीक्षा

साहित्य संस्कृति और लोक

राग-बोध (सौन्दर्य बोध)

नये वर्ष की पहचान

परिवार वर्ष

होली श्रीकृष्णमय आनन्दोत्सव

पहिया लो घूम गया

अल्पसंख्यक - बहुसंख्यक से हटकर

देश और महादेश (आकाश) शास्त्रों में

लोक और लोक गीत

वस्तुओं के बीच में वस्तुओं से परे

गनीमतों का साल

ऋषि आचार्य और गुरु

भारतीय संस्कृति और समन्वय

राम चर्चा में रहें

पूस की सूप पर धूप

जीवन का अर्थ मूल्य मीमांसा

देश-काल: लोक व्यवहार में

सांस्कृतिक पहचान और विकास: आमने-सामने

पुनि पुनि चन्दन पुनि पुनि पानी

काश खिल खिलाने लगे हैं

नदी नारी और संस्कृति

श्री वृन्दावन एक पलक लौं रहिए

गोवा की हरी नीली पट्टी

फिर से रोपना होगा गान्धीजी का वह पेड़

आज के दिन समय हमें अवकाश दो

अज्ञेय के आत्मबोध की यात्रा

संप्रदायों के बीच आपसी समझदारी

संस्कृति का हस्तक्षेप या संस्कृति में हस्तक्षेप

वाङ्मय मन्थन

'साहित्य अमृत' पत्रिका में प्रकाशित लेख

हिन्दी साहित्य का उदय	जनवरी 1997
मध्ययुगीन साहित्य: सामान्य अभिलक्षण	फरवरी 1997
भक्ति साहित्य का वर्गीकरण	मार्च 1997
पूर्व भक्ति युग: पुनश्चिन्तन	अप्रैल 1997
रामायण का काव्य मर्म	अप्रैल 1997

मध्ययुगीन काव्य की रसात्मकता	जुलाई 1997
स्वाधीनता का अर्थ	अगस्त 1997
भक्ति प्रबन्ध का नया उत्कर्ष - तुलसीदास	सितंबर 1997
भक्ति युग की परिधि	अक्तूबर 1997
उत्तर मध्ययुग की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नवम्बर 1997
उत्तर मध्ययुग की रसमयता	दिसंबर 1997
आधुनिक युग: प्रथम चरण	फरवरी 1998
वसंत का पट्ट	मार्च 1998
श्रद्धा और इड़ा के बीच	अप्रैल 1998
प्रयोग और प्रगति	मई 1998
साहित्य का संवाद अपेक्षित मात्रा में नहीं है	मई 1998
अपने समय का साहित्य	जून 1998
चर्चा समेटते हुए	जुलाई 1998
आहत पर अप्रतिहत हिन्दी	सितंबर 1998
कबीर, सूर और देव के बहाने	अक्तूबर 1998
रैदास, विद्यापति और तुलसीदास के व्याज से	नवम्बर 1998

विद्यानिवास मिश्रजी के इस साहित्य संसार को देखकर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट मानदंड स्थापित किया । वे एक प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ निबंधकार के साथ-साथ कवि, आलोचक तथा कोशकार के रूप में भी प्रख्यात हुए । इनके इस बहुरूपी व्यक्तित्व के बारे में डॉ.मु.ब.शहा अपना विचार लिखते हैं-''मिश्रजी आधुनिक हिंदी निबंध के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं । संस्कृत हिंदी अंग्रेजी के चोटी के विद्वान, इतिहास, पुरातत्व, पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति तथा भाषा शास्त्र के ज्ञाता मिश्र का व्यक्तित्व बहुरूपी है ।''[20] निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मिश्रजी के व्यक्तित्व उनके निबंधो में सर्वत्र दिखाई देता है ।

संदर्भ-ग्रंथ

1.	डॉ. विद्यानिवास मिश्र	तुम चंदन हम पानी पृ.169
2.	''	नैरंतर्य और चुनौती पृ.179
3.	डॉ. शिवप्रसाद सिंह	भोर का आवाहन (भूमिका)
4.	डॉ. विद्यानिवास मिश्र	तमाल के झरोखे से पृ.15
5.	डॉ. जगन्नाथ चौधरी	निबंधकार विद्यानिवास मिश्र पृ.13
6.	डॉ.विद्यानिवास मिश्र	तमाल के झरोखे से पृ.38
7.	''	'' पृ.37
8.	''	आंगन का पंछी और बनजारा मन पृ.14
9.	''	कौन तू फुलवा बीननि हारी पृ.8
10.	डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया	हिंदी साहित्य का नवीन विधाएं पृ.129
11.	डॉ. विद्यानिवास मिश्र	नैरंतर्य और चुनौती पृ.169
12.	''	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है पृ.110
13.	''	'' पृ.111
14.	''	नैरंतर्य और चुनौती पृ.169
15.	''	कौन तू फुलवा बीननि हारी पृ.69
16.	डॉ.विद्यानिवास मिश्र	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है पृ.104
17.	''	तमाल के झरोखे से पृ.94
18.	डॉ. सुरेश गुप्ता	श्रेष्ठ हिंदी निबंधकार पृ.164
19.	''	'' पृ.169
20.	डॉ.मु. ब. शाह	हिंदी निबंधों का शैलिगत अध्ययन पृ.479

पत्रिकाएँ

साहित्य अमृत

आजकल

मधुमती

नवभारत टाइम्स

द्वितीय अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के निबंध-साहित्य का परिचय

द्वितीय अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के निबंध-साहित्य का परिचय

खंड-क

विद्यानिवास मिश्र का वैयक्तिक जीवन, परिवेश एवं देश-काल उनकी रचनावों में किसी न किसी रूप में व्यक्त हुए हैं । जिसमें उनके जीवन दर्शन भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति, भाषा-प्रेम, राष्ट्र प्रेम, और लोकजीवन आदि के विविध रूप पाए जाते हैं । मिश्र ने हिन्दी जगत को अपने विपुल निबंध साहित्य से समृद्ध किया है और आज भी उसमें लगे हुए हैं । इनके सम्पूर्ण निबंध साहित्य का परिचय देना अपने आप में एक चुनौती भरा दुरूह कार्य होगा, इसलिए मैंने उनके निबंध साहित्य को विभिन्न वर्गों में विभाजित करके संक्षिप्त रूप में टिप्पणी की है । चूँकि मेरा शोधविषय उनके निबंध साहित्य का सांस्कृतिक अनुशीलन का है, इसलिए मैंने मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों का परिचय देने का प्रयास किया है ।

साहित्यिक निबंध

रचनाकार के अंतराल से उद्भूत रागानुरागमयी भावनावओं की अभिव्यंजना ही साहित्य है । लेखक के निजी जीवन में सुख-दुःख, आशा-निराशा, हास्य-रूदन आदि के घात-प्रतिघात से जो हृदय की संवेदना जाग्रत होती है वही वाणी का रूप लेकर साहित्य बन जाता है । 'सहित' शब्द से साहित्य बना है । 'सहित' के दो अर्थ हैं - पहला, जो हित के साथ हो वह सहित है और दूसरा अर्थ यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ मिलकर एकसाथ चलते है, जहाँ रचनाकार और पाठक साथ-साथ चलते हैं, जहाँ कवि का व्यक्तित्व उसकी समष्टि चेतना के साथ चलता है और जहाँ आज की रचना बीते कल की और आनेवाले कल की रचना के साथ चल सकती हो वह सहित है । इस प्रकार दोनों अर्थों में सहित होने का भाव स्पष्ट हो तभी 'साहित्य' कहलाता है । इसी भावना को मन में रखकर निबंधकार विद्यानिवास मिश्र ने कुछ साहित्यिक निबंधों की रचना की । यथा 'साहित्य की मेरी पहचान' नामक निबंध में मिश्रजी साहित्य के संबंध में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - "मैं साहित्य के इस औघड़ स्वभाव से बहुत उद्विग्न हूँ । यह भूत नहीं होता, पर सिर पर एक बार चढ़ जाये तो उतरता नहीं । कभी विसराये नहीं बिसरता । कभी बुझायें नहीं बुझता । वह

गालिब का इश्क है, आग है जो लगायें लगती नहीं और लग जाये तो बुझती नहीं । साहित्यकार होने का अर्थ है अपने किसी काम का न रहना, चलनी बन जाना, उसमें से आटा छनता रहे, उसमें से पानीदार पानी छनता रहे, पर खुद चलनी अपने लिए बेकार । इसी से साहित्य का सहृदय पथिक एक वो कोई होता नहीं, होता है तो घर-बार से बाहर हो जाता है । जाने कहाँ कहाँ का तो वह दर्द पालता है, जाने कहाँ - कहाँ का हो जाता है''।[1]

'नैरन्तर्य और चुनौती' नामक निबन्ध संग्रह के अंतर्गत 'साहित्य का अमृतत्त्व' शीर्षक निबन्ध में साहित्य का धर्म एवं उसका प्रयोजन के बारे में बतलाया गया है । तृप्ति में भी अतृप्ति को जगाना ही साहित्य का मुख्य धर्म मानते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''यह जो आकांक्षा या तृप्ति में भी अतृप्ति जगाना है यही साहित्य का मुख्य धर्म है । जहाँ कहीं यह नहीं है वहाँ कहीं सोई हुई है, जहाँ उसकी संभावना नहीं है, जहाँ संबंध बर्फ बन गये हैं वहाँ भी केवल एक छोटी सी सुई की नोक भर एक कोच देना जिसमें से बर्फ का कुछ भी पिघलाव न हो, केवल भीतर महसूस हो कि बर्फ टूट रही है और यह अनुभव हो कि बर्फ टूट सकती है । इस से ज्यादा साहित्य का कोई प्रयोजन नहीं होता ।''[2]

मिश्रजी एक श्रेष्ठ साहित्यकार होकर भी वे अपने को एक अच्छा पाठक मानते हैं । साहित्य उनके जीवन का हिस्सा बन गया है जो उन्हे चैन से रहने भी नहीं देता इस प्रकार साहित्य के साथ अपने संबंध की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं - ''मैं उन लोगों में नहीं हूँ । मैं साहित्य का पाठक मात्र हूँ । न विष्णुकांतजी की तरह साहित्य का पण्डित या व्याख्याता हूँ, न केदारभाई की तरह जन्मजात कवि हूँ । मैं साहित्य का पाठक हूँ और अपने को अच्छा पाठक मानता हूँ । मुझे यही लगता है कि साहित्य मेरे पीछे लगा हुआ है, साहित्य मुझे छोड़ने को तैयार नहीं है । साहित्य एक गूँज बनकर, जीवन का एक हिस्सा बनकर मेरे पास है, और वह साहित्य मुझे जीने नहीं देता चैन से नहीं रहने देता ।''[3]

साहित्य की वर्तमान दुरवस्था को देखते हुए उसके भविष्यत् के प्रति मिश्रजी काफ़ी चिंतित दिखाई देते हैं । जो साहित्य मानवता का मर्म है वही साहित्य मानुष सत्य का परिपन्थी भी है । इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान के साथ-साथ साहित्य का भी महत्व है इसका विवेचन

'साहित्य का भविष्यत् और भविष्यत् का साहित्य' नामक निबंध में किया गया है - ''साहित्य विज्ञान के अर्थ की तलाश में उसके साथ हो, विज्ञान की भाषा तो अलग रहेगी ही, विज्ञान भी अनुभव करें कि साहित्य के मूल्य कोई दूसरे नहीं है, ज्ञान का विस्तार अभिमान का चरम विस्तार नहीं, अभिमान का विसर्जन है, साहित्य का मूल्य भी अभिमान का विसर्जन ही है क्योंकि तभी वह मानव मात्र की मुक्ति की बात कर सकता है । साहित्य के भविष्यत् में इस प्रकार विज्ञान की भी भूमिका होगी ।''[4] विज्ञान और साहित्य से सम्बंध स्थापित करने में मिश्रजी इस बात को पुष्ट करते हुए लिखते हैं - ''विज्ञान और साहित्य में कोई विरोध नहीं है। केवल इतना है कि दोनों की शुरुआत अलग अलग बिन्दुओं से होती है । विज्ञान 'क्यों' से शुरु करता है साहित्य 'कौन' से, दोनों को जो उत्तर मिलते हैं वे एक यदि नहीं तो कम से कम समान तो हैं ही बल्कि उन दोनों उत्तरों को मिलाकर ही पूरा उत्तर मिलता है ।''[5]

मैंने यहाँ पर कतिपय निबंधों के माध्यम से मिश्रजी के साहित्यिक दृष्टि को जानने एवं समझने का प्रयास किया मिश्रजी ने साहित्य के अवधारणा को अपने ढंग से समसामयिक संदर्भों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है, जिस में कि उनकी परंपरावादी एवं भौतिकवादी दृष्टिकोण का समावेश हुआ है । मिश्रजी के सभी साहित्यिक निबंधों की चर्चा करना समीचीन नहीं होगा । इसलिए मैं उनके अन्य निबन्धों का उल्लेख मात्र करना चाहूँगा जिस में कि उनके साहित्य संबंधी विचार कूट-कूट कर भरे हुए हैं । यथा 'साहित्य और इतिहास' साहित्य की पहचान, साहित्य का समाजशास्त्र, भाषा साहित्य और भविष्यत्, भारतीय लोक साहित्य की पहचान, भाषा साहित्य मिथक और संस्कृति, साहित्य की चिन्ता, साहित्य और सर्व साधारण, साहित्य स्मृति और विस्मृति, साहित्य और जीवन, साहित्य के बारे में सोचें, साहित्य प्रयोजन की जिज्ञासा आदि उल्लेखनीय साहित्यिक निबन्ध हैं ।

सामाजिक निबंध

विद्यानिबास मिश्र समाज एवं साहित्य को समान महत्व देने में सदा जागरूक रहे रैं । उन की दृष्टि से समाज का अर्थ 'लोक' है । लोक का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, जो कुछ दिखता है, इन्द्रियगोचर है, प्रत्यक्ष है, सामने है । मिश्रजी का मानना है कि भाषा ही इस लोक या

समाज के समस्त व्यवहार का प्रकृष्ट साधन है, परिभाषित करनेवाला एक मुख्य अभिलक्षण है, साहित्य और समाज का सेतु है । इसी अवधारणा से मिश्रजी ने कुछ सामाजिक निबंथों का सर्जन किया है ।

'न पनिया का वह मामूल है' नामक सामाजिक निबंध में भारतीय समाज में मानव-मानव के बीच का जो रिश्ता विनष्ट होरहा है उस संबंध में अपना दुःखपूर्ण भाव प्रकट करते हुए लिखते हैं - 'हिन्दुस्तान के गंवई-गाँव में, समाज में हजार रिश्ते थे और सब अलग-अलग निभाये जाते थे और सभी अद्वितीय थे, क्योंकि सभी एक आदमी और एक आदमी के बीच बनते थे, भाई-बहन, ननद-भौजाई, देवर-भौजाई, भाई-भाई, देवरानी-जेठानी के बीच के रिश्ते अलग थे । आदमी इन विभिन्न रिश्तों में अपने विभिन्न प्रतिबिंब देखता था और सब रिश्तों को निभाकर ही अपनी पूरी पहचान करता था, पर शिक्षा के एक मानव मूल्य निरपेक्ष्य प्रवाह ने स्वार्थ की संकीर्णता ने और किसी भी मानवीय कीमत पर आगे बढ़ने के संकल्प ने मनुष्य को ऐसा खण्डित कर दिया है कि वह रिश्ता-विहीन होगया है ।''[6]

पश्चिमी संस्कृति के साथ भारतीय संस्कृति की तुलना करने में भी मिश्रजी मुक्तहस्त हैं । भारत के समाज की दुर्दशा को देखते हुए उसी में समाधन की बात भी 'काहे बिन सून अंगनवा' नामक निबंध में प्रस्तुत करते हैं - ''संयुक्त परिवार, शहरीकरण और उद्योगीकरण से भले ही टूट जाये, पर हिन्दुस्तान के सनातन हिन्दुस्तानी मन के पारिवारिक बोध में टूटन नहीं आयेगी । हम कितने भी शहरी क्यों न हो जायें अपने पड़ोसी के बच्चे केलिए ''हाइ जैक, हाइ गिल नहीं है । चाचा हैं चाची हैं । मित्र की पत्नी, मित्र उम्र में छोटे हुए तो बहू है, बड़े हुए तो भाभी है, सुन्दरी नहीं है, गर्ल नहीं है ।''[7] इस भारतीय समाज में सदृशता या समानरूपता का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है । स्तर-भेद, जाति-भेद आदि विभिन्न प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं । इन भेदों के बीच में ही मिश्रजी साहित्य के माध्यम से इस समाज को एकता के सूत्र में लाने की तलाश में है । 'हमारे सामाजिक परिवेश में एकता के सूत्र' नामक निबन्ध में मिश्रजी का कथन इस प्रकार है - ''स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उस नींव को जोड़ने की प्रतिज्ञा संविधान में की गई, पर इस सचाई से इनकार नहीं किया जा

सकता कि सामाजिक परिवेश में निहित एकता के सूत्रों को जोड़कर नींव को सुदृढ़ करने में अभी तक सफल नहीं हो पाये हैं । इसीलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि उन सूत्रों की फिर से तलाश करें ।"[8] साहित्य और समाज का सम्बंध स्थापित करते हुए मिश्रजी साहित्य का समाजशास्त्र नामक निबंध में लिखते हैं - "साहित्य समाज का भोज्य नहीं हैं, न वह समाज का भोक्ता ही है । वह समाज की रुचि का परिष्कार करनेवाला भी है और जो कुछ भी समाज का आस्वाद्य या भोज्य है, उस को एक मानवीय संवेदना से जोड़कर आस्वाद्य बनानेवाला है ।"[9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी के निबंध साहित्य में अनेक निबन्धों पर सामाजिक परिवेश की गहरी छाप पड़ी है । उनके कतिपय उत्कृष्ट सामाजिक निबंधों के नाम इस प्रकार हैं उन में 'भारती जय विजय करे, प्राण वाणी माँगता है, कौसानी के झरोखे से (अंगद की नियती नामक संग्रह से), धान-पान और नीली लपटें (गाँव का मन से), नर-नारायण (भ्रमरानन्द के पत्र से), अंग्रेजी के कारण सांस्कृतिक अवरोध क्यों? (वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं से) उल्लेखनीय हैं ।

उपर्युक्त सामाजिक निबंधों की विषय वस्तु के अलावा मिश्रजी ने भारत की प्राचीन परंपरा एवं अर्वाचीन सभ्यता में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों तथा उनकी समस्याओं पर गहन विवेचन किया है ।

धार्मिक निबंध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परंपरा में द्विवेदी जी के बाद भारतीय संस्कृति एवं धर्म के बारे में यदि किसी ने गहन विवेचन किया है तो वहाँ विद्यानिवास मिश्र का नाम उल्लेखनीय है । विभिन्न युगों के माध्यम से धर्म की अवधारणा एवं उनके स्वरूपगत विकास को इन्होने वैज्ञानिक ढंग से रेखांकित किया है । इस के साथ ही वे धर्म के माध्यम से स्वयं को समझने का प्रयास भी करते हैं । 'हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज' नामक शोधपूर्ण ग्रंथ में मिश्रजी ने केवल धार्मिक संबंधी विषयों की चर्चा की है । इन्होंने न केवल हिन्दू धर्म की चर्चा की है, किन्तु इसाई, बौद्ध, जैन, इस्लाम आदि धर्मों का भी तुलनात्मक विचार प्रस्तुत

किया है । अलग-अलग धर्मों की अभिन्नता पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं - "यदि हम व्यापक दृष्टि से विचार करें तो ऊपर से कुछ विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी वैदिक धर्म की मूल आत्मा गीता धर्म का मुख्य प्रतिपाद्य बुद्ध की शिक्षाओं में भी सुरक्षित हैं । जिस अष्टांगिक आर्य मार्ग का प्रतिपादन बुद्ध ने किया वह मनु द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा से कुछ अधिक भिन्न नहीं है, केवल इतना ही अंतर है कि बुद्ध ने ज्ञान और कर्म में विश्रृंखलता ही देखकर कर्मपर पुनः बल दिया, जिस प्रकार भगवान कृष्ण ने सांख्य और योग में असामंजस्य आते देखकर 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस बात पर विशेष आग्रह किया ।"[10]

मिश्रजी धर्म के अनेक रूपों पर चिन्तन करते हैं । ऋग्वेद का पुरुषसूक्त में जो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है उसी को धर्म की परिभाषा मानते हैं । उनके मतानुसार - "देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया वही प्रथम धर्म हुआ । 'यज्ञेन यज्ञमयजंत देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । तेह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥' सीधी भाषा में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि देवतावों ने विकार अस्तित्व को खण्ड-खण्ड करके देखा, अपने अधूरेपन की आवृत्ति से पूर्ण की पुनः प्राप्ति साधी । यही प्रथम धर्म है ।"[11]

भारतीय धर्म निरपेक्षता एवं सिक्यूलरीज्म के बारे में मिश्रजी का कथन इस प्रकार है - "जैसे सिक्यूलर धर्म के लिए निरपेक्ष शब्द रखकर हमने धर्म का अवमूल्यन किया । क्या धर्म में कोई चीज निरपेक्ष होती है ? धर्म की अवधारणा यह है कि जिससे जीया जाये वह धर्म है और उसकी अवधारणा का एक प्रमाण है कि जब विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस खाया और उनकी निन्दा हुई तो उन्होंने कहा कि नहीं जीना सबसे बड़ा धर्म है, उस धर्म से निरपेक्ष नहीं हुआ जा सकता । हमने शब्द दे दिया 'धर्म निरपेक्षता' । पश्चिम में यह द्वैत था कि वहाँ पर धर्म पिता शासक होता था, जो शासन में दखल देता था । हमारे यहाँ ऐसा नहीं था । उनके यहाँ द्वैत का आधार था, सेक्यूलर की आवश्यकता थी । "[12]

इस प्रकार मिश्रजी धर्म को व्यापक महत्व देते हैं । और उसे समस्त जीवन का संचालक और नियामक मानते हैं । उनके कथनानुसार साहित्य भी धर्म है । जिस धर्म से वे साहित्य के रिश्ते की आवश्यकता की बात करते हैं उसे जीवन का प्राणभूत अंग मानते हैं । धर्मः

मानवीय मूल्य, पार्थिव धर्म, अयोध्या उदास लगती है, परंपरा के द्वार से आधुनिकता, हिन्दू होने का मतलब, भारतीय एकता के सूत्रधार आदि निबंधों में मिश्रजी ने बड़ी गहनता से धर्म का चिन्तन करके अपने मनोभावों को व्यक्त किया है ।

ऐतिहासिक निबंध

आधुनिक साहित्यकारों ने केवल प्राचीन घटनाओं को या राजा-महाराजाओं के श्रृंखलाबद्ध विवरण को इतिहास नहीं माना है, बल्कि कार्य-कारण संबंध को महत्व देते हुए अतीत की किसी परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रकृति की व्याख्या, विवरण तथा विश्लेषण आदि को इतिहास मानते हैं । जब इतिहास निबंध का रूप लेता है तब निबन्ध में आंतरिक रूप दिखाई देता है । यदि इतिहास मरनेवालों की संख्या बतादैता है तो निबन्ध उस समय की दुर्दशा एवं चीत्कार का दृश्य देता है । वैसे तो विद्यानिवास मिश्र ने कतिपय ऐतिहासिक निबन्धों के द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं एवं तत्कालीन ऐतिहासिक संस्कृति से पाठकों को अवगत कराया है ।

'होइ है शिला सब चन्द्रमुखी' नामक निबंध में खजुराहो के मन्दिरों के निर्माण काल के बारे में मिश्रजी लिखते हैं - "खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण काल लग-भग छटी-सातवीं शताब्दी से लेकर, यदि जैन मन्दिरों के पुनरुद्धार को सम्मिलित कर लिया जाय, 10 वीं 17 वीं शताब्दी तक फैला हुआ है । चौंसठ योगिनी के मन्दिर के अवशेषों तथा उसकी कुछ अनुमानित प्रतिमाओं के संग्रहालय में अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थान निश्चित ही कोई जीवित शक्ति पीठ था और यहाँ ताराओं की साधना प्रवर्तित थी ।"[13]

मिश्रजी ऐतिहासिक निबन्धों के द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलन की याद दिलाना चाहते हैं, स्वाधीनता का मूल्य क्या है? वन्दे मातरम् का महत्व क्या है? इन्कलाब जिन्दाबाद का क्या अर्थ है? इन सभी बातों के बारे में आज के नवयुवकों को समझाकर उनके मन में देश-प्रेम को जाग्रत कराना चाहते हैं । इस संबन्ध में उनका यह कथन द्रष्टव्य है - "जिसने 1942 को देखा है उस केलिए आज का दृश्य बड़ा दु:खद है, बहुत पीड़ा देनेवाला है । आप में जो तरुण हैं वे तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते । इन्किलाब जिन्दाबाद का क्या महत्व था,

हमारे लिए वन्देमातरम् का क्या महत्व था, उसकी आप कल्पना नहीं कर सकते । उस उत्साह की बहिया की जिसमें एक आदमी खड़ा रहता था और पुलिस का अफ़सर कहता था 'ही इज अलोन शूट गैट हिम' - सारे आदमी खड़े हो जाते थे और कहते थे - ही इज नॉट अलोन वी आर ऑल विद हिम' इस उत्साह की आप कल्पना भी नहीं कर सकते । आप गोली खाते हैं, सिनेमा के टिकट केलिए । कभी अपने देश को एक बनाने केलिए गोली खायी है? कभी आपने आसाम को अपनी समस्या समझा है कभी आपने विश्व के दूसरे देशों की जिस तरह से अमरीका का विद्यार्थी, फ्रांस का विद्यार्थी, वियतनाम के युद्ध के लिए लड़ा है कभी आपने उस समस्या को अपनी समस्या समझा है? ।''[14]

मिश्रजी ने अपने निबन्धों के माध्यम से इतिहास के प्रति गहरी आस्था दिखाई है । 'गाँव का मन' निबंध संग्रह में के सभी निबन्ध इस बात के साक्षी हैं । इन निबन्धों में मिश्रजी ने सर्वत्र प्राचीन ऐतिहासिक संस्कृति के बारे में अपना विचार व्यक्त किया है । 'इतिहास' शब्द का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं - ''इतिहास का अर्थ है 'इति-ह-आस' अर्थात् ऐसा होता आया है, ऐसा था, यह अर्थ नहीं हैं । दूसरे शब्दों में रामायण महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थ अपने पात्रों को घटमान और शाश्वत वर्तमान के रूप में देखते हैं ।''[15]

मेरे निबन्ध मेरी पसंद के, संचारिणी, बसंत आगया पर कोई उत्कण्ठा नहीं आदि निबंध संग्रहों में मिश्रजी की आस्था इतिहास के प्रति दिखाई पड़ती है । विषय वस्तु की दृष्टि से मिश्रजी ने व्यास, भास, भवभूति, बाणभट्ट, वाल्मीकि, तुलसी, कालिदास ही नहीं बल्कि होमर, कीट्स, शेली, ब्राउणिड़ टेनिसन् आदि की बात भी की है । यदि एक ओर भारतीय सभ्यता का विवेचन किया है तो दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता की बात भी हुई है । 'भारतीय इतिहास का एक सन्धिकाल' नामक निबन्ध में भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में लिखते हैं - ''भारतीय इतिहास को प्रायः बहुत ही एकांगी और अतिरंजित दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है । यह एकांगी और अतिरंजित दृष्टि या तो अंग्रेजों के आगमन को वरदान या फिर अंग्रेजों के आने के पहले के जमाने को एकदम स्वर्णयुग मानती है । ऐसे जमाने के बारे में बात करते हुए डर लगता है कि कहीं गलत न समझा जाऊँ । हिन्दुस्तान के इतिहास में यह मोड़ एक विचित्र किस्म

के धुंधल का चित्र उपस्थित करता है । जिसके नीचे कुछ संध्यादीप टिम-टिमाते दिखते हैं पर घरों, आदमियों की आकृतियाँ बहुत धुंधली दिखती है ।"[16] मिश्रजी ने 'संस्कृति की पाषाणी' नामक निबन्ध में पूर्व मध्य युग के उल्लेख द्वारा उसे स्वर्णयुग साबित करते हैं । 'कलचुरियों की राजधानी गुर्गी नामक निबन्ध में गुर्गी जैसे स्थानों से पता चल सकता है कि जो मध्ययुग कहा जाता है वह मध्ययुग छठीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक फैला हुआ है । यह उत्कर्ष का युग है । देश की सांस्कृतिक धारा ने जो बहुमुखी प्रगति इस युग में की है, वह इतिहास केलिए एक गौरव की वस्तु है ।

मिश्रजी के कुछ निबन्धो में उज्जयिनी, विदिशा, ओरछा, महोबा, बान्धगढ़ नचना, कुण्डलपुर त्रिपुरी आदि स्थानों से एवं समुद्रगुप्त, प्रवरसेन, स्कन्दगुप्त, पुलकेशी यशोवर्म, भोज, कर्ण, पृथ्वीराज आदि महात्माओं से संबन्धित इतिहास का अनेक सच्चा चित्रण मिलता है । इन निबन्धों के अतिरिक्त 'बेचिरागी गाँव, अमर कंटक की सालती स्मृति, धान-पान और नीली लरटें, भारतीयता की व्याख्या पुनः पुनः मेघदूत का सन्देश, साहित्य इतिहास में दशकवाद आदि निबन्धों में भी ऐतिहासिक तथ्य यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं ।

यात्रा विषयक निबन्ध

विद्यानिवास मिश्रने कतिपय यात्रा विषयक निबन्ध भी लिखे हैं, जिन में दर्शनीय स्थानों यात्राओं, मेले तमाशों, मार्ग, संग-साथ, वाहन आदि अनेक विषय प्रस्तुत हुए हैं । मिश्रजी ने अनेक बार विदेश यात्रा तो की है, साथ ही साथ भारत के विभिन्न तीर्थस्थान, मन्दिर, ऐतिहासिक स्थान, पर्वत, नद-नदियों का पर्यटन भी किया है । पर्यटन से पथिक का ज्ञान बढ़ता है । इस बात को स्पष्ट करने केलिए मिश्रजी का कथन है - "यात्राएँ जीवन में दुर्निवार बनगयी है । इस का यह अर्थ नहीं कि घर से लगाव कम है बल्कि बार-बार यात्राओं से यह लगाव कुछ अधिक और नया हो जाता है । साथ ही साथ बाहर भी घर बनता जाता है । हर यात्रा एक नयी आत्मीयता जोड़ती है और आत्मा का नाम नया विस्तार और नया आविष्कार करती है ।"[17]

'रेवा से रीवा' नामक निबंध में त्रिपुर सुन्दरियों का तरंगीत अंग विभ्रमों से नदी की धारा को भी मात देलेवाले उद्याम विलास का सटीक अंकन हुआ है ।

'रोमानिया में भारत का साक्षात्कार' नामक निबन्ध में रोमानिया का सुन्दर चित्रण किया गया है । वहाँ के लोगों में हिन्दी तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रति विशेष आस्था है । मूर्तिकार कवि, विचारक आदि लोग भारतीय भावभूमि में जीवन की सार्थकता पाने का यत्न कर रहे हैं । 'कालडी-श्रचिरण धाम की यात्रा' नामक निबन्ध में कालड़ी का उल्लेख है । आद्य शंकराचार्य जी के चरण इस भूमि पर पड़ने से इसका नाम कालड़ी पड़ गया है । यहाँ पर दो मन्दिर हैं । शंकर स्मारक मन्दिर तो पेरियार नदी के तट पर स्थित है । इस प्रकार यहाँ का सजीव चित्रण इस निबन्ध में प्रस्तुत हुआ है ।

'तीन नदियाँ तीन देश' नामक निबन्ध में थाईलैण्ड, लाओस और वियतनाम आदि देशों की यात्राओं से उत्पन्न अनुभवों का सुन्दर वर्णन है । वे लिखते हैं - "थाईलैण्ड का पुराना नाम स्याम था । यह देश राजनीतिक दृष्टि से पश्चिम के देशों का उपनिवेश नहीं बना ।"[18] इसी प्रकार लाओस और वियतनाम के बारे में भी लिखते हैं - "लाओस की राजधानी, मेकांग नदी के किनारे काशी के तरह लम्बाई में फैली हुई है । वहाँ राष्ट्रपति का प्रासाद है । आस-पास मंत्रालय भवन है । लाओस के लोग थाईलैण्ड के लोगों के रक्त-संबंध से सगे भाई है । उमा, कार्तिकेय तथा हरिहर के कई मन्दिर हैं । वियतनाम आज अफसानों का शहर है । लाओस की संस्कृति बड़ी सौम्य और ग्रहणशील संस्कृति रही है । मेकांग हिमालय की पुत्री है, गंगा की तरह है । वियतनाम तो अधिक तर समुद्र के किनारे-किनारे बसा हुआ है । वहाँ के लोगों ने बौद्ध धर्म और उसके साथ साथ मानवीय मौल्यों की नयी दृष्टि भारत से सीधे पायी । वियतनाम का राष्ट्रीय फूल है कमल ।"[19] यह निबन्ध तीन विदेशी राष्ट्रों से संबंधित जानकारी को रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है ।

इसी प्रकार 'कौसानी के झरोखे से' यात्रा अभी शुरु नहीं हुई, जीवन अपनी देहरी पर, न पनिया का वह मामूल है, चलत रहत रघुरैया, यात्रा रास्ते की नहीं, जमुना के तीरे-तीरे, यात्री की पहचान, आदि यात्रा विषयक निबन्धों में प्रकृति की सुषमा, ऐतिहासिकता, दार्शनिकता

के दर्शन होते हैं । मिश्रजी ने इन निबन्धों में रोचक रोमांचकता एवं अन्य संवेदनाओं का अद्भुत समन्वय किया है ।

संस्मरणात्मक निबन्ध

विद्यानिवास मिश्र ने कतिपय संस्मरणात्मक निबन्ध भी लिखे हैं । संस्मरण लिखने की कला में आप सिद्धहस्त हैं । जीवन में आपने किसी व्यक्ति या घटना को देखा तो उसे वर्णन एवं विवरण का रूप देकर संस्मरण का रूप बना देते हैं । मिश्रजी के संस्मरणात्मक निबन्धों में उनके निकट मित्रों एवं हिन्दी, संस्कृत साहित्यकारों के जीवन की मनोरम स्मृतियाँ विद्यमान है । इसके साथ ही इन्होंने व्यक्ति, स्थान अनेक घटनाओं के आधारपर रोचक संस्मरण लिखे हैं उदाहरण स्वरूप - भाई को वधाई, भाई, निवन्धकार द्विवेदी जी, हिन्दी के अपराजय योद्धा भैया साहब, राष्ट्रपति की छाया, भैया साहब : हमारे, आपके, सबके बेतबा के तीर पर, भक्ति रस की साकार प्रतिमा करपात्रीजी, कुमारस्वामी का भारतचिन्तन: कलादृष्टि, कुमारस्वामी का भारत चिन्तन तत्वदृष्टि, कृष्णकाव्य और भारतेन्दु, काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी आदि संस्मरणात्मक निबन्ध उल्लेखनीय है ।

'निबन्धकार द्विवेदी जी' नामक निबन्ध में मिश्रजीने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का संश्लिष्ट चित्रण अंकित किया है । मिश्रजी के मत में द्विवेदी जी आशावादी हैं । वे मानते हैं कि मनुष्य की धर्म बुद्धि एवं उसकी सहज सौन्दर्य प्रेरणा उनका अन्तर्निहित सत्य है । वह एक न एक दिन जरूर प्राप्त होगी । मनुष्य और मनुष्य के बीच में जो संबन्ध है वह अविचल है । इस प्रकार मिश्रजी ने श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय से संबन्धित एक चित्ताकर्षक संस्मरण प्रस्तुत किया है । अज्ञेय जी ने अपनी साधना अपनी निष्ठा एवं प्रतिभा से, हिन्दी के माध्यम से भारत की साहित्यिक परंपरा को अद्वितीय आभा प्रदान की है । आज के दिन खंडहरों की खुदाई में लगे शिबिर में सन् 1911 में कुशीनगर के सालवान में उनका जन्म हुआ उनके कृतित्व का वैशिष्ट्य, व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में छिपा देते हैं । सही माने में सहज धर्मा हैं । पार्थिव शिव और कन्दर्पेश्वर मन्दिर के दो छोरों पर रहनेवाले हिन्दू हैं ।''[20]

'हिमालय ने उन्हें बुलालिया' शीर्षक निबन्ध में मिश्रजी ने राहुल जी के निधन पर अत्यंत शोकतप्त श्रद्धांजली अर्पित करते हुए अपना भावपूर्ण संस्मरण प्रस्तुत किया है । उनके मतानुसार "राहुलजी हिमालय के पुत्र थे । हिमालय ने उन्हें सदा केलिए बुलालिया । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बंबई अधिवेशन में राहुल जी अध्यक्ष थे । हिन्दी के प्रश्न पर अपनी पार्टी से लड़कर अलग हुए थे । हिन्दी तर भाषी क्षेत्रों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का कार्यक्रम भी बनाया । मनुष्य मात्र उनकेलिए ज्ञान की पवित्र राशि था । भारतीय मिट्टी का कण-कण ज्ञान की ज्योति उनके आगे बिखेरता था । रीति रिवाज से लेकर अनुश्रुति की भोंडी से भोंडी बात उनका ध्यान आकृष्ट कर लेती थी और ज्ञन की अनुसंधित्सा ने उसकी चित्तवृत्ति प्रक्षालित कर दी थी ।"[21]

मिश्रजी अपने अनुभव को साकार बनाने में कुशल एवं समर्थ अनुभूतियों एवं भावसंपत्ति को मुख्य आधार बनाकर संस्मरणात्मक निबन्धों के द्वारा बौद्धिक व्यंजनाओं पर पहुँचने की क्षमता रखते हैं । इस सम्बन्ध में यहाँ एक उदाहरण दृष्टव्य है । "एक घटना हाँगकाँग की है, दो दिनों केलिए वहाँ रुका था । होटेल से घूमने निकला, सोचा कुछ देर, पर्यटक एजेंसियों द्वारा घुमाया न जाकर खुद घूमूँ । एक रौनकवाली गली में मुड़ा, वहाँ समूचे पशु-पक्षी, साँप और तरह-तरह के प्राणी खलिया कर लटका गये थे । इस कसाई गंज से एकदम बगटूट भागा तो अचानक एक दूसरी गली में मुड़ा और मुड़ते ही मुझे अहसास हुआ कि चारों ओर जो आवाजें आ रही है वे शराब से भर्रायी हुई हैं । जो चेहरे दिख रहे हैं, उन पर अजीब बाजारु निष्ठुरता है । ऐसी हँसी सुनाई पड़ रही है, जिस में ज़हर फेनिल होकर बुद बुदा रहा है ।"[22]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि विविध रंग-रूपों एवं आत्मीयता से परिपूर्ण संस्मरणात्मक निबन्ध लिखने में विद्यानिवास मिश्र जी को पर्याप्त सफलता मिली है ।

भाषा विषयक निबन्ध

विद्यानिबास मिश्रजी ने भाषा विषयक निबंधों के माध्यम से भाषा, भाषानीति, भाषा विषयक समस्याओं पर अपना विचार स्पष्ट किया है । 'राष्ट्रभाषा की समस्या' नामक निबंध में भाषा तथा राष्ट्रभाषा का अंतर दिखाने का प्रयास किया गया है । यदि राजनीति का प्रवेश नहीं होता

तो राष्ट्रभाषा की समस्या को शान्ति और सहयोग से दूर किया जा सकता है । इस संबन्ध में उनका कथन है - "भाषा राष्ट्रभाषा बनती है, संख्या के बल पर नहीं भाषा में निहित सांस्कृतिक संपदा के बल पर भी उतनी नहीं, वह राष्ट्रभाषा बनती है अपने बोलनेवालों की निष्ठा के बल पर, जिस भाषा पर समस्त राष्ट्र गर्व करता है, जिस भाषा की प्रतिष्ठा को प्रत्येक राष्ट्रवासी राष्ट्र की प्रतिष्ठा का पर्याय मानता है, जिस भाषा के मूल्य को अपने मानवीय मूल्यों में सर्व प्रमुख स्थान देता है, वही भाषा राष्ट्रभाषा होती है ।"[23]

भाषा संबंधित निबन्धों में मिश्रजी न केवल समस्याओं को पाठक के सम्मुख रखते हैं परन्तु उसके समाधानों के साथ समन्वय का मार्ग भी सुझाते हैं । राष्ट्रभाषा और समस्या, हिन्दी बनाम राजनीति, हिन्दी का विभाजन (वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं नामक संग्रह से) मलय के आँचल में (आँगन का पंछी और बनजारा मन से) प्राण वाणी माँगता है (अंगद की नियती से) भाषा साहित्य और भविष्यत् (शेफाली झर रही है से) हिन्दी हारी रुई लड़ाई जीतने केलिए (नैरंतर्य और चुनौती से) स्वाधीनता के कटघरे में (मेरे राम का मुकुट भीग रहा है से) भाषा और अस्मिता (नदी, नारी और संस्कृति से) संपर्क भाषा हिन्दी और हिन्दी साहित्य की काल निचोड़ प्रतिभा (बूँद मिले सागर में से) आदि निबंध भाषा विषयक निबंध के अंतर्गत आते हैं ।

मिश्रजी के इन निबंधों से यह स्पष्ट होता है कि ये पूर्णतया विचार प्रधान निबन्ध हैं । इन निबन्धों में हिन्दी की भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् की दशा, नीति-राजनीति, समस्या एवं समाधान आदि विषयों पर गहन चिन्तन किया गया है, जिस में उनकी सांस्कृतिक सोच-समझ का पूर्ण परिपाक हुआ है ।

उपर्युक्त निबंधों में मिश्र के भाषा संबंधी विचारों का गहन एवं वैज्ञानिक विवेचन हुआ है । जिस में वे राष्ट्रभाषा के भूत, भविष्य एवं वर्तमान के विषय में चिन्तित दिखाई देते हैं और साथ ही उसकी समस्या को दर्शाते हुए उसके निदान का प्रयास भी करते हैं ।

कला विषयक निबन्ध

विद्यानिवास मिश्र साहित्य कला के साथ-साथ अन्य कलाओं के प्रति भी गहरी निष्ठा रखते हैं । भ्रमणशील स्वभाव एवं साहित्यिक सभाओं गोष्ठियों में आमंत्रित होने के कारण वे प्रायः देश-विदेश की यात्रा करते रहते हैं । यात्रा के दौरान उन्हें विभिन्न धर्मिक, ऐतिहासिक एवं अन्य पर्यटक स्थान देखने को मिलते हैं । इस प्रकार यात्रा के दौरान संजोयी हुई अनुभूतियों को वे वाणी का रूप प्रदान करते हैं, जिससे उनकी विभिन्न कला संबंधित सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का पता चलता है । कला को परिभाषित करते हुए मिश्रजी कहते है कि कला परमेश्वर की सर्वकर्त्तता सब कुछ रचने की क्षमता की छाया है । भारत की कला सृष्टि निपरेक्ष सौन्दर्य की बात नहीं सोचती । वह यह देखती है कि संपूर्ण जीवन में जहाँ सामंजस्य है, ऐक्य है, वहाँ सौन्दर्य है इस संबन्ध में 'कला शक्ति और शिव' नामक निबंध में उल्लेख है - ''कला महत् से उद्भूत होती है । फलतः यह अहं या व्यक्तित्व अपनी सीमाओं में कला के व्यक्तित्व को ग्रहण मात्र करता है ।''[24]

मिश्रजी के मतानुसार भारतीय कला की पराकाष्ठा तांत्रिक कला में निहित है तथा इस तांत्रिक कला का चरम उत्कर्ष खजुराहो में प्राप्त है । वहाँ की प्रत्येक भंगिमा के अंकन में या प्रत्येक अभिप्राय के व्यापक अध्ययन के द्वारा मिश्रजी ने स्वतः प्रामाणित किया है । स्थापत्य रचना पर विचार करते हुए मिश्रजी अपना पहला अभिप्राय व्यक्त करते हैं - 'अर्ध शिल्पों में सबसे अधिक नृत्य गीत का अभिप्राय है । आज भी नृत्य-गीत के बिना शिव की पूजा पूरी नहीं कही जाती । दूसरा अभिप्राय दर्पण लिए हुए अप्सरा का है जो कि पार्श्वों और कई कोनों में अंकित किये गये हैं । तीसरा अभिप्राय वंशी-वादिका का है । इस में त्रिभंगी रूप ही अंकित किया गया है । चौथा अभिप्राय उज्जृम्भण का है जिस में सौन्दर्य से अंगड़ाई लेने का अंकन किया गया है । पांचवाँ अभिप्राय है परस्पर एक दूसरे के साथ का आलम्बन लिए हुए मिथुन का है, जो जीवन की गहराइयों एवं मोहक तत्त्वों के परस्पर अनुभवों के प्रतीक हैं । छठाँ अभिप्राय क्रीड़ावही शालभंजिका भंगिमाओं का है । ये शालभंजिकाएँ चंन्द्रातपों के कोनों में स्तम्भों के शीर्ष भागों में अंकित हुए हैं । सातवाँ मुख्य अभिप्राय शार्दूल और अप्सरा का है । आठवाँ अभिप्राय वह है जिस में वृश्चिक, वाजी, वानर शुक या गज के साथ अप्सरा अंकित की गई है ।

इस प्रकार उपर्युक्त अभिप्रायों को मिश्रजी जादू मानते हैं साथ ही साथ साधक को सांसारिक जीवन में घूर्ण रूप से घुमाते फिराते हुए भी बराबर उसके ऊपर उठने का प्रयत्न मानते हैं ।

'कला के पलने के पास' नामक निबंध में विन्ध्य प्रदेश की कला समृद्धि और वन-सम्पत्ति इन दोनों पर लेखक विचार करता है कि विन्ध्य की मेखला में हीरों के साथ-साथ गुँजाएँ भी ग्रथित है । उनके प्राचीन कलाविशेष और सुन्दर वन मण्डित भूखण्ड एक दूसरे की गाथा सुनने में तल्लीन रहते हैं । इस संबन्ध में यह उद्धरण दृष्टव्य है - "विन्ध्य प्रदेश के छतरपूर जिले में कला समृद्धि और वन सम्पत्ति दोनों का प्राचुर्य है - उसी जिले में बिजावर से बारह-तेरह मील पर गहन जंगलों के बीच एक जगह है देवरा, जहाँ एक पुराना गढ़ है और उस गढ़ के बीच बसा हुआ, पर आज वन्य और नगर दोनों प्रकार के दुर्दस्युओं के आतंक के कारण उजड़ा हुआ सा गाँव है ।"[25]

इसी प्रकार 'कलचुरियों की राजधानी गुर्गी' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा है संग्रह से) काल और कला की विधा (अंगद की नियति) आदि निबन्धों में मिश्रजी ने कलाविषयक विचारों के द्वारा पाठकों को एक नया दृष्टिकोण दिया है ।

समीक्षात्मक निबन्ध

विद्यानिवास मिश्र मूलतः निबन्धकार हैं परंतु कहीं कहीं उनके निबन्धों में उनकी समीक्षात्मक दृष्टि दिखाई देती है । इसके अंतर्गत वे वस्तु या कृति के गुण-दोषों का विवेचन एवं विश्लेषण करके उसकी सम्यक् व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं । वैसे तो विद्यानिवास मिश्र के समीक्षात्मक निबंध कम मिलते हैं किन्तु 'महाभारत का काव्यार्थ' 'रीतिविज्ञान' आदि संग्रह इन निबन्धों के ही संकलन है इन निबंन्धों में उन्होंने 'स्टाइलिस्टिक्स' को समझाने का प्रयास किया है । शैली विज्ञान के विविध अंश शोध कर्त्ताओं को शैली या रीति का बोध कराने केलिए ही समय-समय पर निर्मित हुए हैं । इस संबन्ध में मिश्रजी ने स्वयं लिखा है - "इनमें से कुछ अंश केन्द्रीय संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, हिन्दुस्तानी एकेडमी और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान की संगोष्ठियों में पढ़े गये । कुछ कक्षाओं में चर्चा हुई । मुख्य उद्देश्य सामने

यह था कि अंग्रेजी के 'स्टाइलिस्टिक्स' के ग्रन्थ और निबन्ध अंग्रेजी और अन्य किसी विदेशी भाषा के उदाहरणों से निदर्शित होने के कारण हिन्दी भाषा राज्यों के नवसाक्षरों को हृदयंगम नहीं तो पाते, इसलिए परिचित उदाहरणों के माध्यम से रीतिविज्ञान की प्रयोजकता समझायी जाय ।''[26]

मिश्रजी ने कतिपय निबंधों में साहित्यकारों की रचनाओं पर समीक्षा करने का प्रयास किया है तो अन्य कुछ निबन्धों में शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए बड़ी ही तर्कपूर्ण शैली में विषय का प्रतिपादन किया है । आप अपने निबन्धों में वर्तमान काल की जटिल एवं गंभीर समस्या का कारण प्राचीन एवं अतीत काल की घटना में ढूंढ़ते हैं । मनुष्य के कर्तव्य के बारे में कहते हुए 'मा पुरो जरसो मृथाः' जीवन धर्म' नामक निवन्ध में लिखते हैं - ''आज की तरह व्यक्तिगत दुःख से ऊबकर या समाज के कर्तव्यों से भागकर पीला कपड़ा पहनने का फैशन नहीं था । इसलिए हम जीवित थे, मन शान्त था, और हमारी वाणी में भी ओज था ।''[27] इस प्रकार युग विशेष के साहित्य समझानेवालो तथा ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परंपरा का बोध करानेवाले निवन्धों में निम्नलिखित निबन्धों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। 'हम और हमारी नदियाँ, संस्कृति और समन्वय (संचारिणी संग्रह से) बढ़ती समृद्धि, बिखरती संस्कृति, देश की पहचान (अग्निरथ से) सदा आनन्द रहे एहि द्वारे, आंगन का पंछी (गाँव का मन से) दाम्यत दत्त दयध्वम् दानधर्म, मा पुरो जरसो मृथाः जीवन धर्म, पूर्णमदः पूर्णमिदम् (तुम चन्दन हम पानी से) हरिरिह विहरति, काव्य-बीज (शेफाली झर रही है से) शब्द और सौंदर्य, छन्द और कविता, रस सिद्धान्त और प्रत्यावलोकन (नैरन्तर्य और चुनौती से) आदि यहाँ पर उल्लेखनीय समीक्षात्मक निबंध हैं ।

समग्रतः विचार करने पर विदित होता है कि मिश्रजी के समीक्षात्मक निबंध तथ्यपूर्ण समीक्षा के आलोक बिंदु होते हुए भी लालित्य से परिपूर्ण हैं तथा माधुर्य से भरे हुए हैं ।

भावात्मक निबन्ध

विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध साहित्य में विविध निबंधों के साथ भावात्मक विबन्धों का भी सृजन हुआ है । इन निबन्धों में लेखक ने रागात्मक अनुभूतियों को पाठकोंके सम्मुख प्रभावपुर्ण ढंग से रखा है ।

छितवन की छाँह, प्रभुत्व ज्वर अस्पताल दिया-बाती का मेल, तमाल के झरोखे से, भारतीयता की व्यख्या पुनः पुनः. कौसानी के झरखे से, नयी पीढ़ी की बेचैनी, एक पेड़ गिरगया, विन्ध्य की धरती का बलिदान, अयोध्या उदास लगती है, शेफाली झर रहीं है आदि निबन्ध साहित्यक निबंधों के अंतर्गत आते हैं ।

इन निबन्धों में मिश्रजी ने अपनी अन्तरानुभूतियों को तीव्र भावों में व्यक्त किया है । सुख-दुःख आनंद-विलास, आकर्षण-विकर्षण ममत्व-आक्रोश आदि का मार्मिक चित्रण दिखाई देते हैं । मिश्रजी के साहित्यिक निबन्धों के कुछ उद्धरणों को यहाँ पर प्रस्तुत किया है ।

छितवन की छाँह नामक निबन्ध में छितवन गन्ध साधना का नन्दनवन है जो जितना ही दूर रहता है उतना ही मादक, जितना ही समीप उतना ही सामान्य और निर्विशेष । इस निबन्ध में चम्पा के रूप का ज्वार नहीं, कुमुद का स्निग्ध शीतल स्पर्श नहीं, कमल अलि कुंजन नहीं और न क्दंब का मधुर रस ।

'हरसिंगार' नामक निबन्ध में मिश्रजी ने हरसिंगार का भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है । उनके मतानुसार यह बरसात के उत्तरार्ध का फूल है । इसका संबंध मृत्यु से है । वह स्मशानवासी 'हर' का श्रृंगार है । प्रेम की मरणदशा में अनुराग की सुधाबिन्दु छिड़काकर अपना नाम सार्थक कर देता है । एकोन्मुख प्रेम की मृत्यु को बहून्मुख प्रसार का जीवन देना ही हर सिंगार का संदेश है ।

'चन्द्रमा मनसो जातः' शीर्षक निबन्ध में चन्द्रमा के प्रति मिश्रजी का भाव इस प्रकार प्रकट हुआ है कि चन्द्रमा का कलंक मानव मन का कलंक है और उनकी क्षीणता भी मानव मन की क्षीणता है । अमृत साधना का मंत्र चन्द्रमा ने मन से पाया है ।

मेरे राम का मुकुट भीग रहा है नामक निबंध में मिश्रजी का अपनापन भी अपरिचित हो जाता है तब उनकी जो मानसिक अवस्था होती है उसका भावपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है - "लेटते लेटते यही सोचता रहा और एक झपकी आगई, सबेरे जाने की तैयारी थी, झपकी भी उचट गई, और देखा सुबह की रोशनी हाथ पसारने लगी है इस रोशनी को क्या

कहूँ? अपना बुझा हुआ दर्द हूँ या दर्द के एहसास के मरने का बेदर्द मातम हूँ । या अपनेपन की किरन का अचानक चुभन का आलोकमान आतंक बोध हूँ या कुछ न हूँ - उसकी माँग अभी भी रेत के ऊपर खड़ी है ।''[28]

उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से यह विदित होता है कि मिश्रजी के कतिपय निबन्धों में रागात्मकता एवं भावाभिव्यंजकता सधन एवं स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है । जिनें भावात्मक निबन्धों केलिए आवश्यक मानी जाती है ।

सांस्कृतिक निबन्ध

संस्कृति का अर्थ अत्यंत व्यापक रूप से ग्रहण किया जाता है । धार्मिक, साहित्यक एवं इतिहास - वेत्ता ने इस शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है । कतिपय विद्वान प्राकृतिक स्वभाव में सुधार की स्थिति को संस्कृति कहते हैं तो डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी ''मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं को संस्कृति मानते हैं ।''[29] संस्कृति को एक प्रकार की संस्कारात्मक परिणति मानते हुए विद्यानिवास मिश्रजी ने प्रचुर मात्रा में सांस्कृतिक निबन्धों की रचना की । इन निबन्धों में भारतीय संस्कृति की तुलना, संस्कृति के प्रति प्रेम, आस्था आदि का सजीव चित्रण सर्वत्र दिखाई देता है । मिश्रजी के निबन्धों से पाठकों को यह स्पष्ट होता है कि इनकी रुचि लोक-जीवन एवं ग्रामीण समाज की ओर अधिक रही है । डॉ. श्रीपाद के अनुसार - ''मिश्रजी के निबन्धों में एक ओर भारतीय मिठ्टी की गंध है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति से सीधा साक्षात्कार है ।''[30]

डॉ. हर्षनारायण नीरव का कथन इस प्रकार है - ''डॉ. विद्यानिवास मिश्रजी की पूरी जिंदगी ही एक सांस्कृतिक संदर्भ की छाँह में बीती है, बीत रही है । इसी पृष्ठ भूमि से मिश्रजी आज के जीवन और परिवेश को देखते रहे है । उनके मन में कसक उठती रही है ।''[31]

कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत की सीमायें राजनीतिक अर्थ से अधिक सांस्कृतिक अर्थ में मानी जाती है । जिसका चित्रण विद्यानिबास मिश्र ने अपने सांस्कृतिक निबंध में किया है । इस संबंध में प्रा. देशवाल कहते हैं - ''इनके निबन्ध से यह स्पष्ट होता है कि इनकी

रुचि लोक-जीवन एवं ग्रामीण समाज की ओर अधिक रही है । इसलिए इनके ललित निबंधों में लोक संस्कृति की चाँदनी छिटकती हुई प्रतीत होती है । इनमें ग्रामीण उत्सवों की स्मृतियाँ तो हैं ही, मिली जुली संस्कृति का मज़ाक भी उड़ाया गया है । वे कभी भारतीय विवाह का प्रामाणिक विवेचन करते हैं, तो कभी संस्कृत काव्यों में वर्णित आम्रमंजरी का रोचक चित्रण करते हैं ।''[32]

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों के अंतर्गत 'जयन्ती मंगला काली' संस्कृति की पाषाणी, आम्रमंजरी ''ताण्डवं देवि भूयात् अभीष्ट्यै च हृष्ट्यै च नः'', जमुना के तीरे-तीरे, मेरी स्मृतियों के राम, जननी जन्मभूमिश्च सर्जन के देवता, प्रातः तव द्वार पर, गंगा के बिंदु-बिन्दु में गोविंद, तीन नदियाँ तीन देश, अयोध्या उदास लगती है, नारियल, हलदी-दूब, दधि अक्षत, संस्कृति और समन्वय, संस्कृति का हस्तक्षेप, भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता भारतीय सनातन मूल्य, वसुधैव कुटुम्बकम्, भारतीय पर्व, रामनवमी श्री कृष्ण जन्म, होली, वासन्ती नवरात्र, भारत में मातृदेवी की प्रतिष्ठा, तुम चन्दन हम पानी, अग्निरथ, देश की पहचान आदि निबन्ध आते हैं ।

'जयन्ती मंगला काली' नामक निबंध में विजयदशमी-दशहरा आदि के माध्यम से मिश्रजी ने भारतीय संस्कृति को व्यक्त किया है । कईं स्थानों पर भारतीय फूल एवं नदियों के महत्व तथा अन्य संस्कृतियों से तुलना आदि की चर्चा भी मिलती है ।

प्राचीन और अर्वाचीन विषयों पर आधारित निबंध 'संस्कृति और समन्वय' में सामाजिक संस्कृति की बात का निरूपण हुआ है ''वैदिक, बौद्ध, जैन, ब्राह्मण-श्रमण, आर्य द्रविड़ कोल-किरात, हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई जाने कितनी ऐतिहासिक संस्कृतियाँ हैं उन सब का धुलामिला रूप भारतीय संस्कृति है ।''[33]

मिश्रजी के इन सांस्कृतिक निबन्धों में भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल परंपराएँ सर्वत्र दीख पड़ती है । ये निवन्ध हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं एवं धारणाओं के पथ-प्रदर्शक हैं । इन निवन्धों में भारतीय जन जीवन की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है तथा राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त करते हुए सांस्कृतिक महत्व का प्रचार एवं प्रसार किया गया है ।

वर्णनात्मक निबन्ध

जिस निबन्ध में किसी वस्तु दृश्य, स्थान आदि का वर्णन किया जाता है वह वर्णनात्मक निबन्ध कहलाता है । इन निबन्धों में विशेष रूप से प्रकृति, नदी, पहाड़, वृक्ष, त्योहार, रहन-सहन, वेश-भूषा, मौसम, सभा-सम्मेलन, तीर्थस्थान, मेले-तमाशे आदि का वर्णन पाया जाता है । जिस प्रकार इन सब को हम देखते हैं साहित्यिक रूप में उनका सजीव प्रस्तुतीकरण ही वर्णनात्मक निबन्ध का लक्ष्य होता है । यही वर्णनात्मक निवन्धों की विशेषता है कि किसी भी एक विषय का सांगोपांग वर्णन करना है जिस वर्णन में लेखक का निजी व्यक्तित्व का प्रकटन हो ।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी के अनुसार 'वर्णनात्मक निबंध में दो रूप मिलते हैं । ''यथा तथ्य वर्णन और कल्पना प्रधान वर्णन ।''[34] विद्यानिवास मिश्र के कतिपय वर्णनात्मक निबन्धों में उपर्युक्त सभी तत्व विद्यमान हैं । इन के निबन्धों में अमर कंटक की सालती स्मृति, रूपहला धुआँ, रेवा से रीवा, रोमानिया में भारत से साक्षात्कार, सागर घेरे विशाल, यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धबो में, अमृत-मन्थन कौसानी के झरोखे से, चलन चहत रघुरैया, मुकुट मेखला और नूपुर आदि निबन्धों का नाम उल्लेखनीय है ।

मिश्रजी ने 'अमर कंटक की सालती स्मृति' नामक वर्णनात्मक निबन्ध में ''नर्मदा कुण्डके बीच में स्थित मन्दिरों का तथा जुहिला के तट पर स्थित अमर कंटक का सुन्दर वर्णन किया है । ''रूपहला धुआँ'' नामक निबन्ध में चचाई प्रपात का वर्णन हैं । बीहर नदी के एक पार पर चचाई गाँव है और वहाँ लगभग 375 फीट का प्रपात बनाती हुई नदी एक मनोरम घाटी में प्रवेश करती है । शरद की शुभ्र ज्योत्स्ना में प्रपात का सौन्दर्य अधिक मोहक बन गया है । इस प्रकार मिश्रजी ने प्रकृति का रोचक चित्रण अपने निबंधों में प्रस्तुत किया है ।

'रेवा से रीवां' निबन्ध में रेवा और रीवां के साथ जुड़ी हुई मद-गज यूथों की जलक्रीड़ा का वर्णन तथा त्रिपुर सुन्दरियों का अंग-विभ्रमों से उत्पन्न नदी की धारा का सुन्दर वर्णन मिलता है ।

खंड - ख

सांस्कृतिक निबंध साहित्य का विहंगावलोकन

छितवन की छाँह

'छितवन की छाँह' सन् 1953 में 'लोक भारती' प्रकाशन से प्रकाशित विद्यानिवास मिश्र का प्रथम निवन्ध संग्रह है, जिस में कुल सत्रह निबंध हैं । उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत यह निबन्ध संग्रह नये संस्करण के रूप में सन् 1982 में पुनः प्रकाशित हुआ । आधुनिक हिन्दी निबन्धों में यह अपनी एक विशेष पहचान के साथ आया, जिस में जीवन और जगत् की स्वानुभूतियों की संवेदनात्मक, मौलिक अभिव्यक्ति हुई है । जिसे हम आधुनिक निबन्धों का एक मौलिक प्रतिमान भी कह सकते हैं । अधिकांश निबन्धों में प्रकृति के सुरम्य दृश्यों का चित्रण किया गया है ।

'छितवन की छाँव' शीर्षक निबन्ध में अपेक्षित पर उपेक्षित कारण तत्वों की ओर रचनाकार का ध्यान गया है जिसे जानना और समझना बड़ा मुश्किल है । जीवन और प्रकृति के ऐसे विषयों को लिया है, जिन्हें हम उपेक्षित और तिरस्कृत समझते हैं, पर मिश्रजी ने उसकी उपादेयता और गम्भीरता की विशद व्याख्या की है - ''इस गन्ध साधना का नन्दनवन यही छितवन है, जो जितना ही दूर रहता है उतना ही मादक, जितना ही समीप, उतना ही सामान्य और निर्विशेष । छितवन में चम्पा के रूप का ज्वार नहीं, कुमुद का स्निग्ध शीतल स्पर्श नहीं, कमल का अलि-गुंजन नहीं और कदम्ब का मधुर रस ।''[35]

'हर सिंगार' नामक निबन्ध में भी मिश्रजी ने हर सिंगार को प्रेम का प्रतीक मानकर उसकी उपेक्षा एवं उपयोगिता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है । यथा ''हरसिंगार प्रेम की मरण दशा में अनुराग की सुधाबिन्दु छिड़का करके अपना नाम सार्थक कर देता है । प्रेम जगत् में सबसे बड़ा अमंगल बना रहे, यदि उसे हर सिंगार का मंगलदान न मिले ।''[36]

'गऊ चोरी' एक श्रेष्ठ व्यंग्य प्रधान ललित निबन्ध हैं जिस में भूमि की चोरी, राजनीति चोरी, साहित्य चोरी आदि पर आक्रोश प्रकट कर अंत में राधा-कृष्ण के बहाने चित्त की चोरी की चर्चा भी हुई है ।

मिश्रजी ने 'दिकोरा' नामक निबन्ध में विध्वंसक तत्वों के प्रति विचार किया है ।

'चन्द्रमा मनसो जातः' नामक निबन्ध को मिश्रजी के च्योतिश्शास्त्र, संस्कृत एवं लोक ज्ञान का साक्षी मान सकते हैं । इस में चन्द्रमा मन की साधना का रहस्य को भी उत्धाटित कर सकता है, यही कारण है कि वह कलंक ग्राह्य है, त्याज्य नहीं । चंद्रमा का कलंक मानव मन का कलंक है । उसकी क्षीणता भी मानव मन की क्षीणता है ।

'जमुना के तीरे-तीरे', घने नीम तरु तले, दिया टिम टिमा रहा है, धनवा पियर भइले नवा पियर भइले, आहो-आहो संज्ञा गोसाइनि आदि निबन्धों में प्रकृति के प्रति प्रेम एवं लोक जीवन और लोक-गीतों आदि के प्रति निष्ठा के भाव व्यक्त हुए हैं ।

'तांडव देवि भूयादभीष्टंयै च हृष्ट्ये च नः' नामक निबन्ध से मिश्रजी के संस्कृत संबन्धी ज्ञान का पता चलता है कि आप संस्कृत के कितने प्रकाण्ड विद्वान हैं । फिर भी आप ने तत्सम शब्दों के प्रयोग को सामान्य बोल-चाल के शब्दों द्वारा निबन्धों को बहुत सरल एवं सहज बना दिया है । भाषा एवं भावों में गंभीरता एवं वैचारिकता के साथ-साथ सरलता एवं सहजता भी दिखाई देती है ।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि छितवन की छाँह निबन्ध संग्रह श्रेष्ठ ललित निबन्ध की कोटि में आता है । फिर भी मिश्रजी ने इस में हिन्दी भाषा के प्रति प्रेम एवं प्रेरणा के संबंध में भी अपने विचार व्यक्त कियें हैं । इन की भाषा एवं शैली साहित्यिक, परिनिष्ठित एवं सुसंस्कृत हैं तथा सशक्तता स्पष्टता सरलता, दोष विहीनता, प्रवाहमयता एवं प्रभावोत्पादकता आदि गुणों से युक्त है । इस में भाषा एवं शैली का जो प्रयोग किया है वह सांस्कृतिक विचार धारा को जन मानस तक ले जाने की मौलिक पद्धति है ।

कदम की फूली ड़ाल

'कदम की फूली ड़ाल' सन् 1955 में प्रकाशित मिश्रजी का दूसरा निबंध संग्रह है । प्रस्तुत संग्रह में कुल बाईस निबन्ध हैं । ये निबन्ध भ्रमण, चिन्तन, एवं स्वप्न नामक तीन खण्डों में विभाजित हैं । विन्ध्य भूमि के दर्शन से उत्पन्न हुए अनुभवों के द्वारा मिश्रजी ने यात्रा खण्ड

में वहाँ की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा का चित्रण मार्मिक रूप से किया है । कल्पना, अनुभूति, एवं विचार से युक्त ये चित्रण सजीव बन पड़े हैं । निश्चित ही ये निबंध उनके जीवन के कटु अनुभूति क्षणों की अभिव्यक्तियाँ हैं । जब मिश्रजी का विश्वास अविश्वास से, ईमानदारी बेईमानी से और मानवता-अमानवता से दबाई गई उसी क्षणों में ये निबंध लिखे गयें हैं ।

चिन्तन खण्ड के अंतर्गत साहित्य के कुछ तात्कालिक प्रश्नों की जिज्ञासा है । भावुकता की व्यक्ति परक चिन्तन, गंभीरता का आभास भी इन निबन्धों में हैं । इस संबंध में यह उद्धरण दृष्टव्य है - "उन्हीं भावुक क्षणों की प्रतिक्रियाँ ही इन में अधिक है जो अर्धरात्रि के नीरव में मानसिक उद्वेलन मंथन की विवशताओं के परिणाम है ।"[37]

वर्तमान समस्याएँ और साहित्यिक नवीनताओं पर वे चिन्तन करते हैं । इनके चिंतन में निर्भीकता और स्वच्छंदता है । जो बात कहनी हो तो उसे निःसंकोच कहते हैं । वे लिखते हैं - "हमारे देश में भी सयाने लोग हैं जो अपने नाम की अयोग्यता आँगन की टेड़ेपन के ऊपर थोपने केलिए ऐसे ऐसे सुझाव देते हैं कि अन्न इसलिए कम पैदा हो रहा है कि चिड़िया उन्हें खा जाती है, बंदर तहस-नहस कर जाते हैं, चूहें उन्हें कुतर जाते हैं और धूप उन्हें खुखा जाती हैं इसलिए पहले इनके उन पर नियंत्रण होना जाहिए ताकि खेती अपने आप बिना मनुष्य के परिश्रम के उपचाऊ हो जाय ।"[38]

तीसरा स्वप्न खंड है, जिस में बौद्धिक धरातल से ऊपर उठकर अंतःकरण अपनी आराध्य भावभूमि में विचरण करता है । इस प्रकार मिश्रजी के निबन्धों में दैनिक जीवन समाज की विभिन्न समस्याओं पर उनकी सहज प्रतिक्रियाएँ, आत्मव्यंजनाएँ स्वाभाविकता से व्यक्त हुई है ।

तुम चन्दन हम पानी

तुम चन्दन हम पानी सन् 1956 में प्रकाशित निबंध संग्रह है । यह मिश्रजी का तीसरा निबंध संग्रह है, जिस में कुल चौबीस निबंध हैं । प्रस्तुत निबंध संग्रह में भारतीय संस्कृति का जो मोहक एवं आदरणीय भाव है वह पाठक पर विशेष प्रभाव ड़ालता है । इन निबन्धों

में लोक-जीवन तथा प्रकृति का निरीक्षण हृदय एवं बुद्धि से जो हुआ है वह मिश्रजी की बौद्धिक सहजता एवं सरलता का परिचायक है ।

'अहमनृतात्सत्यमुपैमि' दाम्यत दत्त दयध्वम् मा पुरो जरसो मृथाः' आदि शीर्षक निबंधों में हमारे धर्मग्रन्थों, वेदों, उपनिषदो के कतिपय वाक्यों को लेकर उनकी मीमांसा करते हुए कहते हैं कि यह उस असंतुलित जीवन क्रम को ग्रहण करने का परिणाम है जिस में भौतिकता और आध्यात्मिकता अलग-अलग है ।

विनयी विन्ध्याचल, नगाधिराज हिमालय, गंगायां घोष आदि निबंधों में प्रकृति का वर्णन किया गया है । पत्रशैली में लिखा हुआ व्यंग्यात्मक निबंध हैं 'विजयदशमी पर एक पत्र' एवं 'शिवाजी की बारात' । ये दोनों हास्य एवं व्यंग्यात्मक शैली का निबंध है । 'तुम चन्दन हम पानी' निबंध में संतों एवं कवियों द्वारा प्रभु को चन्दन कहे जाने का अर्थ स्पष्ट किया है । चंदन घिसकर देवताओं को चढ़ाने के अनुष्ठान की विशद चर्चा हुई है । इस संबन्ध में मिश्रजी का यह कथन उल्लेखनीय है - ''मनुष्य को अपने जीवन संगर्ष से सुरभी अर्जित करने का अधिकार तभी मिलता है, जब वह अर्पित भाव से संघर्ष में रत होता है ।''[19]

इस संग्रह में भारतीय मांगलिक प्रतीकों पर लिखे गये निबंधों को भी समाविष्ट किया गया है । निबंधों के विषय नूतन है । इन में लेखक की सूक्ष्म एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि दिखाई देती है । इस संकलन में एक प्रकार की सौम्यता, सहजता एवं सौन्दर्याकर्षण है जिसके मूल में मिश्रजी के जीवन दर्शन की स्पष्टता है ।

आंगन का पंछी और बनजारा मन

'आंगन का पंछी और बनजारा मन' संग्रह का प्रथम एवं द्वितीय संस्करण क्रमशः सन् 1963 और सन् 1988 में प्रकाशित हुआ । बीस निबंधों का यह संग्रह 'आंगन का पंछी' और 'बनजारा मन' नामक दो शीर्षकों में विभाजित हैं । प्रथम शीर्षक के अंतर्गत ग्यारह और दूसरे में नौ निबंध सम्मिलित है । दूसरे खण्ड 'बनजारा मन' के 'मेरी रुमाल खोगई', 'इकाई बनाम दुहाई' और 'बनजारा मन' इन तीन निबन्धों को छोड़कर शेष छः निबन्धों का प्रकाशन मिश्रजी के ही 'भ्रमरानन्द के पत्र' नामक संग्रह में हुआ है ।

प्रस्तुत निबंध संग्रह के मुख पृष्ठ पर अपने वक्तव्य में मिश्रजी लिखते हैं - "अब जो चौथा संग्रह आप के हाथो में है, दुविधा के क्षणों की सृष्टि है, इसीलिए इसका शीर्षक भी द्विविधात्मक है । बरसों तक जिस भोजपुरी वातावरण के स्मतिचित्र उरेहता रहा उसी में मन चाहे पद पर जब वापिस लौटा तो दो विपरीत भावनाएँ एक साथ मन में उठी । अपने आंगन में लौटने की खुशी और घर-पोसू होने की आशंका । इसलिए जहाँ मन आँगन का पंछी बनकर चहका वहीं उसका बनजारापन ।"[40]

प्रस्तुत वक्तव्य में गाँव की माटी के प्रति मिश्रजी के उद्गार हुए हैं । विभिन्न संस्कृतियों का साक्षात्कार करने के बाद भी मिश्रजी लोक जीवन से जुड़े रहे ।

विषयांतर करने में भी मिश्रजी सिद्धहस्त लेखक हैं । विषय का सूत्र पकड़कर कहीं से कहीं पहुँचकर पुनः उसी स्थान पर आकर अपनी बात आगे बढ़ाते हैं । 'आंगन का पंछी' निबंध का एक उदाहरण दृष्टव्य है - "संतोष की बात इतनी ही है कि भारत में ऊपर चाहे जो हो, भीतर एक दूसरी ही शक्ति का प्रवाह है, जो मनुष्य को सृष्टि के साथ एक रस बनाने में ही उसका गौरव मानती है । गौरय्या के प्रति हमारी प्रीति हमारे निजी स्वार्थ से प्रेरित है । हम उस गौरय्या की उच्छलता अपनी संतान में पाना चाहते हैं उस गौरय्या का सहज विश्वास अपनी आनेवाली पीढ़ी को देना चाहते हैं । जो हमसे ढिठाई के साथ हमारी विरासत छीनकर हँसते-हँसते और हमे हँसाते-हँसाते हमसे आगे बढ़ जाएगी ।"[41]

मैंने सिल पहुँचाई

'मैंने सिल पहुँचाई' नामक निबंध संग्रह सन् 1966 में राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित उन्नीस निबन्धों का संकलन है जिसमें मिश्रजी के अनुभव संसार की विविधता झलकती है क्योंकि प्रस्तुत निबन्ध संग्रह में संस्मरणात्मक, प्रकृतिविषयक बुद्धिजीवियों के प्रति एवं अध्यापन वृत्ति आदि को लेकर विविध विषयों पर विभिन्न शैलिओं में निबन्ध लिखे गए हैं ।

"पत्र इण्टेलेक्च्युअल भैया के नाम परंपरा जीजी का" नामक निबन्ध विशेष रूप से काल्पनिकता और कलात्मकता पर आधारित है । चीन और पाक के आक्रमण से संबंधित राजनीतिक विषयों की चर्चा भी हुई है । इस संबन्ध में मिश्रजी का कथन इस प्रकार है -

"चीन और भारत की मैत्री की बात जिन लोगों ने की है उन लोगों ने एक चीज ध्यान में नहीं रखी, चीन से भारत से कुछ ग्रहण किया । उसे अपनी प्रकृति में डाला, पर चीनांशुक और चाय इन दो को छीड़कर भारत को उस ने कुछ दिया नहीं ।"[42]

मिश्रजी मानते हैं कि पाक का आक्रमण किसी अन्य का आक्रमण नहीं अपने भाई का ही आक्रमण है । मिश्रजी की दृष्टि में यह युद्ध बड़ी घटना के निर्माण की ईंटे हैं । इस संबन्ध में लिखते हैं - "पर यह मरना-मारना बहुत बड़ी घटना के निर्माण की ईंटे हैं ।"[43]

'धान-पान और नीली लपटे ' और 'परदेशी की पाती' ये दोनों भ्रमरानन्द नामक कल्पित पात्र द्वारा मिश्र की ओर से पत्रात्मक शैली में लिखे गये निबन्ध हैं । इस संग्रह के 'शिरीष का आग्रह', हिमालय' और 'कटहल' प्रकृतिपरक निबन्ध हैं । 'आज तो हिन्दी अपनों ही से हारी है' में हिन्दी के प्रश्न पर और यह घर तो बख्श दो' में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के प्रति विचार व्यक्त किए गए हैं ।

भोर का आवाहन

भोर का आवाहन' मिश्रजी के श्रेष्ठ पंद्रह निबंधों का संग्रह है जो 1968 ई. में प्रकाशित हुआ । इस निबंध संग्रह में मिश्रजी ने लोक संस्कृति का उद्घाटन किया है । इस संबंध में जॉ. शिवप्रसाद सिंह का कथन है कि "प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान् लोक मंगल की कामना से युक्त जीवन में शिवम् और सुन्दरम् के साथ 'सत्यम्' पर भी अपार निष्ठा रखनेवाला लोक संस्कृति की सरसता एवं मादकता में आकंठ डूबा उन्मुक्त, भावुक, आधुनिक भारतीय संक्रमण काल के मूल्य- बोध का बेहतरीन नमूना होकर भी, उसकी सीमाओं को अतिक्रान्त कर गया ।"[44]

इन निबन्धों में 'आत्मीयता' एवं 'मानव धर्मिता' नामक प्रमुख दो तत्त्वों को महत्व दिया गया है । लेखक मानता है कि मानव की महत्ता बहुत बड़ी है और मानवता एक वृत्ति नहीं संस्कार है, मूल्य है । इस संबन्ध में मिश्रजी के विचार अधोलिखित अनुच्छेद में व्यक्त किए गए हैं - "वे मानव की स्वतन्त्रता और उसके सामाजिक उत्तरदायित्व के बीच एक मनोरम सामंजस्य बना लेते हैं उनके सभी निबंधों में इसी समंजस सेतु का वितान तना रहता है ।"[45]

'भोर का आवाहन' संग्रह की भाषा, शैली के संबन्ध में शिवप्रसाद सिंह का कथन इस प्रकार है - "इनकी भाषा में आपको भोजपुरी संस्कारिता, रात्री की प्रखर धारा हिमालय की तलहटी में रहनेवाले व्यक्तित्व के उत्तुंग श्रृंग और संस्कृत में पले एक खाँटी ब्राह्मण की वदान्यता से पुष्ट वैदुष्य और सबके ऊपर एक आधुनिक बुद्धिजीवी की अपने ही भीतर के देवता और दैत्य से निरंतर युद्धरत रहने की सरगर्मी भी मिलेगी।"[46]

इस निबंध संग्रह के परिचय में मैंने कतिपय समीक्षांओं का सहारा लिया है क्योंकि यह संकलन प्राप्त नहीं हो सका।

वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं

सन् 1970 में प्रकाशित इस निबंध संग्रह में कुल बाईस निवन्ध हैं। पहले छः निबंध वैचारिकता प्रधान है, शेष निबंध विभिन्न विषयों पर आधारित हैं। 'युद्ध और व्यक्तित्व' नामक निबंध में भोजपुरी क्षेत्र और वहाँ के लोगों की विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित कथन के द्वारा व्यक्त किया गया हो - "मैं तो भोजपुरी हूँ जिसके बारे में लोगों का कहना है कि भोजपुरी किसी लड़ाई में तमाशा-बीन नहीं रह सकता है। वह जुल्म के खिलाफ लाठी लेकर खड़ा हो जाएगा।"[47]

'हिप्पी पंथ नामक निबंध में तो निबंधकार ने लोक तत्व एवं लोक संस्कृति की बातोंको मुक्त हस्त द्वारा प्रदान की है। यह एक उदाहरण है - "यह ले जाओ ओडिसा कल्चर की चाँदी की क्लिप, यह लो कश्मीर की नवनीत कामिनी के हाथ का काढ़ा शाल, यह ले जाओ शान्ति निकेतन की करमुद्रा,यह ले जाओ बनारसी काँस्य घंटी, यह ले जाओ मणिपुरी नृत्य की रंगीन चोली, यह लो कथकली का दशाननी मुखौटा, यह लो हीर राँझा का बिगुल, यह लो सुर्क लड्डू-सी मद्रासी चद्दर। हमारी संस्कृति का तामझाम बिकाऊ है।"[48]

'बर्फ और धूप' नामक निबंध में यह बताया गया है कि प्रकृति मानव को कैसे प्रभावित करती है - "बर्फ गिर रही है एक किनारे धूप भी चमक रही है। बर्फ से छत्ते, पेड़ों की नंगो ड़ालें, घास-झाडियाँ, राहें सब ढक गयी है, बच्चे-जवान-बूढ़े सभी बच्चे हो गये हैं, बिना वसंत आये किशोर-किशोरियाँ फगुना रही हैं, बर्फ गेंदों की मार एक दूसरे को पकड़ने की

कोशिश और गिरफ्त हो जाने पर उन्मुक्त चुम्बन का दण्ड, ये तमाशा हैं । महीनों से बूँदा बाँदी की ऊब के कारण यह उल्लास है या इस उल्लास से ऊष्मा का कोई संबंध ही नहीं है ।''[49]

इस निबंध संग्रह के तीन निबंध संस्मरणात्मक तेवर में लिखे गये हैं । ''हिन्दी के अपराजय योद्धाः भैया सारब'' नामक निबंध के अंतर्गत 'सरस्वती' के संपादक तथा भैया सारब के नाम से हिन्दी जगत में विख्यात श्री नारायण चतुर्वेदी के बारे में लिखा गया है । द्विवेदीजी एवं अज्ञेय जी के साथ व्यतीत किये गये क्षणों के बारे में 'निबन्धकार द्विवेदीजी' तथा 'भाई' नामक निबंधों में मिश्रजी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं ।

इस प्रकार मिश्रजी ने लोक-तत्व, लोक-जीवन एवं लोक संस्कृति को विभिन्न शीर्षक निबन्धों के अंतर्गत प्रकट किया है । साथ ही साथ आधुनिक जीवन की विसंगतियों एवं मानव मनोवृत्तियों का भी मर्मभेदी चित्रण किया है । 'वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं' शीर्षक संग्रह इसका ज्वलंत उदारहण है ।

मेरे निबंध मेरी पसन्द के

सन् 1974 में प्रकाशित मेरे निबंध मेरी पसंद के नामक इस निबंध संग्रह में कुल सत्रह निबंध हैं । विद्यानिवास मिश्र द्वारा लिखित इन श्रेष्ठ निबंधों का क्रम तिथिक्रम के अनुसार न होकर एक नये आधार पर है । ऋतु-चक्र, गाँव, देश-विदेश के व्यापक परिवेश पर निर्भर करते हैं । इस संग्रह के कतिपय निबंधों में लेखक के निजी व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी है साथ ही साथ समकालीन बोध की झलक दिखाई पड़ती है । वैसे तो इस संग्रह के सभी निबंध किसी न किसी भीतर की बेतैनी को अभिव्यक्ति देने की लाचारी से लिखे गये हैं । वास्तव में यह संकलन मिश्रजी की आंतरिक भावना की मुक्ति के द्वार हैं ।

हिन्दी की शब्द संपदा

हिन्दी की शब्द संपदा सन् 1970 में प्रकाशित मिश्रजी का एक ऐसा निबन्ध संग्रह है जिसे हम सुविधा के अनुसार शब्द कोश एवं ललित निबंध के रूप में विभाजित कर सकते हैं । लेकिन इस संबंध में मिश्रजी का मानना है - ''यह पुस्तक न तो ललित निबन्धों का संग्रह है, न भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया शोधकार्य है और न शब्द प्रयोग का

ही कोई 'चोखा चौपदा' है । पर मैं स्वयं इसे भाषा विज्ञान की पुस्तक मानने को तैयार नहीं ।''[50]

मिश्रजी भले उसे कुछ कहें लेकिन यह संग्रह उनका एक सर्वथा नूतन प्रयास है । पहला निबंध 'माटी की मूरतें प्रवाह और शक्ति शीर्षक के अंतर्गत मिट्टी से संबंध रखनेवाले विविध शब्दों की विवेचना की गई है । इस पर एक उदाहरण दृष्टव्य है - ''जमीन की बनावट के आधार पर मिट्टी की किस्मों के नाम चलते हैं । पहाड़ी या पठारी इलाकों में पथरीली, कंकरीली (राँकड) ठिकरीली मुरुम (लाल मिट्टी) रामरज गेरु, काली मिट्टी, नदी मातृक खित्तों में बलुही दुम्मट, मटियार रेहार (रेहदार) रेतीली, ककरा (जिसमें उपजाऊपन न हो) ।''[51]

'पानी बिन सब सून' नामक निबंध में पानी एवं जलाशय संबंधी अनेक शब्दों का निरूपण किया गया है । 'छाया तप' में प्रकाश एवं अंधकार से संबन्धित लोकभाषा के शब्दों की विवेचना की गई है । विविध प्रकार के आवाजों केलिए प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या 'आवाजे' नामक निबंध में हुई है । वायु से संबन्धित शब्दों का वर्णन 'हवा का झोंका' नामक निबंध में तथा मेघ से संबन्धित शब्दों का वर्णन 'आना जी बादल जरूर' नामक निबंध में किया गया है । फसल, खेती, साग-सब्जी, बैल-गाय-भैंस आदि अनेक ग्रामीण शब्दों पर लिखा हुआ यह निबन्ध संग्रह लोक भाषा के अध्ययन केलिए निश्चित ही लाभदायक है ।

अंत में शब्दानुक्रमणिका देकर उसे और उपयोगी बना दिया गया है । यह प्रत्येक हिन्दी प्रेमी केलिए पठनीय एवं संग्रहणीय है ।

कंटीले तारों के आर पार

'कंटीले तारों के आर पार' सन् 1976 में प्रकाशित तेरह व्यक्तिव्यंजक निबंधों का संकलन है जो कि मानवीय संवेदनात्मकता एवं सहृदयता का परिचायक है । मिश्रजी के जीवन की मधुर स्मृतियों को इन निवंधों के अंदर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । वस्तुतः अंग्रेजी का 'पर्सनल एस्से' (Personal Essay) को व्यक्ति व्यंजक निबंध की प्रेरणा का मूल स्रोत माना जाता है । इस संबन्ध में विद्यानिवास मिश्र का कथन है - ''हिन्दी के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की अपनी कुछ मौलिक परंपराएँ हैं, जो हिन्दी की प्रकृति के स्वतन्त्र विकास का ही प्रमाण

देती हैं । साथ ही हिन्दी साहित्य प्रारंभ से प्रभाव ग्रहण करने में बरहुत मुक्त रहा है, पर हिन्दी साहित्य का अपना एक स्वतन्त्र स्वर है और ग्रहण किये गये समस्त प्रभावों के इसी स्वर को मुखर करने में हिन्दी के सचेत लेखक और कवि ने बहुत कौशल के साथ बराबर विनियोजित किया है ।''[52]

मिश्रजी 'कंटीले तारों के आर पार' नामक निबंधमें बहुश्रुत होने की शर्त रखते हैं - ''किताबी कीड़ा या पढ़ीस नहीं बल्कि बहुश्रुत का अर्थ है वह ज्ञान के विविध स्रोतों से रसग्रहण करनेवाला हो और उन विभिन्न प्रकार के रसों में एक प्रवाहशीलता देखनेवाला हो । कोरे पांडित्य से निबन्ध नहीं लिखा जा सकता । पर अनपढ़ आदमी भावोच्छ्वास में केवल सुने-सुनाए संस्कारों के बल पर गीत रचना कर ले, लम्बे आख्यान भी रच डाले, वह निबंध नहीं लिख सकता है । निबंध में अनुभव की यात्राओं के संदर्भ अपरिहार्य सूत्र हैं । कहीं कहीं ये सूत्र साहित्य या कला या लोक संस्कृति के संदर्भ से जुड़े होते हैं, कहीं कहीं समसामायिक घटना से या उसकी व्याख्या से या उसके संबंध में किसी वक्तव्य से ।''[53]

मिश्रजी के ये निबन्ध बुद्धिजीवियों के प्रश्नों पर प्रकाश डालते हैं साथ ही साथ उनके अगाध पाण्डित्य का प्रदर्शन भी कराते हैं ।

कौन तू फुलवा बीननि हारी

'कौन तू फुलवा बीननि हारी' सन् 1980 में प्रकाशित चौदह निबन्धों का संकलन है । इस संग्रह में भारतीय संस्कृति के ह्रासोन्मुख रूप पर मिश्रजी की चिन्ता व्यक्त हुई है । इस संग्रह में लोक संस्कृति, ग्रामीण परंपरा, एवं प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य के माध्यम से 'गाते-गाते खेल' नामक निबंध को संपन्न किया । भारतीय संस्कृति की लालित्य संपदा को उद्घाटित करनेवाला 'गंगा के बिंदु-बिंदु में गोविंद' नामक निबंध में भावुक दृष्टि से गंग़ा का स्तवन है, जिस में तात्विक विवेचन भी है रमणीयता के साथ साथ तीर्थयात्रा का वर्णन भी है । प्रत्येक भारतीय की चिन्ता रखना एवं 'भारतीय' शब्द का अर्थ विवरण 'भारतीय कौन' नामक निबंध में मिलता है । 'भैया साहब - हमारे आपके सबके' नामक निबंध में पं.श्री नारायण चतुर्वेदी के व्यक्तित्व का चित्रण है । तीन नदियाँ दीन देश' में विदेश यात्रा का सुखद अनुभव है । थाईलैण्ड, लाओस, वियतनाम की यात्रा का सुन्दर विवरण भी हैं ।

लेखक कल्पनाशील, भावुक, संवेदनशील भारतीय, संस्कृति के रमणीय रूप के अन्वेषक एवं उपासक हैं । मिश्रजी को रोमानी बकवास करनेवाला या अपनी संस्कृति का अंधासक्त मानने की आशंका मन में हैं इसलिए वे इस संग्रह के अंतिम निबंध 'श्री' में लिखते हैं - "मैं जानता हूँ कि मैं जो कुछ सोच रहा हूँ वह रोमानी बकवास या अपनी संस्कृति केलिए अंधासक्ति मानी जाएगी पर आसक्ति तो अन्धी होती है ।"[54] इनके निबंध भारत की वैचारिक भूमि के साथ गहरे स्तर पर जुड़े हुए हैं ।

इस संकलन में मिश्रजी ने व्यापक मानवीय संदर्भ में भारत के सामान्य व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना की सार्थकता जाँचने का प्रयास किया है ।

अस्मिता केलिए

सन् 1980 में प्रकाशित इस संग्रह में कुल चौदह निबंध हैं । प्रस्तुत निबंध संकलन में मिश्रजी ने अपनी अस्मिता को मुखरित करने हेतु शिक्षा, भाषा और संस्कृति आदि विषयों पर अपना चिन्तन व्यक्त किया है । जीवन और साहित्य के विविध आयामों से संबद्ध इन निबंधों में मिश्रजी की विद्वत्ता और सृजनात्मक शक्ति के दर्शन होते हैं । पाठकों केलिए यह बड़ा ही उपादेय एवं ज्ञानवर्धक संग्रह है ।

भ्रमरानन्द के पत्र

'भ्रमरानन्द के पत्र' सन् 1981 में 'प्रभात प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित पंद्रह निबंधों का संग्रह है । यह हिन्दी की व्यंग्य विधा के सिद्धहस्त लेखक श्री लाल शुक्ल को भ्रमरानन्द की ओर से सप्रेम समर्पित निबंध संग्रह है ।

इस संग्रह में मिश्रजी यथार्थ और स्वप्न में कोई अंतर ही नहीं कर पाते हैं, इसलिए बेतुके जोड़-तोड़ दिखलाते हैं । कभी साहित्य और डेरी के, कभी साहित्यकार और ट्रांजिस्टर के और कभी मध्यम वर्ग के मनुष्य और रेल के द्योढ़े दर्जे के । कुल ले-दे के कल्पना की ऐसी उड़ान भरती है कि बिलकुल पाठक अवास्तनिक हो जाता है । भ्रमरानन्द नामक इस छद्म नाम के बारे में मिश्रजी लिखते हैं कि - "मैं सिर्फ इतना जानता हूँ, बहुत पढ़े लिखे आदमी नहीं है । गाँव के सीधे-सपाट आदमी है, शहर में सिर्फ तभी आते हैं जब गाँव में

ठंडाई नहीं मिलती। एकदम अकेले हैं कोई और उनके आगे पीछे है नहीं। इसीसे उन्होंने अपनी रचनाओं का पूरा सत्त्वाधिकार मुझे दे रखा है।''[55] पत्रात्मक शौली में लिखे गए इस संग्रह के निबन्धों के अनुक्रम में लेखन की तिथि भी निर्धारित की गयी है।

तमाल के झरोखे से

यह निबंध संग्रह सन् 1981 में राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित सोलह ललित निबंधों का संकलन है। इस संग्रह के 'साहित्य की मेरी पहचान' नामक निबंध में लेखक जी ने अपनी साहित्यिक विचारधारा को स्पष्ट करते हुए लिखा है - ''साहित्य केवल नदी का बहाव नहीं, वह भी है क्योंकि वह इतिहास के कगारों को ढाहता है, रास्ते के पत्थरों को रेत बनाता है और देश काल से परे उसको ले जाता है, जिसे तोड़ता है और उसको भी जिसे वह बहाव के पानी से भाषा की संवेदना से जोड़ता है।''[56]

'मेरा गाँव घर' में मिश्रजी ने अपनी जन्मभूमि, शिक्षा-दीक्षा बचपन, सरकारी सेवा विश्वविद्यालय की सेवा एवं गोरखपुर, बनारस आगरा आदि का वर्णन किया है।

ऐसे स्मृतियों के राम नामक निबंध के अंतर्गत राम की महिमा का वर्णन किया गया है। विदेश यात्रा के पश्चात् स्वदेश लौटने का सुखद अनुभव का 'वर्णन 'जननी जन्मभूमिश्च' नामक निबंध में मिलता है।

'न पनिया का वह मामूल है' में विन्ध्याचल यात्रा का वर्णन है तो भारतीय नारी की महानता के संबंध में उनके विचार 'काहे बिन सूना आँगनवा' नामक निबंध में व्यक्त हुए हैं। नारी की अस्मिता एवं उनके गुणों का वर्णन करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''भारतीय नारी नरी नहीं हैं, वह नर की वृद्धि है। शास्त्र की बात छोड़ दीजिए, भारतीय लोक विश्वास में जिसके कन्या नहीं होती वह दूसरे की कन्या का कन्यादान करके तरना चाहता है। कन्या दो कुलों को तारती है पुत्र एक कुल का।''[57]

'तोमार की मनेआछे' और 'यात्रा अभी शुरू नहीं हुई' निबंधों में यात्रा से संबंधित विषयों की चर्चा हुई है। भोजपुरी संस्कृति में कार्तिकमास के धार्मिक आचरणों का चित्रण 'आ जाऊँगी बड़ी भोर' नामक निबन्ध में किया है। 'सर्जन के देवता' नामक निबंध में ब्रह्मा

का तथा 'अमृतमात्मन कलाम्' शीर्षक के अंतर्गत ऋषियों की सत्य-भाषण परंपरा का उल्लेख किया गया है ।

परंपरा बंधन नहीं

यह विद्यानिवास मिश्रजी के बारह विचारात्मक निबंधों का संकलन है जिसका प्रकाशन सन् 1977 में हुआ । इस संग्रह के निबंध मिश्रजी के द्वारा अलग-अलग समय पर लिखे गये हैं किन्तु इन सबके पीछे लेखक का एक विशेष वैचारिक आग्रह रहा है । वह यह है कि हिन्दुस्तान के चिन्तन के तो इतनी कोशिश करनी चाहिए कि हम भी अपनी नज़र से अपने को देखें, ऐसा न हो कि पड़े । इस तरह के देश प्रेम को देखते हुए स्वर्गीय डॉ. राममनोहर लोहिया कहते हैं - "हिन्दुस्तानी दृष्टि से हिन्दुस्तान को समझने की एक शुरुआत हुई है । मैं इसको बहुत शुभ लक्षण मानता हूँ ।"[58]

मिश्रजी के इन निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी है । लोक-साहित्य, लोक-जीवन के प्रति उनकी विशेष आस्था रही है । इस लोक साहित्य के संबन्ध में भारतीय लोक साहित्य की पहचान नामक निबंध में वे लिखते हैं - "हम इतना मानकर तो चलें ही कि भारतीय लोक साहित्य की भाषा परिनिष्ठित और साहित्यिक भाषा न होकर साधारण जन की भाषा है और उसकी वर्ण्य वस्तु लोक जीवन में गृहीत चरित्रों, भावों और प्रभावों तक सीमित है । यह तो लोक साहित्य की पहली मर्यादा हुई । इसकी दूसरी मर्यादा है उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं बल्कि समूचे समाज का समवेत योगदान । यही कारण है कि लोक-साहित्य के ऊपर व्यक्ति की छाप न होकर के समग्र व्यक्तिलोक की छाप होती है ।"[59]

इस निबंध संग्रह के निबंधों में मिश्रजी की वैचारिक उन्मुक्तता और प्रतिबद्धता दोनों एक साथ उभर आयी है । इन निबन्धों के जरिए मिश्र ने समर्थन किया है कि परंपरा कदापि वन्धन नहीं, वह मनुष्य की मुक्ति की तलाश है ।

संचारिणी

'संचारिणी' सन् 1982 में प्रकाशित पन्द्रह वैचारिक निबन्धों का संग्रह है । संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि कालिदास की पंक्ति 'संचारिणी दीप शिखेव रात्रौ' से प्रेरित होकर मिश्रजी ने

इस संग्रह का शीर्षक 'संचारिणी' रखा है । इस संबंध में डॉ.मिश्र का कथन है - ''संचारिणी का नाम वस्तुतः विचारिणी रखना चाहिए था, इस संग्रह में विचार प्रधान निबन्धों या वार्त्ताओं का संकलन किया गया है परन्तु कालिदास की पंक्ति 'संचारिणी दीप शिखेव रात्रौ' की स्मृति यकायक कौंधी और नाम संचारिणी रख दिया ।''[60]

इस संग्रह का पहला निबन्ध 'रचना का संकट' है जिस में रचनाकार की समस्याओं के बारे में गंभीर चिन्तन व्यक्त हुआ है ।

मिश्रजी ने भारतीय संस्कृति एवं मानवीय मूल्यों की विशद चर्चा 'संस्कृति और समन्वय', 'रामकथा मेरे लिए', 'धर्मः मानवीय मूल्य', 'हम और हमारे फूल', 'हम और हमारे नदियाँ' आदि निबन्धों में की है ।

'भारतीयता की व्याख्या पुनः पुनः' नामक निबंध में मिश्रजी ने बताया है कि भारतीय होने का अर्थ है कि लोक के शिव केलिए जीना और सृष्टि चक्र के प्रवर्तक के साथ चलना एवं स्वयं केलिए नहीं दूसरों के कल्याण केलिए अपना जीवन अर्पित करना है ।

अन्ततः यह कह सकते हैं कि इस संग्रह में अनेक बौद्धिक विचारों का विश्लेषण हुआ है । तार्किकता का प्राधान्य एवं बुद्धितत्त्व की प्रमुखता इन निवंधों में मिलती है । अतः मिश्रजी का आध्यात्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक निबंधों का उत्कर्ष निबंध संग्रह है ।

अंगद की नियति

यह सन् 1984 में प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पंद्रह आत्म व्यंजक निबंधों का संकलन है जो कि मिश्रजी की गहरी मानवीय संवेदना का सूचक है । देश दर्शन से अधिक देश की भटकी हुई दिशाओं का दर्शन है । ये निबन्ध पाठक को कहीं तोडेंगे तो कहीं बहुत गहरी सचाई से जोडेंगें । इन निबंधों की जमीन व्रज है और व्रज का एक पर्याकुल भाव तारों और जुगुनुओं का टिम-टिमाता आकाश हैं । मिश्रजी के इन निबंधों में एक सूत्रता है, उन के मन की वह उलझन है जिस में नास्ति से जूझते हुए अस्ति को न पाते हुए जीता रहा है । इस प्रकार इन निबंधों में मिश्रजी के विविध भाव व्यक्त हुए हैं ।

गाँव का मन

'गाँव का मन' सन् 1975 में वाणी प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित निबंध संग्रह है । यह आंचलिक परिवेश के पंद्रह निबन्धों का संकलन है । इन निबन्धों में परिवेशगत जीवन को उसके सुख-दुःख, आशा-निराशा, हास-परिहास एवं जय-पराजय के साथ व्यक्त किया गया है ।इसके साथ ही कतिपय लोक कथाओं को भी मिश्रजी ने कथात्मक शौली में वर्णित किया है । इस संबन्ध में यह एक उदाहरण दृष्टव्य है - "शिव ने पार्वती को एक छोटे से पौधे की छाँह में बैठा दिया, स्वयं लोक की चिन्ता में बैल पर निकल गये. सखियाँ आयीं, उन्होने विवाह का बायन माँगा, पार्वती ने हाँडी में हाथ डाला साँप फुफकार उठा, सिन्दूर दानी में हाथ डाला सब सिन्दूर भस्म हुई मिली । सखियों ने ताना दिया कि हमीं अच्छी मीटा खाने पहनने को तो मिलता है और पार्हती तो तीन भुवन की रानी, महादेव की बहुरिया कुछ भी खाने-पीने को नहीं है ।"[61]

इस प्रकार मिश्रजी के इन निबन्धों में व्यंग्य-उपहास, वाक्विदग्धता एवं लालित्य आदि के दर्शन होते हैं ।

अग्निरथ

'अग्निरथ' सन् 1985 में प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इक्कीस निबंधों का संग्रह है । इस संग्रह के अधिकांश निबन्ध यात्रा विषयक हैं । विशेषतः दिल्ली, आगरा, लखनौ में ही इन की रचना हुई । इस निबन्ध संकलन के बारे में विद्यानिबास मिश्रजी स्वयं लिखते हैं - "अधिकांश निबंध संवाद के उद्देश्य से लिखे गये हैं, संवाद स्थापित हुआ या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता । शायद नहीं हीं होगा । आनेवाले एक लंबे समय तक संवाद हीनता ही मनुष्य और मनुष्य के बीच होगी उस स्थिति में संवाद की आकांक्षा की बात बेमानी होते हुए इस रूप में आवश्यक हैं कि जब संवाद शुरु होगा तो कोई पहले का सूत्र होगा ।"[62]

'माँ कदम्ब का पैड़ अगर यह होता जमुना तीरे' नामक निबंध में भारतीय संस्कृति, लोकजीवन, प्रकृति आदि विषयों की चर्चा हुई है । 'अग्निरथ' निबंध में एक ओर वसंत के मोहक रूप का चित्रण किया है तो दूसरी ओर उसके अभाव का चित्रण भी किया गया

है । इस संबंध में मिश्रजी के लयात्मक शब्दों का कथन है - यौवन का नहीं, यौवन की उमंग नहीं, वसंत का नहीं, वसंत के मीत का नहीं बल्कि आज बुलानिन का, कल शाह सऊद का और परसों महाराज त्रिभुवन का, आज शांति का कल इस्लाम के बन्धुभाव का और परसों बौद्ध अनात्मवाद का ।''[63]

माँ के प्रति एवं मातृभूमि के प्रति मिश्रजी की आस्था एवं प्रेम का सजीव चित्रण 'माँ और धरती नामक निबंध में अंकित हुआ है । कॉनडा और पश्चिम जर्मनी के यात्रा से उत्पन्न अनुभूतियों का परिचायक निबंध 'चनल-चहत रघुरैया' है । 'आलोक-पर्व या तिमिर पर्व नामक निबंध मन, वाक् एवं काय से संबंधित धार्मिक निबंध है । 'अपनी वापसी कविता की वापसी नहीं' नामक निबंध साहित्य से संबंधित है । 'नारियल' नामक सांस्कृतिक निबंध में मिश्रजी की भावना को निम्नलिखित वाक्यों से देख सकते हैं - सम्मानित व्यक्ति को, आतिथि को, अपने जामाता को नारियल की भेट दी जाती है तो उसके पीछे भी यही अभिप्राय है कि तुम हमारे जीवन में अंतर्निहित समूची श्रद्धा भावना ले जाओ । यह नारियल केवल भाव-प्रधान है ।''[64]

हमारी परंपरा और हम, बढ़ती समृद्धीः बिखरती संस्कृति, देश की पहचान, ब्रज में ब्रजन आदि निबन्ध इस संकलन के अन्य उत्कृष्ट निबंध हैं ।

महाभारत का काव्यार्थ

यह सन् 1985 में प्रकाशित निबंध संग्रह है जिस में विद्यानिवास मिश्र ने महाभारत के विभिन्न कथा प्रसंगों की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है । महाभारत का सत्य, महाभारत की पीड़ा एवं महाभारत की आध्यात्मिकता नामक इन तीन निबन्धों में लेखक ने महाभारत की एकान्विति पर समग्र दृष्टि से विचार किया है । लेखक का यह मत है कि महाभारत का रस न शांत है न करुण । किन्तु मुख्य रस एक अव्यय भाव है, एक अच्युत भाव है, एक सर्व भूतात्म भाव है । महाभारत के वाचन परंपरा भी भागवत के प्रादुर्भाव के बाद कम हो गई । लेखक यह भी मानते हैं कि महाभारत के काव्य पक्ष पर पुनर्विचार उन्नीसवीं शताब्दीं में शुरु हुआ जब उसका रमेशचन्द्रदत्त द्वारा अंग्रेजी में अनुवाद हुआ । उस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर,

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, बाल गंगाधर तिलक जैसे विचारकों का ध्यान गया । तब भी मुख्यतः ग्रन्थ के आध्यात्मिक संकेतों के निरूपण तथा महाभारत के सामाजिक दर्शन के विश्लेषण पर अधिक बल रहा । मिश्रजी महाभारत की एकान्विति पर साहित्य की दृष्टि से समग्र विचार करते हुए महाकाव्य की व्याख्या करते हैं - "महाभारत इतिहास का काव्य है, इतिहास नहीं और आज के संदर्भ में तो कतई नहीं, वह निरंतर सोचने और नये सिरे से सोचने केलिए पग-पग पर उकसाया करता है, यही उसकी चरम चरितार्थता है । वह सोचता मनुष्य के बारे में ही उसके संबन्ध के बारे में ही या उसके भीतर के द्वन्द्वों के बारे में ही, प्रत्येक देश काल में नए सिरे से शुरू होता है । महाभारत इस सत्य शोधन की एक अपरिहार्यता को नियति नहीं मानता, लाचारि नहीं मानता इसे सत्य का ही स्वभाव मानता है जैसे छाया का बदलता हुआ रूप प्रकार का ही स्वभाव होता है ।"[65]

इस संग्रह से यह स्पष्ट होता है कि मिश्रजी ने काव्य पक्ष का निरूपण करने का सफल प्रयास किया है । अंत में परिशिष्ट भी दिया गया है जिस में दिये गये आख्यानों के सार से पुस्तक का महत्त्व और बढ़ जाता है ।

लागौ रंग हरी - श्याम रसायन

'लागौ रंग हरी' सन् 1985 में प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित ग्यारह व्याख्यानों का संग्रह है । यह मध्ययुगीन वैष्णव भाव की, मंझधार में बहती हुई धारा की पूरी यात्रा है । यद्यपि यह भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिश्रजी के द्वारा दिए गए व्याख्यानों का संग्रह है, तथापि इन व्यख्यानों में एक सूत्रता है । पहले दो व्याख्यान पुणे विद्यापीठ में गुरुदेव रानडे स्मृति व्याख्यानमाला' के अंतर्गत दिये गये और तीसरा व्याख्यान जयदेव प्रयाग संग्रहालय में गीतगोविन्द प्रसंग पर आयोजित संगोष्ठी में दिया गया । अन्य व्याख्यान लखनऊ के आकाशवाणी केन्द्र पर आयोजित सभा में प्रस्तुत किये गये । इन व्याख्यानों के बारे में मिश्रजी ने स्वयं लिखा है - "भक्ति काव्य को भावक की दृष्टि से, भक्त या साहित्य शास्त्री या आधुनिक समीक्षक की दृष्टि से नहीं देखने की परखने की कोशिश की गई है । एक प्रकार से समीक्षक के महाजाल से बचे पाठकों से संवाद स्थापित करने की कोशिश की गयी है ।"[66]

मिश्रजी 'भक्ति रस का अनुभव' शीर्षक के अंतर्गत लिखते हैं कि भक्ति की कोटि में पहुँचे बिना भक्ति रस का अनुभव नहीं किया जा सकता है । भक्ति रस का अनुभव भक्ति के अनुभव से भिन्न हैं । मिश्रजी के शब्दों में - "वैष्णव भक्ति इस उद्वेग की संभवना जड़ चेतन विश्व के प्रत्येक कण में देखती है । यह सोचना कि जमुना के किनारे के एक छोटे से क्षेत्र में श्री कृष्ण और राधा के प्रेम को परिधि बनाकर इस उद्वेग की भावना की गई है । इसलिए यह बहुत ही संकुचित है, देश की बड़ी सच्चाई को अनदेखा करना है ।"[67]

जयदेव, विद्यापति मीरा सूर तुलसी रहीम एवं रसखान से संबद्ध इन व्याख्यानों को पुस्तक रूप देते समय श्री सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'जी ने 'लागौ रंग हरी' और 'श्याम रसायन' दो नाम सुझायें । परंतु हरि में रंगना, रंगना मात्र तो है नहीं, वह श्याम रस का आस्वाद भी बनना है" इस प्रकार सोचकर मिश्रजी ने दोनों नामों को जोड़ दिया ।

मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

यह सन् 1976 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित सत्रह निबंधों का संकलन है । अधिकांश निबन्धों में विन्ध्य प्रदेश के सांस्कृतिक प्राकृतिक एवं भौकोलिक परिवेश को चित्रित किया गया है । इन निवंधों में मिश्रजी ने विन्ध्य प्रदेश के लोक जीवन तथा लोक संस्कृति की बातों को शब्दों के सहारे पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है । विन्ध्य की विशेषता से आकर्षित होकर मुकुट मेखला और नूपुर निबंध में मिश्रजी कहते हैं - "विन्ध्य की विशेषताएँ भारत का केवल अलंकार बनने केलिए नहीं बल्कि उसका हृदय बनने केलिए मुझे अधिक उपयुक्त लगीं क्योंकि आखिर समस्त शरीर के रक्त का आकर्षण-विकर्षण ही तो हृदय का काम है । भौगोलिक स्थिति से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह प्रदेश उत्तर और दक्षिण पूर्व और पश्चिम भारत का सन्धि स्थल रहा है ।"[68]

'विन्ध्य की धरती का वरदान' नामक निबंध में मिश्रजी ने विन्ध्य के प्रकृति का वर्णन किया है - "आकाश चुम्बी सरई के वक्ष का अविरल फैलाव है । कड़ी चट्टानों के रंध्रों में हरियाली उमगानेवाली सदा जीवन्ती औषधियों का विनम्र विस्तार भी है । जहाँ कुरंगियों के भयभीत लोचनों से वाम लोचनाओं के नयनों के नाप-जोख के सहज प्रयत्न है, वहाँ बादल का हृदय दहलानेवाला सिंहों का अमंद गर्जन भी है ।"[68]

'अमर कंटक की सालती स्मृति' यात्रा विषयक निबंध है । नर्मदा कुण्ड में विचरण के समय उत्पन्न अनुभूतियों का मरोरम चित्रण इसमें मिलता है ।

डॉ.बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी भारत के महामहिम राष्ट्रपति बनकर 1953 में विन्ध्य प्रदेश में उनका शुभ आगमन हुआ था । इस संबंध में लिखा गया निबंध ही राष्ट्रपति की छाया है । बेतना के तीर पर, रेवा से रीवा, कलचुरियों की राजधानी गुर्गी रूपहला धुआँ आदि निबंध मिश्रजी के उत्कृष्ट यात्रा परक निबंध हैं ।

'होइ है शिला सब चन्द्रमुखी' नामक निबन्ध के द्वारा मिश्रजी खजुराहो का समग्र परिचय कराते हैं । पांठक इस माध्यम से खजुराहो का प्रत्यक्ष दर्शन करता है ।

'मेघदूत का सन्देश' नामक निबंध में मिश्रजी का संदेश है कि यथार्थ और आदर्श के बीच में, कल्पना और यथातथ्य के बीच में, इतिहास और भूगोल के बीच में नगर के परिष्कृत जीवन तथा गाँव के निर्व्याज जीवन के बीच में सामंजस्य स्थापित करने केलिए 'मेघदूत' का पात्र अत्यंत महत्वपूर्ण है । इस संबन्ध में मिश्रजी लिखते हैं - ''आज जब राष्ट्र के गौरव को पहचानने की मंगलवेला आयी है, तब उसके उपादानों का अध्ययन एक व्यापक दृष्टि से होना अत्यंत आवश्यक है और इसलिए मेघदूत के विशद अध्ययन की आज सबसे अधिक आवश्यकता है क्योंकि राष्ट्रीयता का समग्र रूप में दर्शन अकेले किसी ग्रन्थ में है तो वह मेघदूत में है ''।[70]

'स्वाधीनता युग के कटघरे में हिन्दी' नामक निबंध भाषा विषयक निबंध है जिस में भारतीय अन्य भाषाओं के साथ अंग्रेजी उर्दू की तुलना भी हिन्दी से हुई है ।

बचपन से ही मिश्रजी का जुड़ाव लोक जीवन एवं लोक-संस्कृति से है । इस लोक संस्कृति को उनके निबन्धों में सर्वत्र देख सकते हैं । 'मेरे राम का सुकुट भीग रहा है' नामक निबंध रचना का स्रोत भी लोक गीत से है जिसको बाल्यावस्था में दादी-नानी के साथ गाया करते थे । ''मेले राम का भीजै मुकुटवा, लछिमन के पटुकना, मोरी सीता के भीजै सेनुरवा त राम घर लौटहिं ।''[71]

भोजपुरी व्यंजना के साथ संस्कृतनिष्ठ भाषा में लिखित यह "मेरे राम का मुकुट भीग रहा है" एक सर्वोत्कृष्ट विचारात्मक निबंध है ।

साहित्य की चेतना

यह सन् 1937 में विन्ध्याचल प्रकाशन इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित सत्रह निबंधों का संग्रह है । इस में संकलित निबंध निर्बंध साहित्य चेतना का ही साक्षी हैं । इन निबंधों में एक ओर विभिन्न प्रसंगों की चर्चा है तो दूसरी ओर लोक साहित्य की सरसता और लोक संस्कृति की तरलता विद्यमान है ।

इस प्रकार ये निबंध हमारी साहित्य अस्मिता की पहचान तो कराते ही हैं । इनके अध्ययन से मन की अतुल गहराई में उतरकर अपने भीतर के शिव और सुन्दर के साक्षात्कार हो उठता है ।

शेफाली झर रही है

यह सन् 1987 में प्रकाशित तेरह निबंधों का संकलन है । संग्रह के प्रथम निबंध 'शेफाली झर रही है' में लेखक ने हिन्दी की वर्तमान दुरवस्था पर विचार व्यक्त किया है । इस संबंध में मिश्रजी का यह कथन दृष्टव्य है - "जो इस देश में हिन्दी बोल पाता था सभा में वह कानून में देश की प्रथम संपर्क भाषा घोषित न होने के बावजूद टूटी-फूटी हिन्दी से शुरु करता या और अंग्रेजी में बोलने केलिए माफ़ी माँगता था, आज तो यह स्थिति है कि लोग अंग्रेजी नहीं बोल पाते तो हिन्दी में बोलने केलिए माफ़ी माँगते हैं ।"[72] इस संग्रह के निबंध शहर और गाँव के बीच की बेपहचान होती जारही दुखती रग पर लग रहे चीरे की निस्बत हैं । तथा बदशकल और बेजान कर रही ताकतों के खिलाफ़ लड़ते हैं । साथ ही साथ सोच और समझ के मोर्चे पर भारतीय मेधा को चुप चाप निःसत्व करने का जो भीतर धाती खेल चल रहा है, उसकी चालों से आग्रह करते हैं ।

संस्मरण और कथात्मकता के संयोग से मिश्रजी ने निबंधों की जो नयी आत्मीय दुनिया निर्मित की है वह गहरे अर्थों में भारतीय मन और संवेदना से उपजी दुनिया है । 'शेफ़ाली

झर रही है' संग्रह के निबंधों से गुजरना परिवेश की गंध और जमाने की आँच से परिचित होना है ।

भारतीयता की पहचान

'भारतीयता की पहचान' सन् 1989 में प्रकाशित संग्रह है जिस में मिश्रजी के द्वारा दिये गये कुछ व्याख्यान एवं लिखित निबंध संकलित है । इन निबंधों में मिश्रजी भीरतीयता की पहचान को अपनी ही पहचान मानते हैं और इसकी सार्थकता को निरंतर अनुभव करते हुए विश्व संस्कृति को समझने केलिए भारतीय संस्कृतिको माध्यम बनाते हैं । इस संग्रह के निबंधों में भारत की उदारता और व्यापक विश्व दृष्टि को पहचानने की कोशिश की गई है ।

मिश्रजी ने इस संग्रह में कुमारस्वामी के तात्विक तथा कथात्मक चिन्तन से आरंभ करके लोक और शास्त्र, मनुष्य और उसके परिवेश, विज्ञान औह साहित्य आदि विषयों का विवेचन करके होली नवरात्र, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि भारतीय पर्वों पर प्रकाश ड़ालते हैं । भारतीय एकता और भारतीय सनातन मूल्य के विषयों की चर्चा की है । साथ ही साथ हिन्दू होने का मतलब बताते हुए हिन्दू धर्म और संस्कृति का संपूर्ण विश्लेषण भी किया है ।

इन सभी निबन्धों में भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में विश्व संस्कृति को समझने की एक ललक है, आकांक्षा है ।

भावपुरुष श्रकृिष्ण

भावपुरुष श्रीकृष्ण' सन् 1939 में प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित चार व्याख्यानों का संग्रह है । श्रमद् भागवत का दिव्य तत्त्व, मानवीय तत्त्व, भक्ति, भक्तिकाव्य और भक्ति रस नामक तीन निबन्ध श्रमिद्भागवत से संबंधित है । और चौथा 'गीत गोविन्द: नया शुभारंभ' शीर्षक निबन्ध जयदेव कृत गीत गोविन्द पर आधारित है । इन निबन्धों के माध्यम से मिश्रजी ने प्रस्तुत किया है कि राधातत्त्व कृष्णतत्त्व का पूरक है । इन दोनों तत्त्वों से ही भारत का हृदय निर्मित हुआ है । इस संग्रह ने हिन्दी साहित्यिक श्रेत्र में अपना एक विशेष स्थान प्राप्त किया है । वैष्णव भक्ति रस से संबंधित यह अपूर्व सरस एवं सुगठित रचना है । पाठक इसको पढ़ते-पढ़ते श्रीकृष्ण लीला में तन्मय हो जाता है । इसमें मिश्रजी के द्वारा सहज-सरल एवं स्वाभाविक ढंग से विषय की प्रस्तुत की गयी है ।

नदी, नारी और संस्कृति

यह सन् 1993 में प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित चौतीस निबंधों का संग्रह है । इस में मिश्रजी ने समसामयिक प्रसंगों के तहत नदी नारी और संस्कृति के महत्व को रेखांकित किया है । इस संबंध में मिश्रजी का कथन है - "यह संस्कृति नये-नये अवतरण की नये-नये जन्म की, प्रत्येक उत्सव में नये होने की कामना की संस्कृति है । इसी अर्थ में नदी, नारी और संस्कृति तीनों एक दूसरे में ओत प्रोत हैं ।"[13]

मिश्रजी ने अन्य निबंधों में भारतीय संस्कृति, राज्य और संस्कृति, राजनीतिक संस्कृति, सांस्कृतिक पहचान और विकास आदि विषयों पर अपने गहन विचार व्यक्त किये हैं ।

साहित्य का खुला आकाश

साहित्य का खुला आकाश' 1996 में प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित सत्रह निबंधों का संकलन है । इस में दो खण्ड है । पहले खण्ड के अंतर्गत 'साहित्य अमृत' पत्रिका के प्रथम वर्ष के संपादकीय लेख सम्मिलित हुए हैं तो दूसरे खण्ड में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये व्याख्यानों का संकलन है । इस संग्रह में मिश्रजी साहित्य की चिन्ता, परंपरा, संस्कृति की आलोचना करते हुए साहित्य और लोक, साहित्य और काम पुरुषार्थ स्मृति और विस्मृति, साहित्य और इतिहास, साहित्य और राजनीति आदि विषयों पर गंभीर एवं विशद चर्चा करते हैं । इस संबन्ध में यह उदाहरण दृष्ट्व्य है - "साहित्य के द्वारा समझने का अभिप्राय हैं साहित्य के भीतर झंकृतियों को पहचानना, उल झंकृतियों को माध्यम से मनुष्य के हृदय को तरंगित करनेवाली सहज जातीय सहृदयता को पहचानना । साहित्य मझधार का अनुभव है ।"[14]

इस प्रकार इन निबन्धों में मिश्रजी के बहुचिंतित या अनुशीलित विचार व्यक्त हुए हैं । यह संचित साहित्य अनुभवों का आकलन नहीं है बल्कि यह एक खुला आकाश है ।

विद्यानिवास मिश्रजी की रचनाओं का सम्यक एवं समग्र अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वे कवि, आलोचक, अनुवादक, संम्पादक, भाषाविद और सांस्कृतिक चिन्तक

है लेकिन वस्तुतः निबन्धकार है जो कि उनके निबन्ध लेखन की कला से जाना जा सकता है । भारतीय संस्कृति की वह परम्परा जो कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थापित की थी, उसके आगे बढ़ाने में इनका महत्वपुर्णयोगदान है । मिश्रजी के निबंध लेखन का फलक व्यापक एवं बहुवर्णी है, जिस में अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के जीवन की झलक भी मिलती है । निबन्ध के लगभग सभी प्रकारों और शैलियों का प्रयोग मिश्रजी ने किया है । वैसे इनकी ख्याति सांस्कृतिक चेतना एवं ललित निबंधों के लेखन के रूप में मानी जाती है । मिश्रजी भ्रमणशील स्वभाव के कारण जहाँ भी गये वहाँ के दृश्य एवं घटनाएँ उनके निबंध के विषय बनगये । गाँव के प्रेमी मिश्रजी के निबन्धों में लोकजीवन की महक सर्वत्र विद्यमान है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रजी ने संस्कृति, लोकजीवन, धर्म, आध्यात्म, दार्शनिकता, साहित्य, कला, ज्योतिष, भाषा, ज्ञान-विज्ञान आदि विषयों पर विभिन्न शैलियों में निबंध लिखे हैं जिनका उल्लेख मैंने यथाशक्ति इस अध्याय में किया है ।

संदर्भ - ग्रन्थ

1. विद्यानिवास मिश्र — तमाल के झरोखे से, पृ.12.
2. वही — नैरन्तर्य और चुनौती, पृ.37.
3. वही — वही, पृ.40.
4. वही — देश, धर्म और साहित्य, पृ.106.
5. वही — भारतीयता की पहचान, पृ.72.
6. वही — तमाल के झरोखे से, पृ.36.
7. वही — वही, पृ.39.
8. वही — संचारिणी, पृ.64.
9. वही — वही, पृ.69.
10. वही — तुम चन्दन, हम पानी, पृ.95.
11. वही — संचारिणी, पृ.40.
12. वही — अग्निरथ, पृ.101.

13. विद्यानिवास मिश्र — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.35.
14. वही — अग्निरथ, पृ.103.
15. वही — नैरन्तर्य और चुनौती, पृ. 96.
16. वही — संचारिणी, पृ.42.
17. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.48.
18. वही — वही, पृ.48.
19. वही — वही, पृ.49.
20. वही — वही, पृ.88.
21. वही — वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.67.
22. वही — अग्निरथ, पृ.70.
23. वही — वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.41.
24. वही — तुम चन्दन, हम पानी, पृ.30.
25. वही — वही, पृ.101.
26. वही — रीति विज्ञान, पृ.1.
27. वही — तुम चन्दन, हम पानी, पृ.27.
28. वही — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.98.
29. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी — अशोक के फूल, पृ.77.
30. डॉ.श्रीपाद — सरस्वती, पृ.7.
31. डॉ.हर्षनारायण नीरव — समीक्षा, पृ.78.
32. प्रा. देशवाल — हिन्दी ललित निबंध स्वरूप एवं मूल्यांकन, पृ.41.
33. विद्यानिवास मिश्र — संचारिणी, पृ.15.
34. डॉ. रामचन्द्र तिवारी — हिन्दी साहित्य, पृ.65.
35. विद्यानिवास मिश्र — छितवन की छाँह, पृ.18.
36. वही — वही, पृ.30.
37. वही — कदम की फूली डाल, पृ.2.

38. विद्यानिवास मिश्र — कदम की फूली डाल, पृ.97
39. वही — तुम चन्दन हम पानी, पृ.124.
40. वही — आंगन का पंछी और बंजारा मन, (भूमिका).
41. वही — वही, पृ.13.
42. वही — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.23.
43. वही — वही, पृ.25.
44. डॉ.शिवप्रसाद सिंह — भोर का आवाहन, (भूमिका).
45. विद्यानिवास मिश्र — भोर का आवाहन, पृ.6.
46. वही — वही.
47. वही — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.39.
48. वही — वही, पृ.98.
49. वही — वही, पृ.88.
50. वही — हिन्दी की शब्द सम्पदा, (भूमिका).
51. वही — वही, पृ.9.
52. वही — कंटीले तारों के आर-पार, पृ.106.
53. वही — वही, पृ.110.
54. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.103.
55. वही — भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.8.
56. वही — तमाल के झरोके से, पृ.11.
57. वही — वही, पृ.37.
58. वही — परंपरा बंधन नहीं, पृ.9.
59. वही — वही, पृ.55.
60. वही — संचारिणी, (भूमिका).
61. वही — गाँव का मन, पृ.72.
62. वही — अग्निरथ, (भूमिका).

63. विद्यानिवास मिश्र — अग्निरथ, पृ.11.
64. वही — वही, पृ.46.
65. वही — महाभारत का काव्यार्थ, पृ.40.
66. वही — लागौ रंग हरी, (आभार).
67. वही — वही, पृ.40.
68. वही — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.4.
69. वही — वही, पृ.8.
70. वही — वही, पृ.57.
71. वही — वही, पृ.101.
72. वही — शेफाली झर रही है, पृ.10.
73. वही — नदी, नारी और संस्कृति, पृ.12.
74. वही — साहित्य का खुला आकाश, पृ.62.

तृतीय अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबन्धों में लालित्य योजना का तात्विक विश्लेषण

तृतीय अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबन्धों में लालित्य योजना का तात्विक विश्लेषण

निबन्ध शब्द का व्युत्पत्तिपरक एवं कोषगत अर्थ

निबन्ध शब्द आज साहित्य की जिस विधा के रूप में प्रचलित है, वह हिन्दी साहित्य की नूतन विधा है । इसका विकास पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर युग की परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ । वस्तुतः निबन्ध शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'भगवद्गीता' में बाँधने के अर्थ में मिलता है । नियतः बन्धः निबन्धः । यहाँ भगवान् श्री कृष्ण ने आसुरी संपदा को बांधने के अर्थ में निबंध शब्द का प्रयोग किया है ।

निबन्ध शब्द मूलतः हिन्दी का तत्सम शब्द है । संस्कृत में इसकी व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार प्राप्त होती हैं ।

नि + बंध् + ल्युट् = निबध्यते अस्मिन् इति अधिकरणे निबन्धनम् अर्थात् जिसमें विचार बाँधा जाए या गूँथा जाए, ऐसी रचना निबन्ध कहलाती है ।

नि + बंध् + घञ् = निश्चितार्थेन विषयम् अधिकृत्य बंधनम् निबंधनम् अर्थात् निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की श्रृंखला को बाँधने या संग्रह करने को निबंध कहते हैं ।

उक्त अर्थों के आधार पर 'निबंध' से यह अभिप्राय निकलता है कि वह विचारों या भावों को पूर्णतया बांधनेवाला, एकत्र करनेवाला, संगठित कनरेवाला, जोड़नेवाला या रोकनेवाला होता है ।

यद्यपि 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में अत्यंत प्राचीन काल से मिलता है तथापि साहित्य में उपलब्धकृतियों एवं स्रोतों के आधार पर वस्तुनिष्ठ स्वरूप ही अभिव्यक्त होने के कारण स्वतंत्र एवं विच्छिन्न स्थलों को निबंध मानना उचित नहीं है । प्राचीन काल में लोग भोज-बत्र, ताल-पत्र, वस्त्र लकड़ी की पट्टी, पत्थर आदि पर लिखा करते थे । इनका

नष्ट होने से रोकने केलिए वे ताल-पत्रों वस्त्रादि को सावधानी से बाँधते, गूँथते एवं संग्रह करते थे । कालांतर में बांधने-गूँथने के भावों से युक्त रचना को ही निबंध कहा जाने लगा । इस प्रकार निबंध शब्द का प्रयोग भाष्यों, टीका ग्रन्थों, साहित्यिक, दार्शनिक, धार्मिक आदि ग्रन्थों केलिए भी होने लगा ।

मानक हिन्दी कोश में रामचन्द्र वर्मा ने निबंध के बारे में लिखा है - "निबंध - कोई चीज़ किसी के साथ जोड़ने, बांधने या लगाने की क्रिया का भाव (2) अच्छी तरह गंठाया बन्धा हुआ पदार्थ (3) वह जिस से कोई चीज किसी के साथ जोड़ी बाँधी या लगाई जाए (4) आजकल साहित्यिक क्षेत्र में वह विचारपूर्ण विवरणात्मक और विस्तृत लेख जिसमें किसी विषय के सब अंगों का मौलिक और स्वतंत्र रूप से विवेचन किया गया हो ।"[2]

निबंध में निबंधकार का व्यक्तित्व ही प्रधान रहता है । वह अपने व्यक्तित्व के संस्पर्श से संपर्क करके किसी भी विषय का प्रतिपादन स्वच्छन्दता एवं सरसता से करता है । निबंध के दो मुख्य भेद हैं - व्यक्तिगत और वस्तुगत । इन्हीं को विद्वान अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक संज्ञाऐं देते हैं । उन में नाम अनेक होते हैं, आत्मा एक रहती है । इन्ही व्यक्तिगत निबन्धों को कुछ मनीषियों ने ललित निबंध माना है । इस ललित निबंध के विषय में विचार करने से पूर्व ललित शब्द पर विचार करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है ।

ललित शब्द का व्युत्पत्तिपरक एवं कोषगत अर्थ

'ललित' - 'लल' धातु को 'क्त' प्रत्यय लगाने से ललित शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है - सुंदर । इसीलिए ललित का ध्यान आते ही सुन्दरता का प्रतिबिंब मन में उभर आता है । यह वर्ण्य वस्तु के स्थान पर उसके प्रतिरूप का वर्णन करनेवाला एक अलंकार भी है ।

बृहत् हिन्दी कोश में ललित शब्द के निम्न अर्थ बताए गए हैं - 'ललित : कोमल, सुंदर मनोहर, अभिलषित ।'[3]

गोविंद चातक[4] ने निम्न अर्थ बताया हैं ।

ललित - सुंदर, मनोहर, सुहावना, प्रिय, प्रांजल, गतिशील । क्रीड़ासक्त खेलनेवाला क्रीड़ाप्रिय विषयासक्त ।

वामन शिवराम आप्टे[5] ने 'ललित' शब्द के निम्न सात अर्थ बताए हैं -

ललित- क्रीड़ासक्त, खेलनेवाला, इठलानेवाला

- श्रृंगार प्रिय, क्रीड़ाप्रिय स्वेच्छाचारि विषयासक्त
- प्रिय, सुंदर, मनोहर, प्रांजल

सुहावना, लावण्यमय, रुचिकर, बढ़िया

अभीष्ट

मृदु, कोमल

थर-थराता हुआ, कंपायमान

मानक हिन्दी कोश में रामचन्द्र वर्मा[6] ने ललित शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए निम्न अर्थ लिखते हैं ।

ललित - लल (इच्छा + क्त) मनोहर, सुंदर, कोमल, अभिलषित

प्रिय प्यारा

चलता या हिलता हुआ

श्रृंगार रस का एक कायिक हाव

एक अलंकार

विषय वर्णवृत्त

षाड़व जाति का एक राग जो प्रातःकाल में गाया जाता है ।

ललित पद वह है जिस में सुंदर पद या शब्द हो । जिस छन्द में 28 मात्राएँ हैं वह छन्द ललित पद कहलाता है । जब ललित शब्द की पुनरावृत्ति की जाती है तो उससे अधिक का भाव प्रकट होता है और ललित-ललित का अर्थ हुआ बहुत सुंदर । ललित कला वह कला है जिसके व्यक्त करने में किसी प्रकार के सौंदर्य की अपेक्षा होती है जैसे संगीत फाइन आर्ट आदि । जब हमारे सम्मुख कोई सुंदरता से परिपूर्ण वस्तु होती है तो उसके उस सौन्दर्य बोध

केलिए ललिताई शब्द का प्रयोग होता है । ललित शब्द केलिए अंग्रेजी में "Pretty, Elegant, Comely, Sweet and Graceful"[7] आदि कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।

इस प्रकार 'ललित' शब्द के कोष परक एवं व्युत्पत्ति परक अर्थों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ललित शब्द का प्रयोग सुंदर मनोहर, मनोरम आदि केलिए ही किया जाता है ।

हिन्दी में ललित निबंध शब्द मराठी मूल से आया है । मराठी साहित्य में वि.स. खाण्डेकर श्रेष्ठ ललित निबंधों के स्रष्टा हैं । 'बिट्टालीज' शब्दावली में ललित शब्द सबसे पहले प्राप्त हैं । ललित निबंध को व्यक्तिगत निबंध, वैयक्तिक निबंध, कलात्मक निबंध, विषय प्रधान निबंध, व्यक्तिव्यंजक निबंध और आधुनिक निबंध भी कहा गया है ।

ललित साहित्य का तात्पर्य है कि सौंदर्यनिष्ठ साहित्य । इस ललित साहित्य में भावपक्ष की प्रधानता, भावना परिष्कार कल्पना विलास, कलात्मकता आदि सौंदर्य के उपकरण हैं । इस वृत्ति की प्रधानता रहती है जिसे भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में क्रीड़नीयक कहा है ।

इस प्रकार ललित शब्द का व्युत्पत्तिक एवं कोशगत अर्थ जान लेने के बाद कतिपय विद्वानों द्वारा दी गये परिभाषाओं को भी जान लेना समीचीन होगा ।

ललित निबंध की परिभाषा

डॉ. रमेश कुन्तल 'मेघ' लिखते हैं - ''पहली कोटि के अंतर्गत भावात्मक या व्यक्तिगत निबंधों को रख सकते हैं जिनको लिरिकल बोध एवं मनोनिज्ञान से जोड़ा जा सकता है । नितांत व्यक्तिगत निबंध चारु निबन्ध हो जाते हैं वैसे ललित होना इनका प्रधान गुण है ।''[8]

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का कथन इस प्रकार है -

''वैचित्र्य या कोई विशेष मनोदशा जब अपने को प्रकट करने केलिए एक लीला भाव अपनायें जब निबंध में प्रस्तुत की गई वस्तु का चयन और नियोजन राग रंजित दृष्टि से किया जाय तभी रचना के लालित्य को महत्व का स्थान दिया जायेगा और तभी निबन्ध ललित निबंध कहलायेगा ।''[9]

डॉ. जयनाथ 'नलिन' लिखते हैं - ''रमणीय रागात्मक गद्य शैली में शिल्पा की सहज अनुभूति और निजी चिंतन की विडम्बना ही ललित निबन्ध है ।''[10]

डॉ. कीर्ति वल्लभ शर्मा ललित निबंध के विषय में लिखते हैं - ''ललित निबंध काव्य की वह विधा है, जिसमें लेखक के स्वच्छन्द चिंतन निजी निश्छल अनुभूतियों की सरस रागात्मक एवं रंजक अभिव्यक्ति हो ।''[11]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ललित निबंध की परिकल्पना के बारे में हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि निबन्ध तभी ललित विशेषण को सार्थक करता है जब उस में भावगत लालित्य और पद संरचनागत लालित्य का समायोजन हो जाता है । कोमलकांत पदावली, काव्य-गन्धी गद्य, वाक्यों की रम्य रचना, शैलिगत माधुर्यता इसकी विशेषता है ।अनुभूति कल्पना एवं विचारों का समन्वय से ही ललित विबन्ध की रचना होती है । हृदयगत आवेगात्मक प्रतिक्रिया से युक्त विचार से प्रभावित होकर ही रचनाकार ललित विबंध की रचना करने लगता है ।

ललित निबंध के स्वरूप के बारे में यह कहा जा सकता है कि इस में बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता विषय प्रधानता के स्थान पर वर्ण्य विचारों की सूत्रबद्धता, वैचारिकता के स्थान पर मन-मौजीपन, प्रकृति-प्रेम, लोक संस्कृति के प्रति आकर्षण, संदर्भ के अनुसार सामान्य विषयों को भी गंभीरता में परिवर्तन करने का प्रयास, आत्म-कथन का समावेश आदि गुण दिखाई देता है ।

विकास और विशेषताएँ

कोई भी रचना अचानक अपना उत्कर्ष रूप तक नहीं पहुँच जाती है । उसका मूलरूप बीज सदृश रहता है । और वह धीरे-धीरे विकास होकर पूर्ण रूप तक पहुँचने में सक्षम बनता है । ललित विबंध के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है कि इसका मूलरूप हिन्दी निबंधों के उद्भवकाल भारतेंदु युग में ही दृष्टिगोचर होता है । वस्तुतः इस काल के निबंधों को ललित निबंध की संज्ञा नहीं दी गई थी । परंतु ललित निबंध के जितने लक्षण हैं वे सब भारतेन्दु मंडल के निबंधकारों के निबंधों में परिलक्षित है । गहराई से देखा जाय तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र का 'पांचवा पैगंबर', बालकृष्ण भट्ट का 'विशाल वाटिका', प्रतापनारायण मिश्र का 'धोखा' ललित

निबंध संज्ञा प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी हैं । वस्तुतः भारतेन्दु युग के इन निबंधों में विनोद सुबोधता, सजीवता, आत्मीयता आदि ललित निबंधों का प्रारंभिक रूप का दर्शन होता है फिर भी इस युग को ललित निबंध की शैशवावस्था का युग ही कहा जाता है ।

इस युग के उपरान्त सन् 1900 से सन् 1920 तक का समय को ललित निबंध का दूसरा युग कहा जाता है, जिस में सरदार पूर्णसिंह, बालमुकुंद गुप्त, चन्द्रधरशर्मा 'गुलेरी', गुलाबराय आदि निबंधकारों का नाम उल्लेखनीय है ।

'सरदार पूर्णसिंह' के 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता' आदि निबंधों को डॉ. जयचन्द्रराय ने ललित निबंध के रूप में मान्यता प्रदान की है । बाबू गुलाबराय के 'मन की बातें', 'मेरे निबंध', 'मेरी असफलताएँ' आदि निबंध विक्षेप शैली के माध्यम से लालित्य का उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं ।

वस्तुतः सन् 1920-21 के पश्चात् ललित विबंध का स्थापना काल प्रारंभ होता है । यह ललित निबंधों का तीसरा युग सन् 1920 से लेकर 1950 तक माना जाता है । जिस में पदुमलाल पुन्नालाल 'बख्शी' के 'दोष' तथा 'मेरेलिए' आदि ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन हुआ है । इस संबंध में डॉ. द्वारका प्रसाद सक्सेना का अभिमत स्पष्ट है - ''बख्शीजी के ये निबंध आत्माभिव्यंजन पद्धति पर लिखित ललित निबंध हैं जिनमें वैयक्तिकता की छाप है । भावात्मकता का सौष्ठव है और व्यक्तिनिष्ठा का सौन्दर्य है ।''[12]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ललित निबंधों के क्षेत्र में अग्रगण्य है । इनके ललित निबन्धों में एक साथ सरसता सरलता, विद्वत्ता, विनोद की भावना को देख सकते हैं । पाठक भी मंत्र मुग्ध होकर उसकी अनुभूति करने लगता है । इसीलिए द्विवेदी के संबंध में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है - ''द्विवेदी जी के निबेधों में व्यक्त पक्कड़पन और मस्तमौला का भाव जो उन्हे कबीर के व्यक्तित्व में अत्यंत प्रीतिकर लगता है और जिसने स्वयं उलके निबंधों में निहित पांडित्य को इतना ललित बनादिया है ।''[13]

इस के उपरांत हम अद्यतन युग में प्रविष्ट होते हैं । यह युग ललित निबंध को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाता है । ललित निबंध की विकास यात्रा का अंतिम पड़ाव सन् 1951 से लेकर अद्यावधि माना गया है । इस कालखण्ड में पं.विद्यानिबास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय नामवरसिंह का नाम विशेषरूप से लिया जा सकता है । विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति बोलती है । संस्कृत वाङ्मय से प्रेरणा पाकर लिखित इन निबन्धों में सर्वत्र लालित्य ही लालित्य दृष्टिगोचर होता है । इन के विषय में इसी अध्याय के 'ख' खण्ड में विशेष परिचय दिया जा रहा है ।

ललित निबंध की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्यिक जगत् में ललित निबंध को आधुनिक युग की देन माना जाता है । यदि निबंध में 'लालित्य' नहीं है तो ऐसे निबंधों को ललित निबंध की पंक्ति में नहीं लिया जा सकता । निबंध में 'लालित्य' होना ही ललित निबंध की एक प्रमुख विशेषता है । इस के साथ ही साथ विभिन्न विद्वानों द्वारा परिगणित की गई विशेषताओं पर विचार करेंगे ।

लालित्य एवं भावप्रवाह को ही ललित निबंध की मूल विशेषता मानते हुए श्रेष्ठ निवंधकार कुबेरनाथराय लिखते हैं - "लेखक इन निबंधों में एक 'लालित्य बोध' एवं रसबोध को लेकर चलता है, भले ही यह रस 'नीम-पाक' या 'करेला-पाक' हो । रम्य अर्थात् रमणीय सदैव मधुर के अर्थ में ही गृहीत नहीं होता कोई भी अनुभव जो प्रगाढ़ और गहन-गम्भीर हो जो चित्त को चमत्कृत कर सके वह सब रम्य या रमणीय कहे जाने का अधिकारी है ।"[14]

वैयक्तिकता आत्मानुभूति की विवृत्ति तथा आत्म-रागात्मकता को ही ललित निबंध की प्रमुख विशेषता मानते हुए जयचन्द्रराय लिखते हैं - "ललित निबंध का प्राणतत्व व्यक्तित्व अभिव्यंजन ही है । रचना में व्यक्तित्व की खोज आत्मानुभूति की विवृत्ति और वैयक्तिकता का रागमय संस्पर्श पाठक और विवेचक दोनों जरूरी समझने लगे हैं ।"[15]

आत्मतत्व को प्रधानता देकर कल्पना और भावना का सहज सन्निवेश तथा कलात्मक अभिव्यंजना ही ललित निबंध की विशेषता मानते हुए ज्ञानेन्द्रवर्मा लिखते हैं - "इस वर्ग के निबंध कल्पना और भावना के सहज सन्निवेश के कारण गद्यकाव्य के निकट पहुंच जाते

हैं । आत्मतत्व की प्रधानता के साथ कलात्मक अभिव्यंजना पर इस वर्ग के लेखकों का विशेष ध्यान देना होता है । रोचकता, मौलिक व्यंग्य, हास्य और कल्पना के संस्पर्श से गंभीर विषयों के प्रतिपादन में भी बोझिलता के स्थान पर उल्लास और मनोरंजन ही इस वर्ग के निबंधों की विशेषता हैं।''[16]

साहित्यक क्षेत्र में वैयक्तिकता को ललित निबंध की एक प्रमुख विशेषता मानते हैं । ललित निबंध में लेखक का निजी व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है और पाठक के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित कर लेता है । यहाँ पर निबंधकार का व्यक्तित्व ही विषय को संस्कृति के रंग से सराबोर करके मनोरम बना देता है । इस संबंध में कुबेरनाथ राय का स्पष्ट अभिमत है ''ललित निबंध भी शुद्ध मौज शौकिया मात्र आनंद से जुड़ी विधा नहीं है । इस में एक व्यक्त या अव्यक्त जीवन दृष्टि रहती है । यह शुद्ध गद्य काव्य न होकर एक दृष्टि संपन्न विद्या है । इसी से यह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों हैं ।''[17]

ललित निबंधों की विशेषताओं को वैयक्तिक निबंध की विशेषताओं की तरह मानते हुए विद्यानिवास मिक्ष ने भी इसे व्यक्तिव्यंजक निबंध कहा है । मिश्रजी के अनुसार - निबंधकार निबंध का प्रणयन करने केलिए जिस बात का बहाना ढूँढता है वह ''बहाना नहीं है, वह बात किसी न किसी रूप में बराबर आघात करती है और उस आघात को औढ़ने केलिए निबंधकार अपने भीतर के जाग्रत संस्कारों की गुहार लगाने लगता है और गुहार की तीव्रता उस बात को ऐसा लगता है, दबा देती है । पर निबंध के अंत तक वह बात दबती नहीं है । किसी न किसी रूप में चाहे समानांतर बात के रूप में ही क्यों न हो बराबर उभरती रहती है । इसीलिए शैली के स्तर पर निबंध में एक विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । वह है एक खास वर्ण्य विषय की बारा-बार अनुस्मृति । वह ऊपर से भले ही पुनरुक्ति नहीं अतिरिक्त बल देने की लाचारी है ।''[18]

इस प्रकार ललित निबंधों के स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए उनकी विशेषताओं के बारे में विभिन्न विद्वानों के विवेचन पर दृष्टपात करने से यह विदित होता है कि ललित निबंधों में वैयक्तिक रागात्मकता की अभिव्यक्ति, बौद्धिकता, भावात्मकता, काल्पनिकता, स्वच्छन्दता, संक्षिप्तता, एकसूत्रता एवं कलात्मकता आदि विशेषताएँ सर्वत्र पायी जाती हैं ।

उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हमें यह देखना है कि विद्यानिवास मिश्र ने अपने सांस्कृतिक निबंधों में लालित्य योजना का प्रयोग किस प्रकार किया है ।

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंन्धों में लालित्य का स्वरूपगत विवेचन

लालित्य एवं भाव प्रवाह को ही ललित निबंध का मूल मानते हैं । निबंधकार लालित्य-बोध एवं रस-बोध की सहायता से निबन्धों का सर्जन करता है । वस्तुतः ललित निबंधों में निबंधकार सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से निजीव्यक्तित्व को उघाड़कर रखता है । ऐसे निबन्ध पाठक को चन्द्रमा की तरह पीयूषवर्षी, सरिता की तरह प्रवहमान और समीर की तरह सुखदायी लगते हैं और पाठक संस्कृति की भाव लहरियों में निमग्न हो जाते हैं । निबन्धकार का व्यक्तित्व उस सांस्कृतिक जीवनानुभूति नामक वीथियों पर विचरण करने लगता है । ललित निबन्ध का अन्यतम स्वरूप है - वैयक्तिकता । जिसमें रचनाकार की निजी अनुभूतियों का समावेश होता है । इस में निबंधकार अपनी बात किसी विषय को लेकर शुरू करता है और विवेचन के दौरान विषयांतर वर्णन करते हुए पुनः मूल विषय पर आजाता है । लेकिन इसमें एक खास यह बात होती है कि कहीं न कहीं उसका संबन्ध मूल विषय से होता है ।

मैंने विद्यानिवास मिश्र के ललित विबन्धों का स्वरूपगत विवेचन करने केलिए उसकी वैयक्तिकता रागात्मकता, वौद्धिकता, स्वच्छन्दता, संक्षिप्तता, काल्पनिकता आदि विभिन्न प्रवृत्तियों को आधार बनाया है ।

वैयक्तिकता : किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ ही वैयक्तिकता कहलाती है । व्यक्तित्व की छाप साहित्य की प्रत्येक विधा की विशेषता है । ललित निबंधों में निबंधकार सर्वत्र अपने व्यक्तित्व की व्यंजना करता है । व्यक्तित्व शब्द को स्पष्ट करते हुए डॉ. हंसकुमार तिवारी ने लिखा है - "जिस निजस्वता की प्रेरणा से निबन्ध का जन्म होता है, वह प्रेरक अहम् सामान्य भावभूमि पर पहुँचकर ही व्यक्तित्व बनता है । सामाजिक पृष्ठभूमि पर पहुँचकर ही वैयक्तिक धारणा, मान्यता विचार विश्वास वैयक्तिक नहीं रह जाते, वे सामाजिक संपत्ति होकर व्यक्तित्व के विशिष्ट रूप का निर्माण करते हैं । यह निजस्वता आत्मप्रशंसा नहीं है बल्कि उसके अपने भाव, चिन्तन और अनुभवों पर आधारित उसका जीवन दर्शन होता है - वह जीवन दर्शन जो विश्व सहानुभूति के उद्‌बोधन, सामान्य आनंद के आह्लाद में सहायक होता है ।"[19]

उपर्युक्त कथन के अनुसार निबन्धकार अपने निबंधों में रागात्मक सरस, पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व का उद्‌घाटन करके पाठकों के सम्मुख रखता है । इस से हम यह कह सकते हैं कि ललित निबंधों में किसी वस्तु, परिस्थिति, घटना आदि पर निबंधकार की वैयक्तिक प्रतिक्रिया का अंकन होता है । इससे लेखक अपनी निजी अनुभूतियों को विषय के संदर्भ में देश-काल की संस्कृति से जोड़कर उसे मनोरम स्वरूप प्रदान कर देता है । इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है : ''व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन केलिए विचारों की श्रृंखला रखी ही जाए तो जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए भावों की विचित्रता दिखाने केलिए ऐसी अर्थ योजना की जाए जो उसकी अनुभूति की प्रकृति या लोक-सामंजस्य स्वरूप से संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की तरह कसरतें या हठयोगियों से आसन कराएँ जाएँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय कुछ न हों ।''[20]

आचार्य शुक्ल जी के कथनानुसार ललित निबंधों को विषयी-प्रधान निबन्ध कहा जा सकता है, जिस में व्यक्तित्व की ही प्रधानता होती है । विवेचन से भी निबंधकार के निजी व्यक्तित्व को अधिक महत्व दिया जाता है ।

विद्यानिवास मिश्र जी के सभी सांस्कृतिक निबंधों पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है । उनकी उद्‌दाम भावुकता एवं वैयक्तिक रागात्मकता के कारण उनका अनुभूति समन्वित विचार तत्त्व तीव्र एवं प्रखरता के साथ इन विबन्धों में अभिव्यक्त हुआ है । ये निबंध जीवन एवं जगत की गहन अनुभूतियों की निधि हैं, जिसमें पर्याप्त प्रमाण में संवेदनशीलता भावप्रवणता प्रयोगशीलता, लोक संस्कृति, लोक-तत्व एवं लौकिक परंपरा मौजूद हैं । प्रायः मिश्रजी के निबंधों का प्रणयन इन तत्वों से ही हुआ है और समूची विचार श्रृंखला व्यक्तिनिष्ठ विश्वास और निष्ठा उनके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि पर स्थित है । इस संबन्ध में मिश्रजी के निबंधों का कतिपय अंश दृष्टव्य है ।

''ड्योढ़े दर्जे का खातिमा' नामक निवन्ध में मिश्रजी के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है ।

''मैं जानता हूँ की आपको हमसे कोई सहानुभूति नहीं है क्योंकि आप हमारे दर्जे में कभी सफर नहीं करते । पर तो भी आप विद्वान मनुष्य हैं, आप सही-सही सूचना देने की कृपा करेंगे कि यह ड्योढ़ा दर्या जिस में हर एक मुसाफिर अपना अलग व्यक्तित्व लिए, अलग-अलग-अलग बैठता रहा है, गुमसुम और अपने में लीन, वह अब सर्वहारा की चपेट में जाने को विवश हो जाएगा । आप विश्वास मानिए इस दर्जे में बैठने में केवल एक सुख है अपना निरालापन बचा रहता है । कोई यहाँ एक दूसरे की दुखती रग को नहीं छूता, सभी हवाई बातें करते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और जीवन के उच्चतम आदर्शों से नीचे कोई बात नहीं करता, कलह भी होता है तो वाक् की सीमा के भीतर, हंसी भी होती है तो ओठ के भीतर और लुका-छिपी प्रेम भी दर्शित होता है तो आँखों के भीतर । शील से यह तचा हुआ दर्जा क्या सचमुच अब तीसरे दर्जे की भेड़िया घसान में लाठी-गठरी और आदमी का धक्कम-धक्का सहने केलिए मजबूर हो जाएगा । यह तो निश्चय है कि पहले दर्जे के निपट एकांत में हमारी गुजर नहीं होगी, शायद हमारे पास बेंवत भी न होगा कि हम उस दर्जे का ऐश भोग सकें । हमारे पास इतना आत्मदमन न होगा कि हम अपनी जबान पर ताला लगा सकें, और शायद हमारे पास उतना मिज़ाज भी न होगा कि हम उस दर्जे की गंभीरता वहन कर सकें । लाचार हमें उस दर्जे में जाना ही होगा जहाँ घुसने में मार-पीट हो, निकलने में मार-पीट हो, बैठने केलिए हुज्जत, लेटने केलिए सजा और खड़े रहने केलिए एतराज हो, जहाँ संघर्ष में ही स्वाद हो और आराम में ही कडुवापन हो जहाँ भाषा की कोई मर्यादा न हो, पद का कोई गौरव न हो, और व्यक्ति का कोई स्थान न हो ।''[21]

उपर्युक्त कथन में विद्यानिवास मिश्र ने रेल्वे की प्रथम द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी में की गई यात्राओं का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमें उनकी वैयक्तिक अनुभूतियाँ दृष्टिगोचर होती है ।

'इन टूटे हुए दियों से काम चलाओ' नामक निबन्ध में मिश्रजी ने आज की भयानक परिस्थितियों के बारे में व्यक्तिगत अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है । अद्यतन समाज के लोगों के मन में धर्म, श्रद्धा, विश्वास, आस्था, भरोसा आदि के गुण लुप्त हो चुके हैं । केवल राजनीति

के संदर्भ में धर्म जीवित है । आज की इस भयावह स्थिति के अंधियारे में सतर्क रहने केलिए मिश्रजी ने समयोचित प्रेरणा प्रदान की है । कुछ प्रेरक वाक्य इस प्रकार हैं - "सचमुच रात बड़ी उदास है, सत्य की दीवठ जाने कहाँ लुढ़क कर चला गया है, तप का तेल तो जाने कब का सूख गया है, दया की बाती जाने सदियों से पूरी नहीं गई (पूरी जाती तो इतने बड़े पैमाने पर भाई-भाई में गला-काट व्यवहार इतनी पड़ी दुःखांतिका को जन्म कहाँ से दे पाता) और क्षमा की शिक्षा तो उकसी ही नहीं, क्षमा के नाम पर खीस भरी दंत निपौरी उकास लाने की भोंडी कोशिश करती रही है और अंधकार केवल पैठा ही नहीं मूँह बायें सामने खड़ा है, अब लील जाये कि तब लील जाये । यह अन्धकार सबसे ज्यादा गहरा है । उन साइनबोर्डों के नीचे, जिन पर आलोक, प्रकाश, ज्ञान, विद्या संस्कृति साहित्य और शिक्षा के नाम बड़े दर्प के साथ अंकित हैं ।"[22]

वैयक्तिकता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण "तुम चन्दन हम पानी" नामक निबंध संग्रह में मिलता है । इस में ऐसी आत्मव्यंजकता हैं जहाँ मिश्रजी स्वयं को उजागर करते हैं और अपना बहुमत, अनुश्रुत होने का प्रमाण देते हैं । वे स्वयं लिखते हैं - "मैं ने तो घर की बात घर के लोगों से कहने की कोशिश भर की है । मेरा घर आप के घर से जुदा नहीं है और आप का यदि घर होगा तो आपके मन में उस घर की स्निग्ध स्मृति इन निबंधों से उद्‌बोधित हो, मात्र इतना मेरा उद्देश्य है । मैं मौलिकता का किसी भी प्रकार दावा नहीं करता, क्योंकि मैं वही लिखता हूँ, जो मेरे सुकृती पूर्ववर्ती प्रणीत कर चुके हैं, जिसे असंख्य देशवासी भावित कर रहे हैं और जिसका मेरे जीवन से गहरा संबन्ध है ।"[23] 'हिन्दी का विभाजन' नामक निबंध में हिन्दी भाषी के विषय में निबंधकार अपने व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए कहता है - "हिन्दी भाषी जन को विभक्त करके कुछ निहित स्वार्थवाले हिन्दी की शक्ति खत्म करना चाहते हैं इसके साथ ही सुदृढ़ केन्द्र की सत्ता भी विलुप्त कर देना चाहते हैं ।"[24]

'व्यष्टि और समष्टि की संधि' नामक निबंध में मिश्रजी का वैयक्तिक विचार इस प्रकार हैं - "हो सकता है कि मैं इसकी भाषा से अपरिचित होने के कारण आलेख की बात न पढ़सका होऊँ क्योंकि मैं बहुत कुछ पुरातन ही हूँ, नूतनमान प्रतिमान निकालने की प्रतिभा

मुझ में नहीं है; पर जो लोग स्वाधीनता को साहित्य का मौलिक प्रतिमान मानते हैं, उससे मुझे संतोष नहीं है । मैं अधीनता की आशंका कभी करता ही नहीं, जब तक कि मेरा स्व निर्मुक्त आनंद का उपासक है ।''[25]

उपर्युक्त प्रसंग में मिश्रजी अपने को नए युग की परिस्थितियों में परंपरावादी घोषित करते हुए नूतनता के प्रति उतने सजग नहीं दिखते जितना कि प्राचीनता के प्रति । भारतीय संस्कृति की अतीत की थाती को कभी-कभी उसी रूप में, कभी तो आधुनिकता का लेप लगाकर अपने निबन्धों में प्रस्तुत करना मिश्रजी की खास विशेषता है ।

'हरसिंगार' नामक निबंध में मिश्रजी हरसिंगार की शोभा पर मुग्ध होकर अपना व्यक्तिगत मंतव्य प्रकट करते हैं - ''तन्मयता की भी पहली सीढ़ी है, अशेष उदारता जिसकी सीख देता है हरसिंगार, आज मुझे सबसे अधिक इस सीख की जरूरत है । हरसिंगार अपने आप कुसुम गिराता है, उसकी ड़ाल झहरानी नहीं पड़ती है ।''[26]

इसी प्रकार उन्होने 'रचना का संकट' निबंध में लोकजीवन में विच्छू के काटने पर उसकी पीड़ा से उत्पन्न कही गई उक्तियों का यथार्थ चित्रण करते हैं - ''एक बार विच्छू ने डंक मारा था और चौबीस घण्टों में ऐसी पीड़ा में तड़पता रहा कि लोगों ने जो कहा है कि विच्छू का डंक लहुरी मौत है, छोटी मौत है तो उसकी सचाई का साक्षात्कार होगया । सिखने की प्रक्रिया को भी मैं लहुरी मौत के रूप में ही अनुभव करता हूँ ।''[27]

लेखकजी ने प्रायः अपने व्यक्तित्त्व को ही आधार बनाकर सभी निबंधों की रचना की है । विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के बारे में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - ''विश्वविद्यालय की स्वायत्तता की शुरुआत भी करनी हो तो उसकेलिए विश्वविद्यालय कानून में आमूल परिवर्तन अपेक्षित है और इसी परिवर्तन का निर्णय शिक्षाविदों की सलाह से लिया जाए तभी यह निर्णय अधिक समय प्रभावी हो सकेगा । एक अन्य निबंध 'इकाई बनाम दहाई' में मिश्रजी की व्यक्तिगत व्यंजना इस प्रकार है - ''जगने की कोशिश भी करना चाहूँ तो मेरे मन का पंछी पंख समेट लेता है । लिखने की लाख कोशिश भी करूँ तो क्या लिखूँ, यही उभर नहीं पाता है । पहले पिंजरे की छट-पटाहट तड़प निकाल देती थी अब आकाश का असीम विस्तार ही भूल-भूलैया का स्तिमित भय देता है ।''[28]

'आंगन का पंछी और बनजारा मन' नामक निबंध संग्रह में वैयक्तिकता प्रधान अनेक उत्कृष्ट निबंधों का संकलन हुआ है, जिसमें उनके निजी विचार विविध रूपों में व्यक्त हुए हैं । 'शिवजी की बारात' नामक निबन्ध में मिश्रजी का वक्तव्य है - ''हिमालय को जब इस तैयारी की आहटलगी तो उसने भी अपने गड़े खजानों को खोल दिया और अपने सर्वस्व की बाजी लगाकर बारात के सत्कार काआयोजन शुरु कर दिया ।''[29]

और एक सुंदर उदाहरण 'संध्या का ध्यान' नामक निबंध में मिलता है - ''मेंने जब-जब गीति सुनी है तब-तब लगा है जैसे वेद-मन्त्रों का उच्चारण हो रहा हो, वैसी ही गंभीरता वैसे ही पवित्र तन्मयता और वैसी ही मोहकता से अभिभूत होगया हूँ । मुझे ऐसा लगता है कि ज्ञान का सूर्य अस्त होते-होते अपनी त्रसरेणुओं की लाली इस जनगीति पर बिखेरता चला गया है ।''[30]

शिरीष का आग्रह, खामोशी की झील, ये विपथगाएँ, मुरली की टेर, वसंत न आवै, परंपरा और आज का कवि, परंपरा बंधन नहीं, अग्निरथ, भारतीयता की पहचान, गाँव का मन, आदि निबंध संग्रहों में मिश्रजी की वैयक्तिक विचाधाराएँ प्रकट हुई हैं ।

इस प्रकार विद्यानिवास मिश्रजी ने अपने निबंधों में बड़ी तन्मयता के साथ भारतीय संस्कृति की थाति की व्याख्या की है, जिस में अधिकांश निबंधों में उनकी वैयक्तिक विचारधारा अपने मूल रूप में आयी है । ये निबंध लोक-तत्त्व, लोक-जीवन, लोक-संस्कृति को तो प्रकट करते ही हैं, साथ-साथ आधुनिक जीवन की विसंगतियों एवं मानव मनोवृत्तियों का भी सजीव चित्रण करते हैं । इनके निबंधों में सर्वत्र वैयक्तिकता की प्रधानता है, जो कि निबन्धों का प्राण है ।

बौद्धिकता : मिश्रजी के निबंधों में चिंतन मनन की सुष्ठु परंपरा के साथ-साथ बौद्धिकता का भी प्राधान्यहै । वे अपने जीवन में कोई चीज देखते हैं तो एकाएक उससे प्रभावित होकर निबंध रचना करने लगते हैं, तब बौद्धिकता का आश्रय जरूर लेते हैं । प्रकृति, संस्कृति, वातावरण आदि वर्ण्य विषयों को बौद्धिकता के द्वारा चिन्तन-मनन करके उनका विश्लेषण करते हैं । संस्कृति का विश्लेषण करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि संस्कृति एक उधार ली हुई अवधारणा

है और कल्चर का पर्याय है । यह एक प्रकार की संस्कारात्मक परिणति है और समग्र प्रक्रिया भी है । संस्कृति और समन्वय की बात करते हुए वे लिखते हैं - ''हमारी संस्कृति अनेक संस्कृतियों के साथ समन्वय करती आयी है और कर सकती है, जब नहीं कर पाती तभी उसकी धार क्षीण और संकुचित हो जाती है । हमें यहाँ यह भी जोड़ना चाहिए कि हम किसी भी धारा का तिरस्कार नहीं करते, किसी से भी कतरा कर नहीं निकलना चाहते । हम प्रत्येक रसवंती का सत्कार करते हैं, पर जो हमें स्वीकार नहीं करता, हमारी ओर अभिमुख नहीं होता उसको हम समझने की कोशिश जरूर करते हैं ।''[31]

उपर्युक्त कथन से मिश्रजी का विचार स्पष्ट विदितहोता है कि समन्वय तो संस्कृति के साथ आत्मीय संबंध स्थापित करता है जिस से व्यक्ति के भीतर और बाहर एक साथ प्रभावित करता है ।

''अंग्रेजी के कारण सांस्कृतिक अवरोध क्यों' नामक निबंध में मिश्रजी का बौद्धिक विचार उल्लेखनीय हैं - ''हिन्दुस्तान में ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सृजनात्मक चिंतन का स्तर नीचा होने का वास्तविक कारण यह है कि प्रतिभा की सहज अभिव्यक्ति तथा भाषा की अवरुद्धता है । हिन्दी भाषी प्रदेशों की अधोगति का कारण पिछली पीढ़ी की बुद्धिजीवि की कायरता है, वह अंग्रेजी के तोतारटंत ज्ञान के बलपर प्रभुता का सिंहासन बरकरार रखना चाहता है ।''[32]

'धर्मः मानवीय मूल्य' नामक निबंध में मिश्रजी ने अपने बौद्धिक विचारों को अत्यंत सारगर्भित रूप से व्यक्त किया है लेखक का कहना है कि - ''आज धर्म केवल अल्पसंख्यक के राजनीति के संदर्भ में ही जीवित रह गया है, श्रद्धा केवल शोक सभाओं की काली हाशियानुमा परिधि रह गयी है । विश्वास व्यंग्य और आक्षेप की मुखौटा रह गया है, आस्था फर्श धोने की स्पंज बनकर रह गई है ।''[33]

भारत के लंबे इतिहास में नये मूल्यों की तलाश की जो धारा दिखाई पड़ती है उसका रेखांकन 'नए मूल्यों की तलाश : धर्म के स्तर पर' नामक निबंध में हुआ है - ''मूल्य की तलाश जितनी ही तेजी से होगी उतनी ही व्यवस्था का केन्द्रीकरण टूटता जाएगा । हिन्दुस्तान

का समाज नये मूल्यों की तलाश करते-करते अपने को मूल्यहीन पाने की दुरंत स्थिति में आगया है । अब दूसरे छोर से तलाश की प्रक्रिया शुरू करने का समय है ।''[34]

'लोकाचार और शिष्टाचार' नामक निबंध में मिश्रजी ने अपने बौद्धिक चिन्तन को व्यक्त किया है - ''लोकांचल के शिष्टाचार की विविध भंगिमाओं में एक आंतरिक सौष्ठव और संस्कार बोध है, जो लोक-जीवन की गहरी संवेदना से उद्‌भूत है । गाँवों के हार्दिक शिष्टाचार को ध्यान से जांचने से तथा हार्दिकता का मर्म समझने से मूल्यवता की पहचान होती है एवं आधुनिक संवेदना को सह स्रोत भी मिल सकता है ।''[35]

मिश्रजी की बुद्धि अत्यंत प्रखर है । तीव्र मर्मभेदिनी दृष्टि से युक्त मिश्रजी किसी भी तत्त्व के मूल में पहुँच जाते हैं । बुद्धि की कसौटी पर परखे जाकर ही उनके विचार पल्लवित होते हैं । इसीलिए तो उनके विचारों में स्पष्टता एवं एकरूपता मिलती है ।

इस प्रकार मिश्रजी के अधिकांश निबंधों में यत्र-तत्र जीवन, संस्कृति, दर्शन, भक्ति, मूल्य और साहित्य को लेकर अनेक गझिन विचार व्यक्त हुए हैं जिसमें उनकी सोच-समझ एवं अनुभव का अद्भुत समन्वय हुआ है ।

स्वच्छन्दता : मिश्रजी के निबंधों का प्रणयन मन की उन्मुक्त भटकनवाली प्रणाली पर निर्भर करता है । अतः विषयांतर करने में, निबंधों के बीच-बीच में किस्से कहानियों का समावेश करने में मिश्रजी सिद्धहस्त हैं । साथ ही साथ पाठक भी विभिन्न लोकों में विचरण कर आता है । मिश्रजी विषय के सूत्र को कहीं से कहीं ले जाते हैं, पुनः उसी स्थान पर आकर अपनी बात आगे बढ़ाते हैं । इस से आपके मन की उन्मुक्त भटकन के दर्शन होते हैं । इसी तरह निबंधों के बीच-बीच में कथा प्रसंगों या किसी घटना के समावेश से भी उनकी यही विशेषता दृष्टिगोचर होती है । इस संबंध में यह दृष्टव्य उल्लेखनीय है - ''श्री इसीलिए सौष्ठव की देवी हैं । वह पानीवाली देवी हैं, जल सभी संस्कृतियों पर भारतीय संस्कृति में विशेष रूप से अव्यक्त आत्मविस्तार का प्रतीक माना जाता है, जल से उद्‌भूत होने का कारण श्री देवी आत्मविस्तार की दुर्दम्य आकांक्षा है, 'एकोऽहम् बहुस्याम्' की इच्छा का उद्भेद हैं । वह विष्णु की प्रिया है, विष्णु व्यापनशील सूर्यदेवता हैं, वह तीन पग में समस्त लोक नापलेते हैं, वह हाथ पसारकर

सबसे सबका अभिमान लेने केलिए छोटे और बौने हो जाते हैं और वह ही अछोर दिगंत को आलोकित करने केलिए विराट बन जाते हैं । विष्णुप्रिया होने केलिए श्री प्रकाश धर्मी हैं, विवेकपूर्ण आत्मविस्तार की देवता हैं, आदमी आत्मा का सही अर्थ में विस्तार करें, दूसरे को पराभूत करके आत्मविस्तार अविवेक का मार्ग है, श्री विद्या का मार्ग नहीं है ।''[36]

'प्रात तव द्वार पर' नामक निबंध में मिश्रजी के मन की उन्मुक्त भटकन के दर्शन होते हैं । इस निबंध में अपने गाँव के काली माई के थान का वर्णन के साथ दुर्गापूजा व आयोजनाडंबरों का भी वर्णन करते है । तत् पश्चात् पण्डित कमलाकर त्रिपाठी से विमानयात्रा में संपन्न बात-चीत का वर्णन करने लगते हैं । इस स्वच्छन्दता के विषय में मिश्रजी के स्वयं का कथन उल्लेखनीय है - ''माँ अहंकार को स्फीत तो होने देती है, पर उसे नष्ट किये बिना नहीं रहती क्योंकि वह माँ है, पुत्र को मोहपाश में बांधती है, धेरती है कि पाश का दु:ख जान जाये और तब उस पाश को काटती है । मुझे याद है, पंडित कमलापति जी त्रिपाठी से 1977 से सत्ता के हस्तांतरण के तीसरे दिन दिल्ली से एक साथ विमान यात्रा करते हुए मैंने प्रश्न पूछा - 'पंडितजी, आप को इस हार से कैसे लगा? पंडितजी गंभीर हुए, फिर थोड़ा मुस्कुराए बोले - देखो मैं तो माँ का उपासक हूँ कि माँ सारे पाप क्षमा कर देती है ।''[37]

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' नामक निबंध में मिश्रजी के मन की स्वच्छन्दता ने लोकसंस्कृति, लोकजीवनपुरानी-पीढ़ी और नयी पीढ़ी के भाव को एक साथ प्रकट किया है - ''बचपन में दादी-नानी जाँते पर यह गीत गातीं, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विह्वल होकर गातीं और लौटने पर कहती - ''मेरे लाल को कैसा बनवास मिला था''- जब मुझे दादी-नानी की इस आकुलता पर हंसी आती, पर गीत का स्वर बड़ा मीठा लगता, हाँ तब उसका दर्द नहीं छूटता पर इस प्रतीक्षा में एका-एक उसका दर्द उस ढ़लती पीढ़ी की ममता को नहीं समझ पाती, पिछली पीढ़ी अपने संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है ।''[38]

ललित निबंधों की स्वच्छन्दता के विषय में मिश्रजी का यह कथन उल्लेखनीय है - ''हिन्दी साहित्य की वैचारिक पृष्टभूमि में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं - पहली अखण्ड विश्वदृष्टि, दूसरी

मुक्त निबंध फक्कडभाव और तीसरी सामान्य में निगूढतम वैशिष्ट्य की तलाश । हिन्दी व्यक्ति व्यंजक निबंध साहित्य में ये तीनों ही वस्तुएँ वैचारिक पीठिका के रूप में मिलती है ।''[39]

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों के प्रणयन की कल्पना में उन्मुक्त उड़ाने भरी हैं । विभिन्न लोकों में विचरण तो किया है लेकिन धरती से संबंध स्थापित करके ही । धरती की समस्याओं के प्रति मिश्रजी सदैव सचेत रहे हैं । इसी प्रकार ललित निबंधों की प्रमुख विशेषता स्वच्छन्दता मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में सर्वत्र दिखाई देती है । यह स्वच्छन्दता उनके व्यक्तित्व के फक्कड़पन और उनकी निराली मस्ती के कारण आयी है । इसमें सहजता है ।

काल्पनिकता : रचनाकार कल्पना के माध्यम से ही अपनी रचना का महल खड़ा करता है और विचारों की पूंजी के सहारे शब्दों के माध्यम से उसे आकार प्रदान करता है । मिश्रजी इस कला में निपुण हैं । जीवन के विभिन्न क्षणों के अनुभवों एवं यात्राओं आदि के माध्यम से उनकी कल्पना शक्ति का अत्यंत विस्तार हुआ है जो कि उनके निबंधों के माध्यम से जाना जा सकता है ।

राहुलजी के आकस्मिक निधन की परिकल्पना करते हुए 'हिमालय ने उन्हें बुला लिया' नामक निबंध में मिश्रजी लिखते हैं - ''बिजली की लकीर की तरह उलका कृतित्व जो एकदम रुकगया, उसके पीछे हिन्दी का वही अभिशाप, जिसने निराला जैसे सूर्य को बादलों से ढ़का नवीन जैसे चन्दनद्रुम को अहि आलिंगित करके छोड़ा, हिन्दी के भीष्मापितामह को व्याधि से अधिक हिन्दी की उपेक्षा की शरशय्या दी जिसने हिन्दी के राजेंद्र की वाणी गूँजने नहीं दी, शिवजी की साधना नहीं चलने दी और सियाराम शरण की एकांत तपस्या नहीं सही ।''40

खजुराहो के कंदर्पेश्वर मंदिर की स्थापत्यकला, कला का चरम उत्कर्ष है । इसकी शिखर रचना का मनोहारी चित्रण करते हुए मिश्रजी ने 'संस्कृति की पाषाणी' नामक निबंध में शिखर के चारों ओर उभरे हुए उरुश्रृंगों की मधुर कल्पना का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है - ''बिचले शिखर के चारों ओर नीचे से लेकर ऊपर तक जोड़ने की कोशिश करते हुए छोटे से छोटे उरुश्रृंग जो छोटे पैमानेपर उसके प्रतिरूप हैं, उभारे गये हैं । इन उरुश्रृंग की आरोही पंक्तियाँ, जो अमृतघट के पास पहुँचने केलिए व्याकुल दिखती है, ऊंचाई का प्रभाव बढ़ा देती हैं, उसी

प्रकार जिस प्रकार एक अमलाशय योगी की महत्ता को उसकी अमृत ज्योति से आकृष्ट, संतप्त, तृषित साधकों की पंक्ति बढ़ा देती है, मानो ऊपर जाने केलिए प्रयत्मशील विराट् मानव के सौ-सौ हाथ नीचे से उन्नयनशील प्राणियों के उद्धार केलिए नीचे झुके हो, वैसे ही यह महान् शिखर करुणा की लम्बी बाँहों को पसारकर बड़ा हो गया है ।''[41]

मिश्रजी अपने निबन्धों में अवकाश मिलने पर कल्पना केविशद पंखों पर सवार होकर उड़ान भरने लगते हैं और पाठकों के मन को भी अपने साथ लेकर सौन्दर्य-उद्यान की यात्रा कराने लगते हैं । 'वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं' नामक निबंध में मिश्रजी की काल्पनिकता का एक चित्र - ''जीवन की पूर्णता के प्रतिमान इतने रीते लगे हैं कि वह अधूरा बने रहना चाहता है, रीतेपन का जोखिम नहीं उठाना चाहता । उसकी पूरी की पूरी पीढ़ीइसी रीतेपन के त्रास से आतंकित है, रितापन जो उसका नहीं, उसकी पिछली पीढ़ी का है, उस पीढ़ी का जिस केलिए वसंत एक नीलाम की मुनादी है, एक कानूनी रस्म है, जिसकी पूर्ति इसलिए होनी है कि आज तक होती आयी है, जिस केलिए क्रमभंग का भय इसलिए इतना यथार्थ है कि वह पीढ़ी मात्र क्रम है, क्रम को छोड़कर कुछ भी नहीं है ।''[42]

'पार्थिन धर्म' नामक निबंध में मिश्रजी ने पृथ्वी के धर्म की विवेचना के साथ सीता के बारे में जो अभूतपूर्व कल्पना कीहै वह उनके काल्पनिक शक्ति के उत्तुंग श्रृंग की पहचान है । इस संबंध में यह उताहरण द्रष्टव्य है - ''जनश्रुतियों ने सबसे पीछे कानों में चुपके से कहा कि पृथ्वी का धर्म है मही बनना, धरित्री बनना, अवनी बनना जगद्धात्री बनना, वही करवट बदलने से लेकर चलने की प्रेरणा देती है, वही बिना दूसरों को दुःख पहुँचाए फैलने की शिक्षा देती है और वही बिना पक्षपात किये त्रस्तों को अभय देती है; उसीने ऋषियों के शोणित की बूँद-बूँद से घड़ा भरा, उस घड़े में राजर्षी जनक के हल की नोक लगी वह घड़ा ही सीता बना और धरा की धरोहर सीता ने अपने उज्जवल चरित्र से जनक और दशरथ के कुल तो तारे ही, नारी जाति मात्र को महनीय बना दिया ।''[43]

मिश्रजी साधारण सी बात को भी काल्पनिकता के साथ प्रस्तुत करने की कला में मर्मज्ञ हैं । इस कला के माध्यम से वे संस्कृति, प्रकृति प्रेम यात्राओं लोकजीवन और पर्व आदि के प्रति अपनी काल्पनिक शक्ति का अद्भुत परिचय देते हैं ।

संक्षिप्तता: मिश्रजी के कतिपय निबंध संक्षिप्तता की कसौटी पर खरे उतरते हैं । प्रभाव एवं परिमाण की दृष्टि से संक्षिप्त इन निबंधों में इतनी रोचकता एवं सरसता होती है कि समाप्त होने पर भी लगता है कि अभी कुछ और भी होता । इन निवंधों में लेखक के कल्पना विलास को पाठक मुग्ध भाव से देखता रहता है । ललित निबंधों की संक्षिप्तता से यह तात्पर्य है कि संक्षिप्तता निबंधों में अपने आप उपस्थित हो जाती है । पाठक तन्मय होकर निबंध के प्रवाह में बहता चले. ये गुण मिश्रजी के निबंधों में विद्यमान है । निबंधों में संक्षिप्तता के बारे में डॉ. मु.ब.शहा का कथन है - "संक्षिप्तता अब कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है । लोग प्रायः छोटे-छोटे निबंध लिखा करते थे, इसलिए संक्षिप्तता को भी निबंध का एक आवश्यक तत्त्व मानलिया गया था ।"[44]

मिश्रजी के सभी निबंधों में संक्षिप्तता का गुण विद्यमान है । जिस लोक में लेखक की कल्पना जाती है साथ ही साथ पाठक की कल्पना भी विहार करती है । पाठक बाह्य परिवेश के ज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ होकर मिश्रजी की कल्पना के साथ इतिहास दर्शन, साहित्य लोकजीवन, लोकसंस्कृति, न जाने किन-किन लोकों की यात्रा कर आता है और निबंध की समाप्ति पर ही उसे बाह्य लोक का बोध होता है । मिश्रजी के इस गुण को सिद्ध करने केलिए यह एक उदाहरण पर्याप्त होगा - "तमाल के झसोखे से' नामक निबंध का प्रारंभ उनके घर का नाम - पी. गोपालकुंज से होता है । तब काली कालिन्दी गोरी-राधा, वर्षा, बात, वसंत आदि का वर्णन करते हुए भीग-भीग कर सिहरने की बात कही जाती है । इस प्रकार अनेक विचारों को प्रकट होते हुए ही निबंध की समाप्ति हो जाती है । इस प्रकार के गुण को ध्यान में रखने हुए निबंध के विस्तार के संबंध में डॉ. मु.ब. शहा का कथन है - "शायद संक्षिप्तता निबंध की कसौटी इसलिए मानी गयी होगी कि कहीं वह अपने मूल विषय से छिटककर बिखर न जाय, या फिर विखत होकर प्रबंध की काया में समा न जाय ।"[45]

संक्षिप्तता निबंध की खास प्रवृत्ति मानी जाती है । इस में विस्तार की गुंजाइश नहीं होती । बहुत थोड़े में बहुत कुछ कहदेना जिसे, हम सामाजिक शैली भी कह सकते हैं । विद्यानिबास मिश्र के अधिकांश निबन्धों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है ।

एकसूत्रता: निबंधों का प्रणयन करते समय मिश्रजी विषय का एक सूत्र पकड़कर कहीं से कहीं पहुँच जाते है, पुनः उसी स्थान पर आकर अपनी बात आगे बढ़ाते हैं । इस प्रकार विषयांतर करने में मिश्रजी सिद्धहस्त हैं, जिससे उनकी एकसूत्रता बहुत जगह बाधित हुई है फिर भी विषयांतर, कथा प्रसंग, यात्रा वर्णन, उद्धरण आदि ऊपर से देखने पर भले ही अलग-अलग प्रतीत होते हैं, लेकिन वे सब भीतरी सूत्र से अवश्य जुड़े रहते हैं । इस संबंध में मिश्रजी का स्वयं का कथन उल्लेखनीय है - ''निबंध में अनुभव की यात्राओं के संदर्भ अपरिहार्य सूत्र है । कहीं कहीं ये सूत्र साहित्य या कला या लोक संस्कृति के संदर्भ से जुड़े होते हैं । कहीं-कहीं समसामयिक घटना से या उसकी व्यख्या से या उसके संबंध में किसी वक्तव्य से । केवल ग्रन्थ ही से जुड़े हुए संदर्भ रहे तो निबंधकार ऊबने लगता है । ग्रन्थ या संस्कृति का संदर्भ बिलकुल न हो तो निबंध एकदम हल्का हो जाता है । उसके शाश्वत मूल्य तिरोहित होने लगते हैं । लेकिन यह सूत्र अपने आप में महत्व नहीं रखते । महत्व रखते हैं इन्हे जोड़नेवाला इनका काम । किस प्रकार और किनको वे जोड़ सकतें हैं ये अधिक महत्वपूर्ण है । इसलिए निबंध की जान सूत्रों को बटोरना नहीं, या सुलझाना नहीं सूत्रों के द्वारा संयोजन कौशल उपस्थित करना है ।''[46]

उपर्युक्त विषय को ध्यान में रखकर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मिश्रजी के निबंधों में संयोजन कुशलता से युक्त एकसूत्रता सर्वत्र मिलती है ।

कलात्मकता: ललित निबंधों में यह एक महत्वपूर्ण तत्त्व है । कलात्मकता का अभिप्राय कलापूर्ण गद्य शैली से है । भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम होती है उसी से शैली का निर्माण होता है, इसलिए भाषा के अंतर्गत शौली का भी समावेश होता है । व्यक्तित्त्व की विभिन्नता से शैली में विभिन्नता आती है । अतः शैली को व्यक्तित्व का परिचायक भी कहा गया है ।

मिश्रजी के निबंधों में गद्य का लालित्य, कोमलकांत पदावली, माधुर्य गुण संपन्न भाषा का प्रयोग सर्वत्र दृष्टिगोचर है । 'हरसिंगार' विषय में मिश्रजी की शब्दों से ही उपर्युक्त कथन की पुष्टि की जासकती है - ''जीवन के नीरव निशीथ में, विरह के अनंत अंधकार में और

निराशा की विराट् निश्शब्दता में धीरज के ललौंहे फूल बरसाना उसका काम है । घनघोर श्यामल रंग के फैलाव में ललछँही बूंदी छिटकाना उसका काम है । श्याम रंग है श्रृंगार का भी मृत्यु का भी । पर श्रृंगार के आधार रति का अनुराग इसी केसरिया रंग से है । सावन की हरियाली में और भादों की अंधियारी में वसंत की सुधि दिलाने केलिए ही हरसिंगार अपनी वसंती बूँदी बरसाता है ।''[47]

अंत में यह कह सकते हैं कि किसी भी रचना केलिए कलात्मकता का गुण आवश्यक होता है ।अन्यथा वह नीरस, अनुपयोगी और बेकार हो जाती है । जहाँ विषयवस्तु से उसका अंतःकरण शोभायमान होता है वहीं पर भाषा और शैली के माध्यम से उस में चार चाँद लग जाते है । विद्यानिवास मिश्र के कथन की अपनी अलग भंगिमा एवं विशिष्ट शैली है, जो पाठक को मुग्ध कर देती है । इस कला के पारखी मिश्रजी अपने निबंधों केलिए विख्यात हैं ।

विद्यानिवास मिश्र एवं अन्य ललित निबंधकार

विद्यानिवास मिश्र के पूर्व ललित निबंधकारों की एक सशक्त परंपरा विद्यमान थी, जिसमें हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है, लेकिन इसका उद्‌गम बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से हुआ । इस शीर्षक के अंतर्गत मैं ने मुख्य रूप से पं.बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बाल मुकुंद गुप्त, अध्यापक पूर्णसिंह, बाबू गुलाब राय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि निबंधकारों के ललित निबंध कला का जिक्र किया है ।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

हिन्दी साहित्यिक जगत् में सर्वप्रमुख और सबसे अधिक महत्वपूर्ण निबंधकर के रूप में पं. बालकृष्ण भट्ट का नाम लिया जाता है । सन् 1933 से 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र के संपादक के रूप में भट्ट जी की साहित्यिक सेवा प्रारंभ होती है । लगभग 33 वर्ष तक निर्भीक, जागरूक और देशभक्त पत्रकार के रूप में उसका संपादन करते रहे । पश्चिमी निबंधकार एडिसिन से प्रभावित होकर लगभग एक हजार निबंध इन्होने लिखा । इनके निबंध लेखन के संबंध में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन दर्शनीय है - ''भारतेन्दु हरिश्चंद्र उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', डॉ.जगमोहन सिंह, अंबिका दत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, गोविंद नारायण

मिश्र आदि अनेक लेखकों की ऐसी रचनाएँ मिलती है जिन में निबंध के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं किंतु उन्हे निबंध न कहकर 'लेख' कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा । निबंध रचना के कुछ लक्षण होने पर भी निबंधजैसेहोने चाहिए वे वैसे नहीं है । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निबंध रचना का यदि वास्तविक रूप कहीं मिलता है तो बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में मिलता है । बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबन्ध लेखक माने जा सकते हैं ।''[48]

भट्ट जी का ज्ञान भंडार विस्तृत एवं विशाल था । जिसका प्रमाण उनके विविध विषयों पर लिखे विबंध हैं । इन्होने सामाजिक कुरीतियों पर तीक्ष्ण प्रहार करने केलिए, समाजसुधार के प्रयास केलिए पत्रों को निबंधों का माध्यम बनाया । पत्र संपादन के बारे में डॉ.ओंकारनाथ शर्मा का कथन है - ''भारतेंदु युग का 'हिन्दी प्रदीप' ही वह अकेला पत्र था, जो भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग के आरंभ से अंत तक एक ही संपादक की रीति-नीति तथा नियंत्रण में चला । इस में संदेह नहीं कि इसकी यह दीर्घ आयु पं.बालकृष्ण भट्ट की संपादन कुशलताके कारण थी ।''[49]

भट्टजी ने अपने प्रौढ़ एवं परिपक्व अनुभवों को निबंधों में उतारकर पाठकों के समक्ष रखा । उनके कुछ ऐसे निबंधों की चर्चा करना अधिक उचित होगा, जिनमें ललित निबंधों की कुछ विशेषताएँ बीज रूप में दिखाई देती हैं । इन के कुछ निबंधों के शीर्षक इस बात का संकेत देते हैं कि लेखक विषय प्रधान निबंध के साथ-साथ मन-मौजीपन के विषयों पर भी अपना विचार प्रस्तुत करता है । इस संबंध में डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त का कथन है - ''भट्टजी के निबंधों में उनका सबल प्राणवान व्यक्तित्व, मस्ती, हास्य, विनोद, गंभीरज्ञान एवं प्रौढ़ विचार ही प्रकट हुए हैं । उनके निबंध परंपरा के पोषक न होकर स्वाधीन चिंतन एवं गहन अनुभूति के ही परिणाम हैं ।''[50]

भट्टजी ने सूक्ष्म आंतरिक भावनाओं का विवेचन कई निबंधों में किया है । 'हमारी अपूर्ण अभिलाषाएँ', 'रुचि', खुशी, अभिलाषा, लोक-एषणा, आत्मत्याग, एकांत ज्ञान, विश्वास, ईमानदारी, मन की दृढ़ता, तर्क और विश्वास, आदि निबंध इसके अच्छे उदाहरण हैं । 'समरथ को नहिं

दोष गुसाई' भकुआ कौन-कौन की व्यंग्यात्मक चुटकियाँ दिखाई देती है । इस संबंध में 'नाक निगोड़ी' नामक निबंध से एक उदाहरण दृष्टव्य है - "इस मिट्टी के पुतले को साढ़े तीन बीता की नाक क्यों गढ़ी गई? पर उस बड़े खालिक की ना समझी को किससे कहने जायँ जो आदमी के तन में एक ऐसी नाजुक और जिसकी हिफाजत केलिए न जानिए क्या-क्या भुगतना पड़ता है । हज़ार तकलीफ़ उठाओ पर नाक की लाज जरूर निबाहो जिस में बात न जाय नौधरी न हो ।"[51]

भट्टजी के निबंधों के कुछ शीर्षक अत्यंत लघु-आकारीय और आश्चर्यजनक हैं । जैसे 'दे', 'जी', 'ल', 'वायु', 'पेड़', 'सीसा', 'पसंद', 'नासमझी', 'धुन', 'होम', 'प्रकाश' आदि यहाँ पर उल्लेखनीय है । 'जी' निबंध का यह एक परिचय - "जग में गाजी, दे फकीरों में राजी, मियाँ बीबी राजी तो क्या करे काजी, कुत्तों में ताज़ी, अब आदमियों में शाहजी, लालाजी हिन्दुस्तान का हित चाहनेवालों में दादाभाई नौरोजी, नीच निकृष्टों में पाजी सागों में भाजी, मुसल्मानों में काजी मेवाओं में चिरोंजी, मसालो में जीरा, फलों में अंजीर, स्त्रियों के आभूषणों में जंजीर, पुकारने में हाँ जी, जी हाँ, हाँ के आदि में जी, अंत में वही जी ।"[52]

वर्णमाला के 'ल' का महत्व के बारे में 'ल' नामक निबंध में भट्टजी लिखते हैं - "निश्चय जायिए वर्णमाला में 'ल' यदि न रहा होता तो कवियों की वात्सल्य अथवा श्रृंगार रस के वर्णन की कभी इच्छा न होती । क्योंकि ललना, ललाम, लालित्य, लालिमा, नीलिमा, लाड़ लाड़िला लाल, चपला, तरला, सरला, वत्सला, लालसा, लिप्सा, लोलुप आदि शब्द जिनमें सब तरह के अनुप्रास की लड़ी की लड़ी करती है और रस टपक पड़ता है, कहाँ से उन्हे मिलते ।"[53]

भट्टजी के ललित निबंधों पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी है । वे बहुत निर्भीक प्रवृत्ति के होने के कारण अंग्रेजी शासन की कुटु से कटु आलाचना करने में समर्थ रहें । इस केलिए यह एक उदाहरण दृष्टव्य है । - "अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को क्यों लिया? इसलिए कि कुटिलाई और चालाकी में वे गुरु घंटाल हैं । हिन्दुस्तानी भकुआ गब्बुचर, घोंघा और गाउदी क्यो समझे जाते हैं, इसलिए इन्होंने चालाकी बिलकुल नहीं पढ़ी, कुटिलाई का किंचित् भी अभ्यास न कर रखा । आज तक अपनी स्वाभाविक सिधाई के परवश हो बराबर धोखे पर

धोखा खाते जाते हैं । अत एव असार है, राह की टिकरी से भी अधिक बेकदर हैं, एक-एक पैसे को मँहगे है ।''[54]

भट्टजी के निबंधों में साहित्यिक सौन्दर्य विद्यमान है । वे संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के अच्छे विद्वान थे । इसलिए उन्होंने अपने निबंधों में एक ओर हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाने का प्रयास किया तथा दूसरी ओर बोल-चाल की भाषा का प्रयोग किया । इसी विचारधारा के कारण अनेक निबंधों में एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्द दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है । भट्टजी के निबंधों के संबंध में धनंजय भट्ट का कथन इस प्रकार है - ''उनका हर निबंध भाषा की सजीवता, रोचकता और स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों की लड़ी से गुंथा हुआ एक सुन्दर गुलदस्ता मालूम होता है । उनका एक एक निबंध साहित्यिक सौरभ से युक्त है । उनके निबंध के एक-एक शब्द में जो रस है, अनूठापन है, वह अन्यत्र कहीं मिलना कठिन है इन्हीं सब गुणों से भट्टजी हिन्दी साहित्य के एडीसन् माने जाते हैं ।''[55]

शैली में मुहावरों के प्रयोग से भट्टजी की भाषामें लाक्षणिकता एवं वक्रता आगयी है । कहीं कहीं 'स्पष्टवक्ता न वंचकः', पीर बावर्ची मिश्ती खर, कोउ नृप होहि हमें गा हानि' आदि संस्कृत, अरबी, फारसी कहावतों का भी प्रयोग किया है ।

इस प्रकार बालकृष्ण भट्ट का निबंध जगत् अत्यंत महत्वपूर्ण है । इसमें ललित निबंध की सभी विशेषताएँ सर्वत्र दिखाई देती है । यह निबंध संसार बड़ा वैविध्यमय है । राजनीति से लेकर, समाज, धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य आदि सभी विषयों को स्पर्श किया है ।

प्रतापनारायण मिश्र

ललित निबंध लिखनेवालों में पं.बालकृष्ण भट्ट के समान प्रतापनारायण मिश्र भी आगे रहे । मिश्रजी के निबंधों में ललित निबंधो के कुछ महत्वपूर्ण तत्त्व देखने को मिलते हैं । इन निबंधों का संग्रह उनके जीवित काल में नहीं छप पाया । उनकी मृत्यु के पश्चात् ही निबंध नवनीत, प्रताप-पीयूष, प्रताप-समीक्षा, प्रताप नारायण ग्रन्थावली आदि शीर्षक से प्रकाशित किए गए हैं । पाठ्य पुस्तकों के रूप में भी उनकी कतिपय रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

मिश्रजी ने सन् 1883 से सन् 1894 तक 'ब्राह्मण' नामक पत्र का प्रकाशन कानपुर से किया । बीच में कुछ दिनों केलिए कालाकांकर से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान' नामक पत्रिका के सम्पादक बनकर चले गये थे । मिश्रजी प्रेम के बड़े पुजारी होने के कारण इन्होने अपना नाम 'प्रेमदास' भी रख लिया था । हिन्दू तथा हिन्दुस्तान के समर्थक और कांग्रेस के वे सच्चे देशभक्त भी रहे । अभिनय में अधिक रुचि थी । मिश्रजी के संबंध में जयनाथ 'नलिन' लिखते है । "इनके भाव, भाषा, विचार - सभी में जहाँ-जहाँ उच्छृंखलता, अव्यवस्था और लापरवाही भी है और आत्मीयता, तेजस्विता और सशक्तता भी । एक ओर देशीपन का चरम और दूसरी ओर नवीन विचारों, भावनाओं, व्यवस्थाओं का हित देखा, बिना छिपाव के लिख दिया ।"[56]

पाठकों से आत्मीयता स्थापित करने में मिश्रजी अत्यंत निपुण थे । इसी आत्मीयता का कारण निबन्धों में अपनापन और घरेलू वातावरण लाने केलिए इन्होंने जनप्रिय शब्दावली और कहावतों का प्रयोग पर्याप्त प्रमाण में किया । मिश्रजी अपने विचारों को जन समाज के सामने निर्भयता एवं नवीन सभ्यता के साथ रखते थे । यहाँ पर एक उदाहरण दृष्टव्य है - "ले भला बताइए तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे वाह आप तो आप ही हैं । यह कहाँ की आपदा आयी । यह भी कोई पूछने का ढ़ंग है । पूछा होता कि आप कौन है तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं । और आप ब्राह्मण संपादक हैं, अथवा आप पण्डितजी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब,आप निरे साहब हैं, आप क्या हैं यह तो प्रश्न की रीति नहीं है । वाचक महाशय यह तो हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं और हम भी वही हैं तथा इन साहबों की भी लम्बी धोती चमकीली पोशाक, खुंटी हुई अंगरखी, निरजई सीधी मांग, विलायती चाल लम्बी दाढ़ी और साहबाना हवस ही कह देती है कि किस रोग की है आप दवा कुछ कुछ न पूछिए ।"[57]

मिश्रजी के निबंधों में विषयविविधता है । इन के अधिकांश निबंध भावात्मक एवं वर्णनात्मक है । भौं, दाँत, पेट, नाक आदि व्यंग्य विनोदात्मक, वृद्ध, प्रताप-चरित्र, दान, जुवा, अपव्यय, दुर्व्यसन, छल, स्वार्थ, विश्वास, सत्य, नास्तिक, मन आदि विचारात्मक, भावात्मक निबंन्ध विशेषतः उल्लेखनीय हैं । इन निबंधों में आत्मीयता, सरलता स्वाभाविकता आदि सभी गुण विद्यमान

हैं । श्री नलिन के अनुसार हिन्दी को "स्वच्छता, भावात्मकता, सरलता, मधुरता और स्वाभाविकता प्रदान की भारतेन्दु ने, गंभीरता अभिव्यंजना, विविध रूपता, चिर संपन्नता दी भट्टजी ने और उसमें चंचलता, स्फूर्ति, विनोदप्रियता, सामान्य ग्रामीणता और सुबोधता भरी प्रतापनारायण मिश्र ने ।"[58]

अंततोगत्वा यह कह सकतें हैं कि प्रतापनारायण मिश्र एक ओर हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के प्रबल समर्थक हैं तो दूसरी ओर श्रेष्ठ निबंधकार हैं । अपनी अनवरत साधना से उन्होने निबंध का जितना विकास किया वह किसी से कम नहीं कहा जा सकता है । आज ललित निबंध की जो सशक्त विधा प्रचलित है इसके सूत्रपात का श्रेय प्रतापनारायण मिश्रजी को भी है ।

अध्यापक पूर्णसिंह

ललित निबंध के क्षेत्र में सरदार पूर्णसिंह एक महत्वपूर्ण इस्ताक्षर हैं । हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, पंजाबी और उर्दू भाषा के प्रकांड विद्वान् थे. इन्होने मात्र छः निबंध लिखकर अपना नाम रोशन करदिया । इन के निबंधों में ललित निबेधों के कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है । पूर्णसिंहजी के शुद्ध आचरण उनकी देशभक्ति, समाजोन्नति की अभिलाषा मजदूरों और किसानों के प्रति अत्यधिक आदरभाव एवं प्रेमभाव आदि गुणों से युक्त विशिष्ट व्यक्तित्व निबंन्धों में झलकता है । इस संबंध में डॉ. जयनाथ नलिन का स्पष्ट अभिमत है - "स्वाधीन चिन्तन, अनमिभूत विचार प्रकाशन, प्रभावशाली व्यक्तित्व निश्छल निर्मल अनुभूति, आकर्षक आत्मीयता और सबल मधुर अनुरोध सभी इनके निबंधों में मिलेगा । पश्चिमी समीक्षा सिद्धांतो के अनुसार निबंध का जो स्वरूप संगठित हुआ, जो व्यक्तित्व निखरा, प्राणबल संचित हुआ, वही सब हमें अध्यापक जी के निबंधों में मिलता है ।"[59]

पूर्णसिंह जी के निबंधों में उनके स्वाधीनचिंतन निर्भय प्रकाशन आदि गुण दर्शन होते हैं । इनके ललित निबंधों में लेखक अपना हृदय उड़ेलकर रख देने से पाठक अत्यंत निकट आकर रसास्वादन करने लगता है । ऐसा सगता है कि लेखक पाठकों को कथा सुना रहा है । सजीव भाषा के माध्यम से अपनी आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रकाशन करता

है । चित्रात्मक भाषा का स्वरूप इस अंश से स्पष्ट है - ''गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है । ऊन कातता जाता है । उसकी आँखों में प्रेम की लाली छायी हुई है । वह नीरोगता के पवित्र मंदिस रे मस्त हो रहा है । बाल उसके सारे सफेद हैं । और क्यों न सफेद हो? सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा । परंतु उसके कपोलों से लाली भूट रही है । बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीर सागर में लेटा है उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है ।''[60]

इस प्रकार पूर्णसिंह जी की दृष्टि में परिश्रम करनेवाले किसान बहुत महत्वपूर्ण है । किसान को वे ईश्वर मानते हैं । गड़रिये के उल्लासपूर्ण पारिवारिक जीवन को देखकर निबन्धकार भी वैसे ही जीवन जीने की कामना करते हैं ।

पूर्णसिंहजी प्रत्येक विषय को मुक्त दृष्टि से देखते हैं ।सहज और ललित अभिव्यक्ति इनकी विशेषता है । वे हिन्दी के साथ संस्कृत उर्दू, पंजाबी आदि भाषाओं केअच्छे ज्ञाता होने के कारण उनके निबन्धों में विभिन्न भाषाओं के शब्द सहज रूप में समाविष्ट हो गये हैं । इस संबन्ध में संस्कृतनिष्ठ भाषा का यह उदाहरण दृष्टव्य है - ''हाय ब्रह्मकान्ति के अनन्त प्रकाश में भी मेरे लिए अंधेरा हुआ । अत्यंत अत्याचार है - गंगाजल तो हो शीतल परंतु मेरा मद अपवित्रता के भावों से भरा हुआ मार्गशीर्ष और पौष की ठण्डी रातों में भी अपने काले काले संकल्प के नागों से डसा हुआ जल रहा हो ।''[61]

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर हम उस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पूर्णसिंहजी के निबन्धों में रोचकता सरसता, संप्रेषणीयता, रसात्मकता आदि ललित निबन्धों के सभी गुण विद्यमान है इसीलिए ललित निबन्धकारों में अध्यापक पूर्णसिंह जी एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं और इस ललित निबन्धों की यात्रा में इन्हें महत्वपूर्ण लेखक माना जाता है ।

कुबेरनाथ राय

कुबेरनाथ राय ललित निबंधों के क्षेत्र में एक नवीन भंगिमा अपनाने केलिए सदा प्रयत्नशील हैं । इनके ललित निबंधों में मधुर मोहक एवं मनोरंजन अभिव्यक्ति के साथ विशद एवं विस्तृत

अनुभव विद्यमान है । संस्कारतः परम्परावादी होते हुए भी राय जी की चिंतनधारा और विचारधारा सर्वथा आधुनिक है । इनके ललित निबंध संग्रहों में रस आखेटक, प्रिया नीलकण्ठी, गन्धमादन, निषाद बाँसुरी, विषादयोग, त्रेता का बृहत्साम, पर्णमुकुट, महाकवि की तर्जनी, लोहमृदंग, कामधेनु, मन पवन की नौका, दृष्टि अभिसार आदि उल्लेखनीय है ।

राय जी की दृष्टि अत्यधिक तीक्ष्ण एवं पैनी है । प्रत्येक विषय को पूर्णतया आत्मसात करके इन निबन्धों के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखते हैं जिन निबन्धों में प्रतिभासंपन्न साहित्यकार के रागात्मक व्यक्तित्व की मोहकअभिव्यक्ति है । गम्भीर विषयों को लेकर लिखे गये इनके ललित निबन्धों में भी लालित्य मुख्य रूप में दर्शन होते हैं इस संबन्ध में यह उदाहरण दृष्टव्य है । "वैदिक युग में ही रिक्त और ऋता का अर्थ इतना व्यापक होगया कि इसे यज्ञ, सत्य-जल, जीवनी, शक्ति, काल्पविधि धर्म और मर्यादा, इन सभी अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा । यास्क के निघण्टु में ऋत शब्द को इन सारे अर्थों में प्रस्तुत किया गया है । वैदिक साहित्य के आदि पर्व में मित्र और वरुण को संयुक्त देवता माना गया है और वरुण को ऋतस्य गौपा अर्थात् ऋतका गोपाल कहा गया है ।" इस प्रकार नीरस और शुष्क वस्तुओं का भी स्पर्श करके उनकी गहन शास्त्रीय चर्चा से रस का स्रोत बना देते हैं।"[62]

रायजी के निबन्धों की भाषा में सरसता, रोचकता रागात्मकता लाक्षणिकता आदि गुण विद्यमान हैं । संस्कृतनिष्ठ तत्सम एवं सुन्दर बनाया हैं । इसकेलिए यह उदाहरण दृष्टव्य है - "वे वज्रमुखी चीटियाँ ही उसे यंत्रण का कवच पहनाकर रखती है । जिंदा रह जाती है, केवल आँखे जो दृष्टिस्नायु से उसकी मनोभूमि में बैठी, सविता कन्या से एक ओर जुड़ी है और दूसरी ओर जुड़ी है दृश्यमान जगत् से ।"[63]

कुबेरनाथरायजी भारतीय संस्कृति को बहुरूपी मानते हैं । इनके ललित निबन्धों में सर्वत्र संस्कृति बोलती है । गंगा-यमुना-सरस्वती निबंध में रायजी लिखते हैं - "गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय रूप है और इस संस्कृति का निमित्त कारण है 'आर्य' और उपादान कारण है कि निषाद या निषाद द्राविड़ । अग्नि आर्य की है परन्तु इन्धन जुटाता है आर्योत्तर । बिना इन्धन के अग्नि अस्तित्वमान नहीं रह सकती । इस संस्कृति में टिकाऊपन

आने का कारण यही है कि लोकायत स्तर पर यह अर्येतर का सर्वांग वरण करके चलती है ।[64]

इस प्रकार रायजी ने ललित निबन्धों में गंभीर सांस्कृतिक, गरिमामय वातावरण की सृष्टि की है । इनके ललित निबन्धों के बारे में द्वारिकाप्रसाद सक्सेना लिखते हैं - "आप के निबन्धों में प्रधानता तो लालित्य की है, किंतु यह लालित्य कहीं कल्पना का सहारा लेकर और कहीं आक्रोश का सहारा लेकर व्यक्त हुआ है ।"[65]

अंततः यह कह सकते हैं कि रायजी ने खोयेहुए आत्मसम्मान को पुनः आत्मविश्वास में परिवर्तित करने की चेष्टा की है । और इनके निबन्धों में नई अनुभूति, नई कल्पना, नए विचार, नई शैली एवं नई प्रेरणा सर्वत्र दिखाई देती है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का आगमन हिन्दी ललित निबंधों के त्रेत्र में वरदान सिद्ध हुआ । ललित निबन्धों को सुचारु एवं सुस्पष्ट रूपनिधान प्रदान करने में वे अग्रगण्य हैं । अशोक के फूल, कल्पलता, कुटज, साहित्य सहचर, विचार प्रवाह, विचारऔर वितर्क, आलोक पर्व आदि निवन्ध संग्रह उल्लेखनीय है ।

भारतीय संस्कृति की साकार प्रतिमा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्त्व महान् गुणों का समवाय था । अगाध पांडित्य, ईश्वर में दृड आस्था, लोकजीवन इतिहास और सौन्दर्य से प्रेम आदि इनके व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण थे । ये गुण उनके ललित निबन्धों में सर्वत्र सहज रूप से दिखाई देते हैं । उनके व्यक्तित्व का परिचायक कथन इस प्रकार है - "पंडिताई भी एक बोझ है - जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है । जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है तब वह बोझ नहीं रहती ।"[66] इस कथन से विदित होता है कि द्विवेदी जी के पाण्डित्य में सहजता है । वह जीवन का अंग बनकर उनके ललित निबन्धों में अत्यंत सहज और स्वाभीविक रूप में अभिव्यक्त हुआ है ।

द्विवेदीजी के निबन्धों में 'वसंत आगया है' आम फिर बौरा गए आदि ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति के समग्र दर्शन होते हैं । उनके विषय में जयनाथ नलिन ने लिखते हैं "उनके अनेक निबन्ध वैयक्तिक या आत्मपरक हैं । निबंध की धारा में कहते कहते वह सहसा निजी विचार देने लगते हैं ।"[67] इस से यह विदित होता है कि जब भी वे लिखते हैं तो अपनी अनुभूतियों को चित्रित करने लगते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ये पाठक से बात कर रहे हैं और निज हृदय को उखाड़कर रख रहे हैं ।

द्विवेदी की भाषा शैली अत्यंत परिष्कृत, परिमार्जित, प्रभावोत्पादक एवं सरस है । मातृभाषा भोजपुरी होते हुए भी द्विवेदी जीने साहित्यिक परिष्कृत खड़ीबोली को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है । ज्येतिष, इतिहास, दर्शन, भाषा विज्ञान, साहित्य शास्त्र आदि के पण्डित द्विवेदीजी का शब्द-भण्डार अत्यंत व्यापक था । इसलिए इनकी भाषा उक्त सभी ज्ञान-विज्ञान की पदावली से सुसज्जित है । इस प्रकार इनके ललित निबन्धों में एकसाथ सरलता, सरसता, विद्वत्ता, विनोदप्रियता आद्रि गुणों को देखा जा सकता है । पाठक भी ऐसी हालत में आत्मविभोर एवं मंत्रमुग्ध सा होकर स्वात्मानुभूति करने लगता है । इस संबन्ध में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है -. "द्विवेदी जी के निबन्धों में व्यक्त पक्कड़पन और मस्त मौला का भाव, जो उन्हें कबीर के व्यक्तित्व में अत्यंत प्रीतिकर लगता है और जिसने स्वयं उनके निबंधों में निहित पांडित्य को इतना ललित बना दिया है ।"[68]

इस प्रकार द्विवेदी जी के ग्रन्थों का अवलोकन करने पर उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने हिन्दी ललित निबन्ध की स्थापना की और साथ ही उसे गरिमामय स्वरूप प्रदान किया । संस्कृति, प्रकृति-प्रेम, संस्कृत वाङ्मय के सन्दर्भों के द्वारा विषय को गुरु-गंभीर बनाने का प्रयास करनेवाले ये श्रेष्ठ निबन्धकार हैं । द्विवेदी जी ने ललित निबेध लिखकर उसे एक व्यापक आयाम दिया जिसके परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र में विद्यानिवास मिश्र का आगमन हुआ । मिश्र ने इस परंपरा को आगे बढ़ाने में अहं भूमिका निभाई ।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि हिन्दी ललित निबंधों के लक्षण भारतेन्दु युग के निबंधकारों में अंकुरावस्था में दिखाई देते हैं । जो कि शुक्ल युग में पौधे का रूप धारण करते हुए द्विवेदी

युग में वृक्ष का आकार प्राप्त करते हैं । आगे चलकर विद्यानिवास मिश्र जी के समय में ये पुष्पित और पल्लवित होते हुए दिखाई देते हैं । वर्तमान युग में ललित निबंध साहित्य का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है । पंडित बालकृषण भट्ट से पंडित विद्यानिवास मिश्र तक ललित निबन्ध ने जो यात्रा तय की है, उस पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि ललित निबन्ध एक ऐसी विधा के रूप में उन्नती की चरमसीमा पर पहुँचगई है जिस में विचारों के साथ भावों की सुगन्ध है ।

विद्यानिवास मिश्रजी द्विवेदीजी की परंपरा के ललित निबन्धकार हैं । इन दोनो ललित निबन्धकारों को लोक-संस्कृति, लोक-जीवन भारतीयता, प्रकृति आदि के प्रति अत्यधिक प्रेम है । अपनी निबन्ध कला के माध्यम से विद्यानिवास मिश्र ने ललित निबन्धों के विकास का जो मार्ग प्रशस्त किया वह अप्रतिम और हिन्दी साहित्य की अमूल्य थाति है ।

संदर्भ-ग्रन्थ

1.	भगवद्गीता	अध्याय 16, श्लोक 5.
2.	रामचन्द्र वर्मा	मानक हिन्दी कोश, खण्ड 3.
3.	कालिका प्रसाद	बृहत् हिन्दी कोश, पृ. 329.
4.	गोविन्द चातक	बृहत् हिन्दी पर्यायवाची शब्दकोश, पृ.230.
5.	वामन शिवराम आप्टे	शब्दकोश.
6.	रामचन्द्र वर्मा	मानक हिन्दी कोश, पृ. 605.
7.	भोलानाथ तिवारी	व्यावहारिक हिन्दी अंग्रेजी कोश, पृ.668.
8.	रमेश कुन्तल मेघ	क्योंकि समय एक शब्द है, पृ. 37.
9.	डॉ. अज्ञेय	जोग लिखी, पृ. 105.
10.	डॉ. जयनाथ नलिन	हिन्दी निबन्धों के आलोक शिखर, पृ.35.
11.	डॉ. कीर्तिवल्लभ शर्म	हिन्दी गद्य की विधायें, पृ. 60.
12.	द्वारकाप्रसाद सक्सेना	हिन्दी के प्रतिनिधि निबंधकार, पृ.362.
13.	डॉ. हरिवंशराय बच्चन	समसामयिक साहित्य, ललित निबंध, पृ.268.

14.	कुबेरनाथ राय	दृष्टि अभिसार, पृ.7 (भूमिका).
15.	डॉ. नगरेन्द्र	हिन्दी वाङ्मयी बीसवी शती, पृ. 343.
16.	ज्ञानेन्द्र वर्मा	समसामयिक हिन्दी निबन्ध, पृ. 21.
17.	कुबेरनाथ राय	दृष्टि अभिसार, भूमिका, पृ.
18.	विद्यानिवास मिश्र	कंटीले तारों के आर-पार, पृ.110.
19.	लक्ष्मीनारायण सुधांशु	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ.62,.
20.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 605.
21.	विद्यानिवास मिश्र	आंगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.102.
22.	वही	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.139.
23.	वही	तुम चन्दन हम पानी, पृ.13.
24.	वही	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ. 51.
25.	वही	तुम चन्दन हम पानी, पृ.28.
26.	वही	छितवन की छाँह, पृ.32.
27.	वही	संचारिणी, पृ.14.
28.	वही	आस्मिता केलिए, पृ. 31.
29.	वही	तुम चन्दन हम पानी, पृ. 68.
30.	वही	वही, पृ. 95.
31.	वही	संचारिणी, पृ.16.
32.	वही	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ. 53.
33.	वही	संचारिणी, पृ.35.
34.	वही	वही.
35.	वही	वही.
36.	वही	कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ. 102.
37.	वही	गाँव का मन
38.	वही	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.101.

39.	विद्यानिवास मिश्र	कंटीले तारों के आर-पार, पृ. 103.
40.	वही	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ. 51.
41.	वही	आंगन का पंछी और बनजारा मन, पृ. 51.
42.	वही	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ. 128.
43.	वही	आंगन का पंछी और बनजारा मन, पृ. 18.
44.	डॉ. मु.ब. शाह	हिन्दी निबन्धों का शैलिगत अध्ययन, पृ. 37.
45.	वही	वही, पृ.37.
46.	विद्यानिवास मिश्र	कंटीले तारों के आर-पार, पृ.110.
47.	वही	छितवन का छाँह, पृ. 29.
48.	डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ.133.
49.	डॉ. ओंकारनाथ शर्मा	हिन्दी निबन्ध का विकास, पृ. 120.
50.	डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त	हिन्दी साहित्य में निबंध और निबन्धकार, पृ. 141.
51.	धनंजय भट्ट	बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों का संग्रह, पृ. 219.
52.	वही	वही,पृ. 137.
53.	वही	वही, पृ. 133.
54.	वही	वही, पृ. 170.
55.	वही	भट्ट निबन्धमाला, (वक्तव्य).
56.	जयनाथ 'नलिन'	हिन्दी निबन्धकार, पृ. 85.
57.	प्रेमनारायण टण्डन	प्रताप समीक्षा, पृ. 97.
58.	जयनाथ नलिन	हिन्दी निबन्धकार, पृ. 86.
59.	वही	वही, पृ.123.
60.	प्रभात शास्त्री	सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध, पृ. 139.
61.	वही	वही, पृ. 90.
62.	कुबेरनाथ राय	महाकवि की तर्जनी, पृ. 61.
63.	वही	वही, पृ. 9.

64.	कुबेरनाथ राय	दृष्टि अभिसार, पृ. 10.
65.	द्वारिका प्रसाद सक्सेना	हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार, पृ. 364.
66.	डॉ. मुकुन्द द्विवेदी	हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, पृ.2. (भाग 9).
67.	जयनाथ 'नलिन'	हिन्दी निबंधकार, पृ. 228.
68.	डॉ. हरिवंशराय बच्चन	समसामयिक साहित्य, पृ. 268.

चतुर्थ अध्याय

भारतीय संस्कृति और विद्यानिवास मिश्र

चतुर्थ अध्याय

भारतीय संस्कृति और विद्यानिवास मिश्र

संस्कृति का व्युत्पत्तिजन्य एवं कोशगत अर्थ

संस्कृति की अवधारणा एवं स्वरूप की चर्चा करने के पूर्व हमें उसके मूल एवं कोशगत अर्थ को जान लेना अधिक समीचीन होगा । संस्कृत शब्दकोश में संस्कृति के विविध अर्थ दिये हैं । गणेश शर्मा के संस्कृत धातुकोश के अनुसार - 'कृ' (परशस्मैपदी) धातु के साथ 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'सुट्' का आगम होकर 'संस्कृ' धातु का अर्थ 1. स्वच्छ करना 2. बटोरना, एकत्र करना होता है ।[1]

वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत हिन्दी कोश में लिखा है "कृ" (धातु) में सम् (प्रत्यय) जोड़ने से अर्थ हुआ मिलाना, सम्मिश्रण करना, एक स्थान पर गड्ड-मड्ड करना ।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों संस्कृत, हिन्दी कोशो में संस्कृति के व्युत्पत्तिपरक अर्थ बताए ।

डा. श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी शब्द सागर में संस्कृति को रहन सहन की रूढी कहा है ।[3]

कालिकाप्रसाद के अनुसार संस्कृति का अर्थ "आचारगत परंपरा है ।"[4]

रामचन्द्र वर्मा ने प्रामाणिक हिन्दी कोश में लिखा है - "संस्कृति के अंतर्गत मन, रूचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास सूचक बाते आती हैं"।[5]

डां. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य कोश में लिखा है - "संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग के साथ संस्कृत की (डु) कृ (त्र) धातु से बनता है । जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है । आज की हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द कल्चर का पर्याय माना जाता है । संस्कृति शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थो में होता है । एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थ में । व्यापक अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग नर विज्ञान में किया जाता है । उक्त विज्ञान

के अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहार का नाम हैं, जो सामाजिक परंपरा से प्राप्त होता है । इस अर्थ में संस्कृति को 'सामाजिक प्रथा' (कस्टम्) का पर्याय भी कहा जाता है । संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है । इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं ।''[6]

डॉ. देवराज ने 'हिन्दी साहित्य कोश' में संस्कृति के विषय में लिखा है - ''संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनानेवाली हैं । इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होनेवाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधना आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यपारों को संस्कृति की संज्ञा दे सकते हें ।''[7]

इस प्रकार संस्कृति के कोशगत अर्थ विभिन्न कोशों में दिये गये हैं । जब से मानव की उत्पत्ति हुई, तब से वह अपनी किसी न किसी संस्कृति के अंतर्गत जीवन यापन करता रहा । भले ही उसका प्रारंभिक स्वरूप भोजन के लिए मार-काट या हिंसा की रही हो । कालांतर में मनुष्य के विकास के साथ साथ उसकी एवं परिवेशगत संस्कृति में भी बदलाव आया । बेहतर होगा कि संस्कृति की अवधारणा एवं उसके स्वरूप को जानने के लिए हम वैदिक साहित्य से लेकर आजतक के साहित्य के माध्यम से विभिन्न मनीषियों, विद्वानों और साहित्यकारों के मतों से परिचित हो ।

संस्कृति की अवधारणा एवं स्वरूप

वैदिक साहित्य में संस्कृति की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती है । परंतु इस शब्द का उल्लेख यजुर्वेद में अवश्य मिलता है ।

''अविच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य दयितारः स्याम, सा प्रथमो संस्कृति र्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ।''[8]

ब्राह्मण साहित्य में संस्कृति को वह शक्ति माना है, जो मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नयन की साधना को सिद्ध करती है । इस का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है ।

''आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते ।''[9]

उपनिषद् में संस्कृति शब्द की स्पष्ट परिभाषा देने का पयत्न किया गया है । छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार 'संस्कृति' मनुष्य को मानवतावादी दृष्टि प्रदान करती है । यह दृष्टि समस्त आदर्शों की समष्टि है जिसका उल्लेख उपनिषद् में इस प्रकार प्राप्त है - कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवनव्यापारेषु, सामाजिक संबन्धेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः ।''[10]

अध्यात्म प्रधान इस भारत वर्ष की संस्कृति की मूलस्थापना तपोवन में तपस्यारत मनीषियों के द्वारा हुई । इसलिए संस्कृति की परभिाषाओं में सर्वत्र आध्यात्मिकता का समावेश दृष्टिगोचर होता है । इस संबन्ध में श्रेष्ठ मनीषी जैमिनी के अनुसार 'प्राकृतिक स्वभाव में सुधार की स्थिति ही संस्कृति है । उन के शब्दों में -

''संस्कारो हि नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्यो भवति योग्यः कस्यचिदर्थश्च ।''[11]

संस्कृति का अर्थ अत्यंत व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है । अनेक विद्वानों ने इस शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है -

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक श्री रामधारी सिंह दिनकर जी लिखते हैं - ''संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं । इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है । यही नहीं बल्कि, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है ।''[12]

संस्कृति के सम्बन्ध में अन्यत्र दिनकर जी लिखते हैं - ''संस्कृति मनुष्य का वह गुण है जिससे वह अपनी भीतरी उन्नती करता है, दया, माया और परोपकार सीखता है । गीत-नाद कविता चित्र और मूर्ति से आनंद लेने की योग्यता हासिल करता है ।''[13]

सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में संस्कृति इस प्रकार है -

गूढ राग का संवेदन ही जीवन का इतिहास राग शक्ति का विपुल समन्वय जन-समाज संवास, निखिल ज्ञान - विज्ञानों में वह पाता नव अभिव्यक्ति रागतत्व ही मूल धातु संस्कृतियाँ रूप विभक्ति ।''[14]

संस्कृति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए डॉ. गुलाबराय लिखते हैं - 'संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है - संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी । किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं । भाव-वाचक होने के कारण संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है ।''[15]

आधुनिक युग की प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा का कथन है - ''संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है ।''[16]

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के अनुसार संस्कृति की परभिाषा है -

संस्कृति किसी जाति की एक ऐसी जीवन पद्धति है जो अपनी प्राणशक्ति को नित्य सजीव रखते हुए अखण्ड व सांगोपांग जीवनधारा के रूप में सभ्यता के बाह्य परिवर्तनशील रूपों के बीच अक्षुण्ण रहती हुई दुःखमय जातीय परिस्थितियों के बीच प्रज्ज्वलित रहती हुई, सामाजिक संस्थाओं का रूप निर्माण करती हुई, जनता के बौद्धिक और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण को आशय और दिशा प्रदान करती हुई जीवन मूल्यों को अविचलित रखती हुई हमारे विचार, वाणी व अचरण को आस्फूर्त-आलोकित करती हुई प्रवहमान रहती है । वह हमारी जातीय जीवन के एक ऐसे केन्द्रीय भाव से शासित रहकर ज्वलंत रहती है जो स्वयं अपना साध्य हो किसी भी अन्य साध्य का साधन न हो ।''[17]

संस्कृति के संबंध में डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है - ''संस्कृति उत्पादन के साधनों की बाहरी रूप-रेखा मात्र नहीं है हालांकि मार्क्सवादी संस्कृति को यही समझते हैं ।''[18]

इनके कथनानुसार संस्कृति में आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियाँ, आध्यात्मिक परंपराएँ निभिन्न दर्शन, सामाजिक संस्थाएँ, आर्थिक व्यवस्थाएँ, वैज्ञानिक मान्यताएँ आदि अनेक तत्व मौजूद हैं । रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी मानते हैं कि ''संस्कृति मस्तिष्क का जीवन है ।''[19]

संस्कृति को आंतरिक तथ्य के नाम से अभिहित करते हुए हीरेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है - ''जाति विशेष के आंतरिक भावों की अभिव्यंजना को संस्कृति समझना चाहिए ।''[20] (Culture or Kristhi is the outer expression of the inner genius of the people).

संस्कृति शब्द पर विचार करते हुए निर्मलकुमार बोस लिखते हैं - ''संस्कृति मनुष्य के बृहद् आवश्यकताओं का पूरक है । मानवीय व्यवहारों उसके भाषण, उसके औजारों के प्रयोग की क्षमता आदि में परिलक्षित होता है ।''[21]

बी.पी.सिन्हा के अनुसार संस्कृति का अर्थ है - ''मनुष्य संपूर्ण मानवजाति को ऐक्यभाव से अनुभव करें ।''[22]

डॉ. सम्पूर्णानन्द के अनुसार ''संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते है, जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप कहता है । यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है । थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है ।''[23]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं - ''संस्कृति मनुष्य की भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है । हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है । संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसकी मूर्तिमान रूप होता है । जीवन के नाना विध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है ।''[24]

श्री महादेव शास्त्री दिवेकर के अनुसार - ''सम्यक कृतियों और परंपरा से प्राप्त संस्कारों की समष्टि को संस्कृति कह सकते हैं ।''[25]

इन्द्रविद्यावाचस्पति का यह कथन उल्लेखनीय है - ''धर्म-साहित्य रीति-रिवाज, परंपराओं, सामाजिक संगठन आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों के समुदाय का नाम ही संस्कृति है ।''[26]

विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने संस्कृति के विषय में लिखा है - ''साधारण व्यक्ति केलिए संस्कृति का अर्थ उत्तम कर्म में लीन रहना है ।''[27]

मैथिलीशरण गुप्त जी के बारे में लिखते समय डॉ. उमाकांत संस्कृति से संबंधित अपना विचार प्रस्तुत करते हैं - ''संस्कृति मानव जातियों के दो विभेदक लक्षणों में से एक है । दूसरा लक्षण है शरीर निर्माण अथवा शारीरिक गठन इनमें से प्रथम अपेक्षाकृत सूक्ष्म और जटिल है । मानव हृदय से संबद्ध और सब कुछ भी तो जटिल ही है । इसीलिए उसे परिभाषाबद्ध करना, परिभाषा द्वारा चारों खूँट बाँध डालना कठिन हुआ करता है ।''[28]

डॉ. सत्यकेतु लिखते हैं - ''चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस सुन्दर और कल्याणमय बनाने केलिए मनुष्य जो यत्न करता है उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है ।''[29]

प्रो.बलदेव कृष्ण के अनुसार संस्कृति की व्याख्या है - ''संस्कृति मानवात्मा को असत्य से सत्य की ओर अंधकार से ज्योति की ओर मृत्यु से अमरत्व की ओर अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसर करती है । संस्कृति मानवात्मा को परिष्कार करके उसमें सद्विचारों का बीज उगा दैती है और वही कालांतर में सुकृति रूप, सुस्वादु फल प्रदान करते हैं ।''[30]

डॉ. रामजी उपाध्याय का कथन इस प्रकार है - ''सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य भावना के विकास का परिचय देता है । मानव का यही विकास संस्कृति है । संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना सुन्दर या पूर्ण बनाना है ।''[31]

संस्कृति के संबंध में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र लिखते हैं - ''संस्कृति है मानव जीवन के विचार-उच्चार आचार का संशुद्धीकरण अथवा परिमार्जन । वह है मानव समाज की परिमार्जित मति रुचि और प्रवृत्तिपुंज का नाम है ।''[32]

राहुल सांकृत्यायन अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "एक पीढ़ी आती है वह अपने आचार-विचार, रुचि-अरुचि, कला-संगीत, भोजन-छाजन या किसी और आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी केलिए छोड़ जाती है । एक पीढ़ी के बाद दूसरी, के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ीयाँ आती जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अपनी अगली पीढ़ी पर छोड़ती जाती है । यही प्रभाव (संस्कार) संस्कृति है ।"[33]

मनुष्य-जीवन का विकासित रूप ही संस्कृति है । अतएव व्यवहार कुशल एवं मानवता गुण संपन्न व्यक्ति को संस्कृत की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । इस प्रकार मानते हुए संस्कृति शब्द के संवन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विचार और वितर्क नामक निबंध में लिखते हैं - "सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है । सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाआओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का ।"[34]

संस्कृति की व्याख्या करते हुए 'सभ्यता और संस्कृति' नामक निबंध में द्विवेदी जी ने ही लिखा है - "जो व्यक्ति के अन्तर का विकास हो, भविष्य के, अतीत के आदर्शपर जिसकी दृष्टि से जो दूर की ओर दृष्टि रखती हो, व्यवस्था के अतीत पर दृष्टि रखती हो, जो स्थाई हो वह संस्कृति है ।"[35]

संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति मानते हुए 'अशोक के फूल' नामक निबंध संग्रह में द्विवेदी जी पुनः लिखते हैं - "आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परंपरा और सौन्दर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना ये सभ्यता के चार स्तंभ हैं । इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है ।"[36]

आधुनिक काल के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में - "संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है ।"[37]

डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार "व्यक्ति और समाज के परिष्करण, उदात्तीकरण अथवा उसके सत्य शिव, सुन्दर स्वरूप निर्माण केलिए उस व्यक्ति और समाज को उसके अस्तित्व

के आदि युग से आज तक जो परंपराएँ प्राप्त हुई हैं उन्ही का नाम संस्कृति है । दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि भीतर और बाहर से हम जो कुछ है वही हमारी संस्कृति का स्वरूप है ।''[38]

हरिवंशलाल शर्मा ने अपनी 'सूर उनका साहित्य' नामक कृति में लिखा है - ''किसी विशिष्टसमाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवों के आधारपर साधु आचरण के जो मापदंड स्थिर कर दिये जाते हैं वे जब सूक्ष्म भावनात्मक रूप में परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन में अनायास ही व्यवहृत होने लगते हैं तो संस्कृति का नाम पाते हैं ।''[39]

इस प्रकार मैंने भारतीय संस्कृति की अवधारणा एवं उसके स्वरूप के संबन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख किया है । जो कि विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध साहित्य में सांस्कृतिक तत्वों को ढूँढने में सहायक सिद्ध होंगे । यहाँ मात्र संस्कृति को समझने का मेरा प्रयास है । इसके पश्चात् मैंने संक्षिप्त रूप से सभ्यता समाज और साहित्य से संस्कृति के संबन्धों की चर्चा की है साथ ही भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का उल्लेख भी किया है । अंत में मिश्रजी की संस्कृति संबंधी विचारधाराओं का व्यापक एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता के बीच घनिष्ठ संबंध है । संस्कृति मानव जीवन को सभी प्रकार का सुख प्रदान करनेवाली है, और इसका संबंध आत्मा से है । सभ्यों के गुणों का भाव को सभ्यता कहते हैं । ''सभायां साधुरिति सभ्यः'' इस का विकास किसी मनुष्य या समाज के उन गुणों का आश्रय लेकर होता है जिनके द्वारा लोग समाज का संगठन करते हैं । वस्त्र, भोजन, मकान-यान आदि सभ्यता के उपकरण हैं । संस्कृति भौतिक है । संस्कृति में मानव की योग्यता बढ़ानेवाला गुण होता है, सभ्यता में परोपकार करने की क्षमता होती है । संस्कृति से संबन्न व्यक्ति भी सार्वजनिक कल्याण के पथ से विमुक्त होने पर असभ्य कहलाता है । इस संबन्ध में भर्तृहरी का यह श्लोक दृष्टव्य है -

"दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥"[40]

सभ्यता के द्वारा मनुष्य सुजन बनने में सक्षम होता है ।

संस्कृति और सभ्यता के संबंध में दिनकर जी का यह कथन उल्लेखनीय है - "संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महान् चीज होती है यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है, जैसे दूध में मक्कन या फूलों में सुगंध ।"[41]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी संस्कृति और सभ्यता का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है - "सभ्यता समाज की बाध्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अंतर का विकास का है ।"[42]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि संस्कृति की अभिव्यक्ति सभ्यता में होती है । संस्कृति साध्य है तो सभ्यता साधन है परंतु संस्कृति में साधन तत्व भी मौजूद हैं ।

संस्कृति और समाज

संस्कृति का संबंध समाज से अत्यधिक है । किसी भी देश का सामाजिक प्रभाव उस देश की संस्कृति पर अवश्य पड़ता है । चाहे देश छोटा या बड़ा हो फिर भी वहाँ के रहनेवाले एक समाज में आबद्ध होते हैं, इसीलिए उनकी संस्कृति भी आपस में सामंजस्य स्थापित कर लेती है । सांस्कृतिक चेतना के कारण ही समाज एकता के सूत्र में आबद्ध होता है । किसी भी समाज में भोजन वस्त्र, वर्ण आदि से संबंधित ऐक्य इस सांस्कृतिक प्रभाव के फलस्वरूप ही है ।

समय गवाह है कि देश की सामाजिक संस्कृति पर अनेक प्रहार हुए हैं, फिर भी वह मूल संस्कृति के साथ जीवित रही है और आज भी है । यही कारण है कि लोकों में अपने समाज के प्रति एक आस्था और विश्वास बना हुआ है । इस प्रकार संस्कृति की धारा समाज को सुसमृद्ध बनाने में सहायक हैं । अतः यह कह सकते हैं कि संस्कृति और समाज का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है । साहित्य और समाज का संबन्ध स्थापित करते हुए जैनेन्द्रकुमार लिखते

हैं - "साहित्य अधिकाधिक व्यक्तिगत हौता जा रहा है । पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था । समाज की नीति-अनीति की मान्यताओं की ज्यों की त्यों स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिंबित दिखती थी । अब उसी साहित्य में समाज की उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है । अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं को अपने में बिंब प्रतिबिंब भाव से धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसा तत्त्व है जो समाज को प्रतिबिंबित तो करें पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे और इस भाँति समाज को आगे बढ़ाने का काम भी करें ।"[43]

साहित्य और समाज के रिश्ते की बात करते हुए विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं - "समाज और साहित्य के बीच एक अजीब रिश्ता है, इनका एक दूसरे के बिना काम भी नहीं चलता और ये एक दूसरे से निरपेक्ष भी होना चाहते हैं । साहित्य समाज केलिए होता है पर समाज साहित्य से नियमित होने केलिए तैयार नहीं होता है । इसी प्रकार साहित्य सामाजिक संप्रेक्षण के बिना अस्तित्व नहीं रखता । परंतु साहित्य सामाजिक व्यवस्था को उस में प्रश्न जिन्ह लगता है, उसकी विसंगति मनुष्य के व्यक्तित्व को कितना तोड़ रहे है, यह अनुभव उसी समाज से बँटाना चाहता है जिसमें वह व्यवस्था है यह जोखिम उठाकर कि समाज को वह प्रीतिकर शायद न लगे या कभी-कभी धक्का मार लगे या समाज के नियामक वर्ग-विशेष को वह एकदम ध्वंसक भी लगे ।"[44]

आज़ादी के पश्चात् पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के परिणाम स्वरूप साहित्य और समाज के स्वरूप में काफ़ी बदलाव आया । इसका परिणाम यह रहा है कि साहित्य में वह बहुत छूट गया की समाज में घटित हो रहा है । मानव मन की गुत्थियों को समझना बड़ा मुश्किल हो रहा है क्योंकि जीवन की जटिलताएँ पढ़ती जा रही है । अतः इस प्रकार के समाज में एक नई प्रकार की संस्कृति विकसित हो रही है, जो संस्कृति और समाज के संबंधों को समझने में मुश्किलें पैदा कर रही है । पहले के समाज एवं आज के समाज में काफ़ी अन्तर आया है साथ ही उसकी संस्कृति भी बदली है ।

संस्कृति और साहित्य

संस्कृति के विराट फलक के अंतर्गत ही साहित्य जीवनयात्रा करता है, लेकिन उसकी विराटता को हम साहित्य के माध्यम से ही जानते हैं । वस्तुतः संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत विशाल है और साहित्य उसका एक अंशमात्र है, फिर भी संस्कृति और साहित्य का संबंध अत्यंत ही घनिष्ठ है । यदि साहित्य और संस्कृति के इतिहास की खोज की जाय तो उनका आदि स्थान वेद में ही मिलेगा । साहित्य का उद्देश्य विभिन्न युगों में अलग अलग रहा है । कभी तो वह वीर श्रृंगार भावों को व्यक्त करता है तो कभी कलात्मकता को सब-कुछ मानता है । मध्यकाल में गोस्वामी तुलसीदास ने उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना जो कि लोगों का कल्याण करें जैसे -

"कीरति भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।"[45]

डॉ. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल इस संबंध में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं - "संस्कृति की विविध बाह्य अभिव्यक्तियों में से साहित्य भी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है । संस्कृति का स्वरूप अत्यंत विशाल है । उस में धर्म कला, दर्शन साहित्य विज्ञान साधना भक्ति सभी समाविष्ट हैं । वह जाति देश या विश्व की सर्वोच्च उपलब्धियों का सार है । इस दृष्टि से संस्कृति की परिधि अत्यंत विशाल है । साहित्य उस विस्तृत क्षेत्र का एक अंग मात्र है । दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि शब्द के माध्यम से और कल्पना की सहायता से जहाँ सौन्दर्य की सृष्टि केलिए मानव भावों और विचारों का रमणीयता से प्रकाशन होता है, वही साहित्य है ।"[46]

यह सर्वमान्य तथ्य है कि जहाँ के लोग सुसंस्कृत हैं वहाँ का साहित्य ही सर्वहितकारी, व्यापक एवं विशाल होगा । संस्कृति से संपन्न उच्च विचारवाला साहित्य की श्रेष्ठता का गौरव प्राप्त करता है । लेकिन जिसमें कि लोगों के कल्याण की भावना निहित होती है । उदाहरण स्वरूप रामायण और गोदान की लोकप्रियता का कारण यह है कि उसमें हमें अपना सुख-दुःख, आशा-निराशा, राग-विराग और उत्थान-पतन आदि सभी बातें मिलती है जो कि हमसे संपूर्ण जीवन-दर्शन को व्यक्त करती है ।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की परिभाषा थोड़े शब्दों में देना कठिन है, क्योंकि भारत का एक लंबा इतिहास है जिस पर अनेक जातियों तथा धर्मों का प्रभाव पड़ता रहा है । यहाँ की शासन व्यवस्था, सामाजिक संगठन दर्शन साहित्य कला आदि समयानुसार विभिन्न प्रकार से प्रभावित होते रहे है । फिर भी भारत की संस्कृति अपना एक चरम आदर्श रखती है, जो आध्यात्मिकता की ओर उत्प्रेरित करती है । हमारी संस्कृति के अनुसार धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति केलिए ही मनुष्य को जीवित रहना चाहिए । भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है - "आत्मानं विजानीहि" (अपने आप को जानो) और इस बात को बताने केलिए रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, दयानन्द, रवीन्द्र, गान्धी आदि तथा शंकर, बुद्ध, महावीर आदि ने भी जन्म लिया । संस्कृति से संबन्धित विचार प्रस्तुत करते हुए पं. जवाहरलाल नोहरु लिखते हैं - "संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं और इस में कोई भी संदेह नहीं कि अनेक राष्ट्रो ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित करलिए हैं ।"[47]

भारतीय संस्कृति मूल रूप से हिन्दू-संस्कृति या वैदिक संस्कृति है । इस पर अनेक संस्कृतियों का प्रभाव भी पड़ा । आघात-प्रत्याघात को सहन करने के पश्चात् भी इस संस्कृति की मूल आत्मा तो भारतीय ही है । अनेक विद्वानों ने भीरतीय संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । डॉ. कृष्णचंद्र पांडेय ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालने हुए लिखा है - 'संक्षेप में भारतीय संस्कृति की अग्रलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं - आध्यात्मिकता, परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास, समन्वयवादिता, वर्णाश्रम व्यवस्था, सत्य अहिंसा, प्रेम, अपरिग्रह, अस्तेय का पालन करुणा मैत्री शील तथा विनय भावना प्रकृति प्रेम, उत्सव-प्रियता, सहयोग स्वावलंबन, सेवा, त्याग तथा निष्काम कर्म इत्यादि । इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति मनुष्य की बाह्य शुद्धि के साथ आन्तरिक शुद्धि पर भी बल देती है ।"[48]

मुख्य रूप से देखा जाय तो भारतीय संस्कृति में निम्नलिखित विशेषताएँ मौजूद हैं ।

पहली विशेषता आध्यात्मिकता है । भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति रही है । आत्मा के द्वारा परमात्मा का आनन्द प्राप्त करना ही आध्यात्मिक पथ का परम लक्ष्य होता है ।

दूसरी विशेषता धर्म प्रधानता है । संस्कृति में धर्म शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है । यह 'धृ' धातु से बना है और इसका शाब्दिक अर्थ है - वह जो किसी वस्तु को धारण करें । अतः प्रत्येक वस्तु मनुष्य समाज जिन नियमों पर आधारित करते हैं, उनको धर्म कहा जा सकता है । साधारणतः धर्म पालन का अर्थ कर्तव्य पालन माना जाता है । भारत में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को मिलानेवाला ही धर्म है ।

तीसरी विशेषता अमरता है । यह देश के उत्थान-पतन, आंतरिक उथल-पुथल, विदेशियों के प्रबल आक्रमण आदि पर भी अपने मूल रूप में विद्यमान है ।

चौथी विशेषता सर्वांगीणता है । भारतीय संस्कृति का निर्माण में सभी वर्गों के लोगों का योगदान रहा है । इस में जीवन के चारों वर्गों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सफल समन्वय है । इस प्रकार भीरतीय संस्कृति की आशावादिता दृष्टि गोचर है ।

पांचवी विशेषता प्राचीनता है । ईराक की सबसे पुरानी जाति सुमेर पर वैदिक सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव है । वैसे तो मिश्र यूनान और बेबीलोन की सभ्यताओं को प्राचीन मानते हैं । परंतु वैदिक सभ्यता उससे भी प्राचीन है । इस प्रकार भारतीय संस्कृति प्राचीनतम रूप में विद्यमान है ।

छठी विशेषता देवपरायणता है । भारत में लोग अपने से अलग ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते आये हैं । धर्म का सच्चा रूप ईश्वर में सन्निहित है । हिन्दी समाज ईश्वर को किसी रूप में भी मानने को तैयार है । भारतीय धारणा के अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यही नहीं बल्कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा भी इसी देव परायणता के बल पर ही स्थित है ।

सातवी विशेषता समन्वयवादिता है । भारतीय संस्कृति में सभी संस्कृतियों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है । वेद का पवित्र उदेदश्य भी यह है कि "संगच्छध्वं संवदध्वं शं

वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानानां उपासते ।"[49] अर्थात्, हे मानव, तुम दूसरे मानवों के साथ मिलकर चलो, तुम्हारा मनन व चिन्तन मिलकर ही दूसरों के साथ अपनी भावनाओं को मिलाते हुए तुम संसार के अनेक पदार्थों का उपभोग करो । इस उपदेश के अनुसार भारतीयों ने कभी भी किसी धर्म का या मानव जाति का अनादर नहीं किया । शैव और वैष्णवों का, ज्ञान और भक्ति का, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में किया 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्' की घोषणा के द्वारा गान्धीजी ने भी सर्व धर्म समन्वय का परिचय दिया ।

आठवी विशेषता परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास है । भारतीय संस्कृति की इस विशेषता के फलस्वरूप अनेक लोगों ने गलत काम करने से अपने आप को रोका है । इसलिए यह परलोक तथा पुनर्जन्म की भावना लोगों को उचित मार्ग की ओर अग्रसर करती है ।

नवीं विशेषता आश्रम व्यवस्था है । मनुष्य के पूर्ण आयु को चार भागों में विभक्त किया गया है । पहली अवस्था को 'ब्रह्मचर्य, दूसरी अवस्था को गृहस्थ, तीसरी अवस्था को वानप्रस्थ एवं चौथी अवस्था को संन्यास के अंतर्गत माना गया है । इसी प्रकार विभक्त करके अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास का अवसर प्रदान किया गया है ।

दसवीं विशेषता सहिष्णुता है । भारतीय संस्कृती का परिचायक ग्रन्थ ऋग्वेद में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति का वर्णन किया गया है । भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी इस पर जोर दिया है । जैन और बौद्ध धर्म भी इस सिद्धांत को मानते हैं । इसी गुण के कारण भारत के ही नहीं बल्कि विदेश के भी विवादग्रस्त लोग यहाँ पर शरण लेते रहें हैं ।

ग्यारहवीं श्रेष्ठ विशेषता 'त्याग' है । मानव जीवन की सफलता त्याग के द्वारा हो सकती है , भोग के द्वारा नहीं । भारतीय संस्कृति भोग का उपदेश न देकर त्याग का उपदेश देती है । त्याग एक महामन्त्र है । गीता में भी निःस्वार्थ कर्म का विधान है । त्याग से ही सभी सुखी रह सकते हैं ।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति अनेक विशेषताओं से युक्त है । इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय संस्कृति के मूल में 'वेद' के उपदेश हैं । यह संस्कृति स्वयं में सभी संस्कृतियों से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित रहें हैं ।

विद्यानिवास मिश्र की संस्कृति संबन्धी विचारधारा

विद्यानिवास मिश्र ने अपने निबन्धों में संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति का सुन्दर चित्रण किया है । वस्तु, व्यक्ति या उसका व्यवहार की संस्कारात्मक परिणति को संस्कृति मानते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''संस्कृति एक प्रकार की संस्कारात्मक परिणति है । वस्तु हो, मनुष्य हो, मनुष्य का कोई व्यवहार हो सबका विशिष्ट उद्देश्य से जब परिष्कार किया जाता है या परिष्कार की संकल्पना की जाती है तो वह वस्तु वह मनुष्य या उसका वह व्यवहार सभी संस्कृत हो जाते हैं ।''[50]

प्राणवान् एवं समग्र संस्कृति कदापि खण्डित नहीं होती । इस बात को पुष्ट करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''संस्कृति खण्डित नहीं होती विशेष रूप से वह संस्कृति है जो समग्र होती है, जो प्राणवान् होती है और जो प्रक्रियाशील होती है ।''[51]

मिश्रजी संस्कृति को स्थिर न मानकर गतिशील मानते हैं जिसमें वे आपस के व्यवहार को प्रथमिकता देते हैं । संस्कृति की गतिशीलता के संबंध में इनके विचार इस प्रकार हैं - 'संस्कृति अनेकान्त नहीं हैं, न ही वह एकांत है । संस्कृति विभिन्न प्रकार के स्वभावों के लोगों के आपस में मिलने-जुलने के विचारों के लेन-देन से रचनात्मक क्रियाओं की तनाव की एक सतत प्रक्रिया है, जो तोड़ती-जोड़ती, दबाती एक दबाव के रूप में बराबर दिखाई पड़ती है । उसकी एकता स्थिरता में नहीं पहचानी जाती, गतिशीलता में पहचानी जाती है ।'' इसके आगे वे संस्कृति के संबन्ध में कहते हैं कि ''संस्कृति नृत्य-गीत-वाद्य या चित्र शिल्प ही नहीं है ये सब बातें तो संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं, संस्कृति जीवन का सहज छन्द है । हम कैसे दूसरे के साथ समंजस होते हैं, हम कैसे दूसरे के ध्यान से अपने ऊपर संयम करते हैं, कैसे हम विशाल परिवार की आत्मीयता को आचरण की भाषा देते हैं, यह सब संस्कृति है ।''[52]

'नदी, नारी और संस्कृति' नामक निबंध के अंतर्गत मिश्रजी संस्कृति में उदारवादी तत्त्वों की तलाश करते हुए कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति के साथ जो लोग जुड़े हुए रहे हैं वे अलग-अलग कारणों से जुड़े हुए रहे हैं । कुछ भाषा के कारण, कुछ साहित्य के कारण, कुछ दार्शनिक ग्रन्थों के कारण, कुछ विभिन्न मतों के प्रसार के कारण, कुछ व्यापार के कारण, कुछ आक्रामक बनकर, कुछ शरणागत बनकर । पर सभी परिवार के ताने-बाने में ऐसे रच-पच गये कि भारत ने कोई उपनिवेश नहीं बनाया पर भारत का प्रसार अब तक होता रहा है, उस से कहीं अधिक आगे होता रहेगा । भारतीय संस्कृति की उदारता का रहस्य इस सहज निरपेक्ष आत्मीयता के विस्तार में ही खुलता है ।"[53]

इसी निबन्ध में वे आगे संस्कृति के स्वरूप को अलग ढंग से व्यक्त करते हैं । "भारतीय संस्कृति की विशेषता यह है कि यह परायापन नहीं देखती, न मनुष्य की किसी अन्य प्रजाति में, न जीव जगत् में । अतः आक्रामक से आक्रामक, हिंस्र मनुष्य या पशु को भी आत्मीय भाव से देखती है । यह अपने भाव को आरोपित नहीं करती, न दूसरों से आरोपित होना चाहती है । हाँ, यह न अपने को अद्वितीय मानती है, न दूसरे की आद्वितीयता के दावे को स्वीकार करती है ।इसीलिए यहाँ कोई एक केन्द्र नहीं, न कोई स्थान न देवता, न मनुष्य न मनुष्य का विशेष वर्ण या आश्रम सब अपने-अपने ढंग से अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग संदर्भों में केन्द्र होते रहते हैं ।"[54]

स्वतंत्रता के पश्चात् हमारे देश में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत संस्कृति से संबंधित (Department of Culture under the Ministry of Human Resource and Development, Govt. of India) विभागों का गठन किया गया है और उनको यह दायित्व सौंपा गया है कि वे देश एवं विदेश के साथ सांस्कृतिक एकता को कायम रखें । इस प्रकार की सांस्कृतिक संस्थाओं में कार्यरत लोगों को आगाह करते हुए मिश्रजी कहते हैं - "भारत सरकार का संस्कृति विभाग संस्कृति नीति की बात नये सिरे से कर रहा है इस समय जो भी व्यक्ति अपने देश काल से सरोकार रखते हैं, उन्हें खुलकर अपना मत प्रकट करना चाहिए । सरकारी संस्कृति नीति के घटक तत्व और कुछ हो न हो, अपसंस्कृति

के फैलाव विशेषकर विज्ञापनों के माध्यम से उसके उकसावे को नियन्त्रित करने केलिए उपाय सोचे, संस्कृति को बिकाऊ न होने दें, न संस्कृति के संग्रहालय को तमाशे के रूप में होने दें । कैसे साझेदारी लायी जाये, कैसे युवकों का संस्कार इन संस्कृति भवनों में उद्‌बोधित किया जाये, इसकी व्यवस्था मात्र करके सरकार अलग हो जाये तो इस से सरकार का भी कल्याण होगा और इस महा देश का भी ।''[55]

'भारतीयता की पहचान' नामक निबंध संग्रह में मिश्रजी अपना संस्कृति की अस्मिता के प्रति दुःख व्यक्त करते हुए कहते हैं - ''विगत दो शताब्दियों की यही विडंबना है, कभी मैक्समूलर हमे हमारी संस्कृति की गरिमा अपने ढ़ंग से समझा रहें हैं और हम उसे गटक रहे हैं । कभी हैवेल हमारी कला की विशेषता हमें बतला रहें हैं, कभी शूमाखेर या फ्राम या त्सिमन हमारी संस्कृति की प्रासंगिकता की बात करके हमको गर्व स्फीत कर रहे हैं । परंतु अपने आप अपने को पहचानने की कोशिश हम नहीं कर पाते, हमारे पास न अपना पैमाना है, न दर्पण है, न अपनी तर्कबुद्धि है । हम अपने ही ऊपर सबसे अधिक अविश्वास करते हैं । हम या तो बिना जाने समझे भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की डिंग हाँक सकते हैं या बिना जाने समझे इसकी हीनता और अनुपादेयता को कोसने में ही अपनी आधुनिकता प्रमाणित कर सकते हैं । इस स्थिति में जब इस संस्कृति की प्रासंगिकता की बात करना चाहता हूँ कि अपने घर में पहले दिया जलाएँ तब मस्जिद में, मन्दिर में गुरुद्वारे में जलाने की सोचें । हम अपने आज के जीवन में भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों की प्रासंगिकता की बात सोचें ।''[56]

'देश धर्म और साहित्य' नामक निबंध संकलन में भारतीय संस्कृति की महत्ता एवं उसके अतीत का गुणगान करते हुए मिश्र जी भावविभोर हो उठते हैं ।

''भारतीय संस्कृति के बारे में अधिक तो जानता नहीं पर इतना जरूर जानता हूँ कि विपुलता (या उपनिषदों में जिसे भूमा कहा गया उसी) में इस संस्कृति का संचरण होता है, छोटे घर में रहनेवाली यह संस्कृति नहीं है, यह तो मुक्त आकाश से बात करनेवाले शिखरों में रमनेवाली संस्कृति है । इस संस्कृति के प्रवक्ता इसी से नारद जैसे रमता प्राणी है, श्रीराम

जैसे निर्वासित वनयात्री राजकुमार हैं, श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर ब्रजबिहारी है, बुद्ध, महावीर जैसे परिव्राजक हैं, श्री शंकराचार्य जैसे दिगंतव्यापी दुर्धर्ष संन्यासी है, विवेकानन्द रामतीर्थ जैसे जागृत और अलमस्त साधु हैं ।''[57]

उपर्युक्त कथन में से हमें ऋषि-महर्षि, बुद्ध-महावीर-शंकर आदि सभी की गरिमामय वाणी के सत्य स्वर सुनाई देते हैं जो सत्य की प्रतीति कराते हैं और सांस्कृतिक शक्ति देते हैं । संस्कृति यह विश्वास दिला देती है कि उसका मूल ईश्वरत्व या देवत्व में है । इस ईश्वरत्व का उदय मानुषिक प्रेम का पथ प्रदर्शन केलिए होता है । यह संस्कृति सार्वभौम होते हुए भी उसके रूप भिन्न है किंतु उन सबको एकत्व के केंद्रबिन्दु पर लाकर एकता की महानता का दर्शन कराती हैं । इसी अवधारणा को मन में रखते हुए मिश्रजी 'आंगन का पंछी और बनजारा मन' नामक निबंध संग्रह में लिखते हैं - ''भारतीय संस्कृति की दृष्टि जगत् के प्रातिभासिक सौन्दर्य को जगदीश्वर से अपृथक् देखती है और इसलिए वह मानुषिक प्रेम या उत्साह को निष्प्रयोजन न समझकर इनके उदात्तीकरण में ही देवशक्तियों का उदय पाती है ।''[58] और इसी संग्रह में अन्यत्र लिखते हैं - ''उसे तब भारतीय संस्कृति का वह मूल स्वर सुनने को नहीं मिलेगा जो सांसारिक जीवन में रमकर भी उसके ऊपर मनुष्य को ऊपर उठाने और विश्व के साथ एक स्वर होने की प्रेरणा देता है ।''[59]

'अंततोगत्वा निष्कर्षतः' यह कह सकते हैं कि विद्यानिवास मिश्रजी ने संस्कृति के संबन्ध में अपनी नूतन अवधारणाएँ व्यक्त करते हुए उसे जीवन और जगत् से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया है । जिस में उनका गहन एवं व्यापक अध्ययन साकार हो उठा है ।

भारतीय संस्कृति के प्रति उनका लगाव ही नहीं है बल्कि वे स्वयं जीवन में इसे आचरण के रूप में उतारते भी हैं । यही कारण है कि इस समय वे साहित्यिक क्षेत्र में अपनी एक अलग पहचान बनाचुके हैं । देश विदेश की यात्राओं में मिश्रजी अपनी सांस्कृतिक निष्ठा का बखूबी परिचय दे रहे हैं । आगे के अध्याय में मै उनकी सांस्कृतिक चेतना का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा ।

संदर्भ - ग्रन्थ

1.	गणेश शर्मा	संस्कृत धातु कोष, पृ.18-19.
2.	वामन शिवराम आप्टे	संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ.300.
3.	डॉ.श्यामसुन्दर दास	हिन्दी शब्द सागर, पृ.3415 (चतुर्थ भाग).
4.	कालिका प्रसाद	बृहत् हिन्दी कोश, पृ.1344.
5.	रामचंद्र वर्मा	प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ.1259.
6.	डॉ.धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश, पृ. 801.
7.	डॉ.देवराज	हिन्दी साहित्य कोश, पृ. 801.
8.	यजुर्वेद	7/14.
9.	ऐतरेय ब्राह्मण	6/5/1
10.	छांदोग्योपनिषत्	8/4/1
11.	जैमिनी सूत्र	3/13
12.	रामधारी सिंह 'दिनकर'	संस्कृति के चार अध्याय, पृ.653.
13.	वही	भारत की सांस्कृतिक कहानी, पृ.1.
14.	सुमित्रानन्दन पंत	युगवाणी, पृ. 80.
15.	डॉ. गुलाबराय	भारतीय संस्कृति, पृ.3.
16.	महादेवी वर्मा	क्षणदा, पृ.23.
17.	K.N.Munshi	Our Greatest Need, p.58.
18.	Dr.Radhakrishnan	East and West, p.17.
19.	Dr.Ravindranath Tagore	The Centre of Indian Culture, p.15.
20.	Hirendranath Dutt	Indian Culture, p.4.
21.	Nirmal Kumar Bose	Cultural Anthropology, p.14-15.
22.	B.P.Sinha	Science, Culture and Man, p.14.
23.	कल्याण	हिन्दू संस्कृति अंक, पृ.70.
24.	डॉ.वासुदेव शरण अग्रवाल	कला और संस्कृति, पृ.1.

25. महादेव शास्त्री 'दिवेकर' — आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष, पृ.5.
26. इन्द्रविद्या वाचस्पती — भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ.2.
27. विश्वम्भर सहाय प्रेमी — हिमालय में भारतीय संस्कृति, पृ.21.
28. डॉ. उमाकांत — मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृ.365.
29. डॉ.सत्यकेतु — भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ.19.
30. प्रो.बलदेव कृष्ण — भारतीय संस्कृति प्राक्कथन, पृ.15.
31. डा.रामजी उपाध्याय — भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ.2.
32. बलदेव प्रसाद मिश्र — भारतीय संस्कृति को तुलसीदास का योगदान, पृ.9.
33. राहुल सांकृत्यायन — बौद्ध संस्कृति, पृ.3.
34. हजारी प्रसाद द्विवेदी — विचार और वितर्क, पृ.1, 2, 3.
35. वही — सभ्यता और संस्कृति, पृ.4.
36. वही — अशोक के फूल, पृ.81.
37. डॉ. नगेन्द्र — साकेत एक अध्ययन, पृ. 100.
38. डॉ.भोलानाथ तिवारी — आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्टभूमि, पृ.40.
39. हरवंशलाल शर्मा — सूर और उनका साहित्य, पृ.13.
40. भर्तृहरी — नीतिशतक, पृ.52.
41. रामधारी सिंह 'दिनकर' — संस्कृति के चार अध्याय, पृ.652.
42. राजकुमार पाण्डेय — साहित्यिक निबंध, पृ.11.
43. जैनेन्द्रकुमार — साहित्य और संस्कृति.
44. विद्यानिवास मिश्र — साहित्य का प्रयोजन.
45. गोस्वामी तुलसीदास — रामचरितमानस, बालकाण्ड
46. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल — जयशंकरप्रसाद वस्तु और कला, पृ.194.
47. रामधारी सिंह 'दिनकर' — संस्कृति के चार अध्याय, पृ.5.
48. डॉ.कृष्णचन्द्र पाण्डेय — प्रेमचंद के जीवनदर्शन के विधायक तत्व, पृ.123.
49. ऋग्वेद

50. विद्यानिवास मिश्र — संचारिणी, पृ.15.
51. वही — आंगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.50.
52. वही — नदी, नारी और संस्कृति, पृ.27.
53. वही — वही, पृ.13.
54. वही — वही, पृ.24.
55. वही — वही, पृ.25.
56. वही — भारतीयता की पहचान, पृ.76.
57. वही — देश, धर्म और साहित्य, पृ.35.
58. वही — आंगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.52.
59. वही — वही, पृ.53.

पंचम अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का सांस्कृतिक विश्लेषण

पंचम अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का सांस्कृतिक विश्लेषण

खण्ड - क

आध्यात्मिक एवं पौराणिक संस्कृति

आर्यों को आध्यात्मिक संस्कृति के जन्मदाता कहते हैं जिन्होंने इस संस्कृति का प्रसार एवं प्रचार विश्व भर में किया । आध्यात्मिक संस्कृति मूल रूप से वैदिक संस्कृति रही है जिस की सभ्यता का मूलाधार वेद हैं । इस वैदिक संस्कृति के अनुसार जो वेद के अनुकूल आचरण करता है वही धर्मात्मा है । उस के आचरण के संबंध में विश्वम्भर सहाय प्रेमी का उद्गार है - "वैदिक संस्कृति का आशय लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अभ्युदय केलिए मन, बुद्धि और शरीरद्वारा की गई श्रेष्ठ गतिविधियों से है । उत्तम संस्कार करते रहना ही वैदिक संस्कृति का मूलाधार माना गया है । हम इस संस्कृति के संबंध में यह भी कह सकते हैं कि लौकिक, पारलौकिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति का वेदादि शास्त्र-सम्मत मार्ग ही वैदिक संस्कृति है ।"[1]

इस से विदित होता है कि वैदिक काल में लोग धार्मिक रूप से रहकर नैकिकता का निर्वाह करते थे और ईश्वर की उपासना करते हुए सुखी थे ।

आध्यात्मिक संस्कृति में उपासना को मुख्य स्थान दिया गया था । राजधर्म भी वेद के अनुकूल होता था । सामाजिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने केलिए आश्रम व्यवस्था की स्थापना हुई थी । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चारों आश्रमों के द्वारा मनुष्य ने जीवन को सुखी एवं संपन्न बनाने का सफल यत्न किया ।

इस आध्यात्मिक संस्कृति के आधार पर ही पौराणिक संस्कृति का प्रारंभिक इतिहास निर्भर करता है । पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्य के आधार पर उत्तर वैदिक काल की संस्कृति परिलक्षित है जिसे पौराणिक संस्कृति कहा जाता है इस संस्कृति का प्रभाव हिमालय से कन्याकुमारी तक और पंजाब से आसाम तक सारे जनमानस में

हैं । उस समय का आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी प्रकार का चित्रण रामायण एवं महाभारत में बहुत ही सुरुचिपूर्ण एवं विद्वत्ता पूर्ण रूप से वर्णित हैं इसी कारण से पौराणिक संस्कृति के काल के ग्रन्थों की विशेषता बताते हुए सुधीशधर द्विवेदी लिखते है - "भारतीय संस्कृति का जितना स्वस्थ रूप इस काव्य में मिलता है उतना संभवतः विश्व के किसी ग्रन्थ में उस देश विशेष का नहीं । इस महाग्रन्थ का उद्देश्य काव्य का सौष्ठव रूप प्रस्तुत न कर धर्म और अधर्म की लड़ाई में धर्म की विजय दिखाना है । इसमें धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक आदर्शों का वर्णन हैं । महाभारत में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाली गीता भी उपस्थित है ।"[2]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि पुराण काल की संस्कृति बहुत उच्च संस्कृति थी जिस पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव था इन तथ्यों के अवलोकन के पश्चात् यह सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक एवं पौराणिक संस्कृति मुख्य रूप से आर्यों की संस्कृति है और यह संस्कृति आदर्श संस्कृति रही है । वस्तुतः यह मानव के विकास की संस्कृति है और यही संस्कृति आगे चलकर भारतीय संस्कृति के नाम से अभिहित की गई है । इस संस्कृति के मूल मान्यताएँ हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिनका विस्तृत विवरण निम्नलिखित है ।

चतुर्विध पुरुषार्थ

आज जिस अर्थ में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग हो रहा है उसी अर्थ में पुरुषार्थ शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों जीवन मूल्य हैं । इन में धर्म से अर्थ और धर्म से काम एक दूसरे से सापेक्ष रूप में जुड़े हुए हैं । धर्म के अनुसार संपत्ति का अर्जन करना अर्थ है और धर्म के अनुसार संपत्ति का उपभोग करना काम है । जब मनुष्य अपनी जीवन दृष्टि को संतुलित रूप में रख सकता है तभी इन तीनों को एक साथ संयुक्त रूप में भी रख सकता है । प्रथमतः यहाँ पर धर्म का स्वरूप को पहचान की कोशिश करेंगे ।

धर्म

वैदिक वाङ्मय में पुरुष सूक्त में सबसे पहले जो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ उसका यह अर्थ है कि देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ का यज्ञ किया । ये ही प्रथम धर्म हुए - "यज्ञेन यज्ञमयजंत देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः सचंते यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः ॥ धर्म को जीने का एक प्रकार मानते हुए मनुस्मृति में मनु ने कहा है -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रयनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम् ॥[3]

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, (चोरी न करना) भीतर और बाहर दोनों की शुचिता, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि विद्या सत्य अहिंसा ये दस धर्म के लक्षण हैं । इस बात की पुष्टि महाभारत के शान्तिपर्व में मिलती है कि -

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ।
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ॥[4]

अर्थात् धर्म यही है कि मनुष्य सत्य बोले, दान दे, तपस्या करें, शुचि हो, संतोष रखें, उस में लोक-लज्जा हो, क्षमा-शील हो व्यवहार में सीधापन हो, ज्ञानपूर्वक कार्य करें शान्ति हो दया हो ध्यान में एकाग्र करने की प्रवृत्ति हो ।

उपर्युक्त बातों से विदित होता है कि धर्म का अर्थ है जीवन को सम्पूर्णता में जीना । जीवन में संपूर्णता तब आती है जब समस्त भूतों के साथ आत्मीयता हो, उन सबके साथ सुर-लय मिलाकर चलना ही सम्पूर्ण जीना है । इस वचन को स्पष्ट करते हुए महाभारत में अन्यत्र कहा गया है - अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥

समस्त प्राणियों के साथ मन, कर्म, वाणी- तीनों से द्रोह न रखना, अनुग्रह भाव रखना और सबको कुछ न कुछ देने की इच्छा रखना यही सज्जनों का भाव है । इस प्रकार धर्म में सबसे बड़ी प्रतिष्ठा सत्य अहिंसा और दान की है ।

तैत्तरिय उपनिषत् में हमें धर्म का आचरण करने केलिए कहा है । वहाँ पर उसका अभिप्राय यह है कि हमें जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए जिसमें की हम विद्यमान हैं ।

भारतीय प्राचीन साहित्य में धर्म शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई है । पूर्व मीमांसा शास्त्र के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' ।[5]

वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनंद (अभ्युदय) और परमानंद (निःश्रेयस) की प्रप्ति हो वह धर्म है । "यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"[6] याज्ञवल्क्य, मनु, पराशर आदि अनेक धर्मशास्त्रकारों ने धर्म शब्द पर व्याख्या की है । "ध्रीयते अनेन इति धर्मः, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, 'धारणात् धर्ममित्याहुः' धर्मो धारयति प्रजाः ।"[7] आदि अनेक उक्तियाँ धर्मशास्त्र में हमें उपलब्ध हैं । धर्म व्यक्ति के सारभूत जीवन मूल्यों और गौरव के उद्घाटन पर आधारित है । धर्म वह अनुशासन है जो मानव के अंतःकरण का स्पर्श करता है तथा मानव को बुराई और कुत्सितता से दूर करके संघर्ष में सहायता प्रदान करता है । इसमें विचार तथा आचार को अपने वशवर्ती करने की अदम्य शक्ति है तथा आधुनिक युवा की अस्त-व्यस्तता में एकमात्र मार्गदर्शक का कार्य करता है, यह वह अवधारणा है "जो मानव जीवन की विविधता उसकी आकांक्षाओं तथा मानवीय मूल्यों को एकता प्रदान करती है ।"[8]

उपर्युक्त कथनों से विदित होता है कि धर्म शब्द का प्रयोग स्वगत, आत्मगुण, धार्मिक पुण्य, नैतिक आचार तथा कर्तव्य केलिए हुआ है । धर्मशास्त्रकारों, नैयायिकों, मीमांसकों तथा भक्तिमार्गियों ने अपने-अपने ढ़ंग से धर्म की व्यख्या की है ।

सर्वप्रथम मनुस्मृति में धर्म के तीन प्रकार उपलब्ध हैं वे सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म और आपद्धर्म हैं । पराशर धर्मसंहिता में यह उल्लेख है कि -

"धर्मा बहुविधा लोके श्रुति भेद मुखोद्भवाः ।
देशधर्माश्च दृश्यन्ते कुलधर्मास्तथैव च ॥

जातिधर्मा वयोधर्मा गुणधर्माश्च शोभने ।
शरीर काल धर्माश्च आपद्धर्मास्तथैव च ॥
एतद्धर्मस्य नानात्वं क्रियते लोकवासिभिः ॥''[9]

न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद ने पदार्थों की भाँति धर्म का सामान्य तथा विशेष दो वर्गों में वर्गीगरण किया है । सामान्य धर्म में श्रद्धा, मनः प्रसाद, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्यवचन, अस्तेय ब्रह्मचर्य अनुपधा क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचिद्रव्यसेवन, देवताभक्ति, उपवास, अप्रमाद इस चौदह धर्मों की गणना की है । विशेष धर्म में वर्णाश्रम धर्म का विधान कहा गया है । मूलभूत धर्मों में नित्य और नैमित्तिक रूप से दो भेदों में वर्गीकरण किया गया है । नित्य धर्म के अंतर्गत शरीर के भीतर-बाहर की शुचिता, ध्यान ज्ञानार्जन या स्वाध्याय समस्त प्राणियों को उपहार देना, दया, क्षमा, कपट रहित व्यवहार, भोग करते हुए भी उसके ऊपर नियंत्रण रखना, क्रोध पर काबू पाना, अपने शरीर को धर्म का साधन मानते हुए उचित पोषण देना, जागरूक रहकर अपने दिये हुए कर्तव्यों के पालन का अनुष्ठान करना[10] यो सभी आते हैं ।

नैमित्तिक धर्म दो प्रकार के है - नियत और अनियत । नियत नैमित्तिक धर्म के अंतर्गत जीवन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं से संबद्ध गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, विप्रोष्य, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, विद्यारंभ, कर्णविध, उपनयन, समावर्तन, विवाह, अग्न्याधान और अंत्येष्टी नामक षोड़श संस्कार आते हैं । इसी नियत नैमित्तिक धर्म पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संस्यासाश्रम की अवस्थाओं के अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं । कालचक्र या ऋतुचक्र से संबंधित पर्व या त्योहारों का आचारण भी इसी में शामिल हैं । अनियत धर्म के अंतर्गत कुँवा खोदवाना, बाग लगवाना, पाठशाला बनवाना, धर्मशाला की स्थापना आदि लोकोपयोगी कार्य आते हैं ।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर धर्म के संबंध में डॉ.सर्वपल्लि राधाकृष्णन् का कथन इस प्रकार है - ''जिन सिद्धांतों को हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों

में पालन करना, वे उस वस्तु द्वारा नियत किये गये है जिसे धर्म कहा जाता है । यह सत्य का जीवन में मूर्तरूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढ़ालने की शक्ति है ।''[11]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि दैनिक जीवन से संबंधित नियत धर्म का तथा सामाजिक संबंन्धी अनियत धर्म का पालन करना मनुष्य का कर्तव्य बनता है ।

सुमित्रानन्दन पंत धर्म और विज्ञान का अंतर बताते हुए धर्म के स्वरूप के बारे में लिखते हैं - ''धर्म का क्षेत्र मनुष्य के अंतर्जीवन का सत्य है और विज्ञान का क्षेत्र हमारे बाह्य जीवन का तथ्य । धर्म आदर्शोन्मुखी होने के कारण गुणात्मक उन्नयन पर बल देता है और विज्ञान मुख्यतः यथार्थोन्मुखी होने के कारण राशिवाचक विकास एवं उन्नति को अधिक महत्व देता है । दूसरे शब्दों में यदि धर्म की पीठिका आत्मा की भूख है तो विज्ञान की पीठिका देह मन की भूख ।''[12]

इस प्रकार पंत जी धर्म को अध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न तात्विक सत्य मानते हैं । बी.जी.गोखले का कहना है कि धर्म मानवी गुण तथा मूल इच्छाओं को सद् मार्ग की ओर उन्मुख करने का साधन है । यह धर्म आचरण की वह संहिता है जो व्यक्ति के रूप में तथा समाज के अंग के रूप में कार्यों को नियमित करती है वे लिखते हैं - ''धर्म कर्तव्य, विधि, सत्य तथा अन्य सभी वस्तुओं की संहिता हैं जिनमें आध्यात्मिक मूल्य के रूप में धर्म की भावना निहित रहती है ।''[13]

इससे विदित होता है कि धर्म मनुष्य के जीवन में सत्य आदि सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है । उपर्युक्त संदर्भों के माध्यम से मैं ने धर्म की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिसमें आधुनिक चिंतकों के मतों का भी समावेश हुआ है । इसके पश्चात् धर्म के संबंध में मिश्रजी की अवधारणा को जानने का प्रयास किया गया है ।

'परंपरा बन्धन नहीं' नामक निवंध संग्रह में वे लिखते हैं - ''प्राचीन काल में भी धर्म के दो आयाम थे । पहला सामान्य अर्थात् निर्विशेष धर्म, दिक्कालातीत धर्म, वर्णाश्रमातीत

धर्म या दूसरे शब्दों में सनातन अनवच्छिन्न धर्म । वह धर्म जो प्रजाओं को धारण करता है - धर्मो धारयति प्रजाः । वह धर्म जो ऋत को प्रवर्तित करता और सत्य से विचलित नहीं होता । वह धर्म, जो मानव मात्र का है किसी एक जाति, किसी एक भौगोलिक सीमा या ऐतिहासिक दायरे से बंधे लोक का नहीं । वह प्राणिमात्र से, चर-अचर जगत् से मनुष्य को जोड़नेवाला धर्म है । दूसरा देश-काल से परिसीमित विशेष धर्म है । इसी का भारतीय सामाजिक रूप वर्णाश्रम है । इसी का व्यक्तिगत स्तर पर रूपांतर विभिन्न उपासनाओं में होता है । इसीका नैतिक स्तर पर एक रूप पाप-पुण्य विवेक भी है । इसीका रागात्मक स्तर पर रूपांतर काव्य एवं कलाओं में होता है । इसीका क्षेत्रीय प्रतिभाओं के प्रस्फुटन के स्तर पर लोक-कलाओं एवं लौकिक अनुष्ठानों के रूप में रूपांतर होता है । किन्तु इन सभी रूपांतरों का मूल स्रोत है सामान्य धर्म । अपने धर्म का आचरण सबके धर्मों से जुड़ने की एक प्रक्रिया है, अपने आप में चरम गंतव्य नहीं ।''[14]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि मिश्रजी भी धर्म के दो भेदों को मानते हैं जो सामान्य धर्म और विशेष धर्म से प्रख्यात हैं । यह धर्म मनुष्य के जीवन-क्रम को अनुशासित करता है । लोक और शास्त्र से निरूपित यह धर्म लोक के प्रचलन को साधक है इस संबन्ध में वे लिखते हैं - ''जिस अर्थ में आज हम 'बिहेवियर' का प्रयोग करते हैं, उसे धर्म शब्द में समेटलिया गया है और हमारा जीवन-क्रम धर्म से अनुशासित है, इसका अर्थ यही है कि शास्त्र और लोक दोनों इसे निरूपित करते रहते हैं, लोक शास्त्र का विरोधी नहीं है, उसका मूल भावना का स्मरण दिलानेवाला है, शास्त्र भी लोक के प्रचलन को (जहाँ तक वह सहज प्रज्ञा से उद्धत है) मान्यता देता आया है ।''[15]

ऋग्वेद के पूरुषसूक्त में धर्म के संबन्ध में जो मन्त्र कहा गया है उसका विश्लेषण करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''इसका तात्पर्य यह है कि विराट् पुरुष को खण्डशः समझा पुनः उसी के खंडों की आहुति से उसके सकल रूप को पुनः प्राप्त किया, इस अद्वितीय यज्ञ पद्धति से देवताओं ने यज्ञ किया, यही प्रथम धर्म हुआ, इसी का महत्व उस ऊँचे लोक तक पहुँचा, जहाँ पूर्ववर्ती देवता रहते हैं, यह मंत्र जिन प्रथम धर्मों का संकेत करता है वह सृष्टि को

अलग-अलग परचानते हुए उसे एकीकृत रूप में देखना ही तो जीवन यज्ञ की पूर्णता है । ये प्रथम धर्म सबको स्वीकृत है, ब्रह्मण हों, श्रमण हों, बौद्ध हों, पारसी हों, हिन्दू हों, मुसलमान और ईसाई को भी ये मान्य है, सूफी साधकों और ईसाई संतों की अनुभव भाषा में इसकी गूँज हम पाते हैं ।''[16]

इस उद्धरण के अनुसार मिश्रजी का मानना है कि प्रत्येक जीव-जन्तुओं को आत्मसात् करके चलना ही मानव धर्म है । पूरी परंपरा में धर्म को मानवधर्म मानते हुए मिश्रजी अपनी धर्मसंबन्धी अवधारणा की व्याख्या की है - ''धर्म के साथ तीन अर्थ मुख्य रूप से जुड़े हैं, एक तो यह कि जो जीवन को धारण करें वह धर्म है, जो संपूर्ण जीवन को संभाल कर रखे वह धर्म है । धर्म की अवधारणा का दूसरा पहलू है, उसका सहज होना । धर्म आरोपित नहीं होता, वह अपने भीतर रहता है, अपने में डूबकर वह देखा जाता है । इसी से जुड़ा हुआ धर्म अवधारणा का तीसरा पक्ष है उसकी गतिशीलता । धर्म ऋत और सत्य का एकीकरण है । इन तीनों पक्षों को भली-भाँति समन्वित करके समझ लें तो हमें कोई दुविधा नहीं रहेगी कि यह धर्म मानव मात्र का है, ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने की बात सोची भी नहीं जा सकती । इस धर्म की प्रतीति अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग परिस्थितियों में होती है । पर वे अलग-अलग रूप वैसे ही हैं, जैसे धूप ओस पर पड़ती है तो अलग दिखती है, नदी पर पड़ती है तो अलग, कांच के ऊपर पड़ती है तो अलग । अलग-अलग दिखने पर भी पतिधर्म, पुत्रधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म आदि-आदि ये सभी धर्म एक है क्योंकि सभी सामंजस्य स्थापित करने के अलग-अलग रिश्तों के संदर्भ में प्रयत्न है । जननी और जन्मभूमि पिता और आकाश, पुत्र और वृक्ष, पुत्री और आंगन की चिड़िया इनके सबके प्रति जो कर्तव्य भाव जागते हैं वे एक दूसरे के पोषक होते हैं । धर्म की माँग है इनकी अलग पहचान में खो न जाय, सब उस एक को पहचानें ।''[17]

इस कथनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर विश्वास जिस रिश्ते से जुड़ता है वही सबसे बड़ा धर्म है सृष्टि के हर एक वस्तुओं को अलग-अलग देखना, अलग-अलग पहचानना धर्म है लेकिन अलग होना या अलग होने की इच्छा रखना भी अधर्म है ।

अर्थ

प्रचीन भारतीय परंपरा में धर्म की तरह अर्थ को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । चारों पुरुषार्थों को सन्तुलित रूप में विभाजित करके मानुष जन्म केलिए इन्हें उपयोगी स्वीकार किया गया था । धर्म और मोक्ष जीवन की नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से संबंध रखते हैं तो अर्थ और काम भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले थे ।

अर्थ का सामान्य अर्थ यह है कि इस भौतिक जगत् में सुख-सुविधाओं की पूर्ति है । ऋग्वेद के सूक्तों में भी भौतिक संसार में सुख-संपत्ति की प्राप्ति केलिए इन्द्र, सोम आदि देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि हमें सुरक्षा समृद्धि तथा संतान की प्राप्ति हो । महाभारत में अर्थ के संबंध में कहा गया है - "यहाँ जिसे धर्म समझा जाता है वह नितांत धन पर आधारित है । जो किसी का धन छीनता है वह धन के साथ उसका धर्म भी छीन लेता है । निर्धनता पाप है । सभी प्रकार के सत् तथा धार्मिक कृत्यों का मूल धन ही है । धन से धन की वैसी ही प्राप्ति होती है जैसे हाथियों द्वारा हाथियों को पकड़ा जाता है । धार्मिक कृत्यों, सुख, हर्ष, साहस, क्रोध और विद्वत्ता का आधार धन ही है । धनहीन केलिए धार्मिक कृत्यों की साधना दुष्कर है क्योंकि धन धार्मिक कृत्यों का वैसा ही स्रोत है जैसे सरिताओं का स्रोत पर्वतों में है ।"[18]

भारतीय अर्थशास्त्र का प्रवर्तक आचार्य कौटिल्य ने भी यह माना है कि दान और एषणा की पूर्ति धन से ही होती है । इस संबन्ध में वे लिखते हैं कि - "साम्राज्य के ग्रामों में संन्यासियों के प्रवेश की अनुमति नहीं होनी चाहिए क्योंकि उनके ग्रामों में प्रवेश करने से ग्रामीणों की आर्थिक क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न होता है ।"[19] अर्थ के संबंध में प्रसिद्ध तत्वशास्त्रज्ञ जिम्मर का कहना है कि "अर्थ की अवधारणा के अन्तर्गत वे समग्र स्पर्शीय अथवा भौतिक वस्तुएँ आ जाती है जिनकी प्रप्ति से उसे प्रयोग में लाया जा सकता है, खोया भी जा सकता है तथा जिन्हें गृहस्थ के भरण-पोषण, परिवार की समृद्धि केलिए धार्मिक कर्तव्य निभाने केलिए अर्थात् जीवन के कर्तव्यों को सदाचार से पालन करने केलिए जिनकी आवश्यकता होती है ।"[20]

डॉ.सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । वे इसे जीवन केलिए आवश्यक मूल्य मानते हैं इस संदर्भ में वे लिखते हैं - ''आर्थिक उपादान (साधन) मानव जीवन का एक अत्यावश्यक तत्व है । सम्पत्ति में स्वतः कोई पाप नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे गरीबी में स्वतः कोई पुण्य नहीं है । किसी व्यक्ति के अपनी संपत्ति को बढ़ाने के प्रयत्नों से दूसरे लोगों को आर्थिक या नैतिक हानी पहुँचती है, तो अवश्य यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ऐसे उपायों से ऐसी सम्पत्ती एकत्रित करना, जिसके परिणाम ऐसे हो भले है या नहीं । हिन्दू आचार शास्त्र का आग्रह है कि उद्देश्य वैयक्तिक लाभ न होकर समाज सेवा होना चाहिए, एक को गंवाकर दूसरे की नहीं ।''[21]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही अर्थ को जीवन का मूल्य माना जा रहा है आज-कल धन संपत्ति ही जीवन का ध्येय बन गया है । भारतीय चिन्तकों का कहना था कि इस आर्थिक मूल्य का उपयोग निश्चित सीमा में किया जाना चाहिए । वैदिक संस्कृति के अनुसार ही मूल्य का उपयोग होना चाहिए । इस संबन्ध में सत्यव्रत सिद्धांतालंकारजी का कथन है - ''वैदिक संस्कृति ने जीवन के आर्थिक पहलू को पूर्ण महत्व प्रदान किया किंतु यह उद्घाटित किया कि इससे पूर्व धर्म होना चाहिए ।''[22]

इस प्रकार प्रचीन अर्थ की अवधारणा को प्रश्रय देते हुए अर्वाचिन अर्थ व्यवस्था के विकास एवं नवीन आर्थिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए विद्यानिवास मिश्रजी अपनी अवधारणओं को व्यक्त करते हैं - ''अर्थ का अर्थ धन संग्रह मात्र नहीं, वह भी है, पर उससे कुछ बहुत अधिक भी है, ऐसी व्यवस्था करना भी है कि सबको भोग सुलभ हो, सबको अपने को भोगों से ऊपर उठकर सृष्टि से भोग का अवसर सुलभ हो । अर्थ का सम्यक् साधन निष्काम कर्मयोग है । अर्थ आदान और विसर्ग, संग्रह और अपरिग्रह का संतुलन है, काम का साधन वित्त (वित्त का अर्थ प्राप्ति है, वित्त का अर्थ ज्ञान है, वित्त का अर्थ होना है, अस्ति को अपने अस्तित्व को समझना है वित्त का अर्थ गति है इस सबका संपुंजित रूप ही वित्त) की एषणा है, पुत्र का अर्थ आत्म विस्तार है, पुत्र-पुत्री को संतान कहते हैं संतान का अर्थ ही है समुचित विस्तार । पुत्रैषणा की पूर्ति में व्यक्ति आगे आनेवाली पीढ़ी

केलिए सोचता है निरंतरता की चिंता करता है क्यों की जीवन निरंतर है । इसके बाद धर्म का साधन होता है । वह लोकैषणा है । लोक के हित का उपाय सोचना है । इन तीनों एषणाओं को पार करके ही सही रूप में आत्म एषणा होती है । वैसे ऐसा नहीं है कि अर्थ, काम, धर्म एक दूसरे में ओत-प्रोत नहीं हैं । एक एषणा दूसरी एषणा में वर्तमान नहीं है ।"[23]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि निष्काम कर्म योग ही अर्थ का साधन है आदान और विसर्ग तथा संग्रह और अपरिग्रह को संतुलित रखना अर्थ है । इन सबसे ऊपर आत्म विस्तार को अर्थ साधना के रूप में देखा जाता है ।

काम

भारतीय जीवन परंपरा में काम तीसरा पुरुषार्थ है । संकुचित अर्थ में काम केवल इन्द्रिय सुख और यौन प्रवृत्तियों की संतुष्टि मात्र हैं परंतु व्यापक अर्थ में काम जीवन का महत्वपूर्ण अंग है जिसके अभाव में मनुष्य न धर्म केलिए या अर्थ केलिए प्रयत्न कर सकता है इसीलिए कामसूत्रकारों ने कहा है कि -

नमो धर्मार्थ कामेभ्यः तत्कामेभ्यो नमो नमः
त्रिवर्ग मोक्ष कामेभ्यः कामेभ्यस्त्वमितम् नमः (का.सू.1-1)

जीवन में काम की आवश्यकता एवं महत्व के संबंध में काम सूत्र में यह उल्लेख मिलता है -

संप्रयोग पराधीनत्वात् स्त्रीपुंसयोरूपायमपेक्षते ।
नचो पाय प्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः (अ.1 सू.22)

वेदों, उपनिषदों, दर्शनों एवं पुराणों से लेकर आधुनिक साहित्य विधाओं तक सर्वत्र काम के अस्तित्व एवं महत्व की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मिलती है । वेद में 'श्रद्धां कामस्य मातरम्' कहा गया है । लेकिन जैनेन्द्र कुमार जी ने काम को प्रयत्न का मूल

मानते हुए लिखते हैं - "प्रयत्न का मूल है काम - पुरुष क्यों प्रयत्न करता है । जिसको उद्योग की भाषा में 'इन्सेंटिव' कहते हैं, वह कहाँ से आता है । बहस चला करती है कि स्वत्व और स्वामित्व नहीं रहेगा, तो प्रयत्न केलिए 'इन्सेंटिव' नहीं रहेगा । इसका क्या आशय है । आशय यही है प्रयत्न कामना में से निकलता है प्रयत्न का मूल इस तरह काम है, फल अर्थ ।"[24]

वैदिक साहित्य में काम का संबन्ध ऐषणओं से है । पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा । इस तीनों ऐषणाओं के संबन्ध में विचार करते हुए विद्यानिवास मिश्र जी अपना भाव प्रस्तुत करते हैं - "काम को सेक्स का पर्याय बनाकर इतना बड़ा अवमूल्य सृष्टि तत्त्व का हुआ है, कि काम के देवत्व की बात करने डर लगता है । काम इस समय राक्षस हो गया है । तो भी काम की बात होली में ठीक ढंग से करनी ही चाहिए । काम सृष्टि का प्रथम अंकुर है । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त या सृष्टिसूक्त में अधिष्ठित काम यही है - कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बंधुमनसि निरविंदन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।" अथर्ववेद के कामसूक्त में काम के सख्यभाव को रेखांकित किया गया है । ये काम सहसा ही प्रतिष्ठित होते हैं और छा जाते हैं विशेष प्रकार के भाव के द्वारा, विभावन के द्वारा, जो सखा नहीं रहता है, उसे भी सखा बना देते हैं, व्यापक साहचर्य का भाव सुलगा देते हैं । ये काम व्यापनशील विष्णु के और शोभा सौंदर्य की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के पुत्र हैं । इसका भी तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दो चेतनाएं होती हैं एक आत्मविस्तार की और एक अपनी ओर खींचने की । दोनों का जब सामंजस्य होता है तो काम जन्म लेता है ।"[25] आत्मविस्तार या संतान को ही मिश्रजी काम की वास्तविकपूर्णता मानते हैं इस संबन्ध में यह उल्लेख मिलता है - "आम्रमंजरी मनुष्य जाति का पुष्प है, इसमें फल लगते हैं, गंधर्व जाति के पुष्पों में फल नहीं आते । काम के पंचबाणों के चार बाण गंधर्व जाति के पुष्प हैं । काम को आम्रमंजरी इसीलिए प्रिय है कि काम की वास्तविक पूर्णता संतान से होती है, आत्मविस्तार से होती है ।"[26]

काम के बारे में विस्तृतार्थ विश्लेषण करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - काम का आज लोग संकुचित अर्थ लेते हैं, इसीलिए सोचते हैं गृहस्थाश्रम यौनवासना की पूर्ति केलिए है । यह नहीं सोचते, गृहस्थाश्रम तो दूसरों के संभरण केलिए है, अपने से बढ़ों, अपने से छोटों, अपने यहाँ पधारनेवाले अतिथियों अपने से अपेक्षा रखनेवाले प्राणिमात्र के पोषण केलिए है । काम अपनी समूची सत्ता की खोज है, वह बन्धु रूप ज्ञान की खोज है, बन्धुरूप प्रतियोगी स्त्री या पुंस्त्व की खोज है । काम का अर्थ इसलिए तप है, तप की आग है, अर्थ के साधन के पूर्व यह आग कहीं उचित रूप में रखी जाती है, जिससे वह दाहक न हो, वह ऊष्मा (अपनेपन की गरमी) प्रदान करें वह आत्मीयता का साधन बने । गृहस्थाश्रम में काम बड़े ही छने रूप में रहता है, नदी से जैसे नहर निकाली जाय और जल का प्रवाह नियंत्रित हो, उस रूप में काम रहता है । ब्रह्मचर्य में काम जल से भरे हुए मेघ की तरह रहता है । वह ऊष्मा का, सघन बाष्प का व्यापार बनकर रहता है । गृहस्थाश्रम में वह बरसनेवाला मेघ बन जाता है और वानप्रस्थ आश्रम में वह बरस चुका शरद का उज्वल मेघ बन जाता है, उसकी एक नन्हीं बूँद प्राण-चातक की तृप्ति बन जाती है, वह सीपी में मोती बन जाती है वही साँप में जहर भी बन जाती है, वही बाँस के वन में वंशलोचन बनजाती है ।''[25]

कालिदास भारतीय विचार-धारा के समग्र रूप में सच्चे प्रतिनिधि हैं वे काम की प्रयोजकता संतानोत्पत्ति मानते हैं, प्रजायै गृहमेधिनाम्, यही उनका आदर्श है । और कामाचरण को बराबर तपाके ही उन्होने रघु, भरत, स्कन्द जैसे ओजस्वी पुत्रों की उत्पत्ती चाही है । आम्र मंजरी की फल परिणामिनी प्रवृत्ति को देखकर ही उन्होंने कुसुमधन्वा के पंचशरों में इसे अग्रस्थान दिया है -

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूत बाणे ।
निवेशयामास मधुद्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥ कु.सं.3/27

उन्मादन वसंत वर्णन के उपक्रम में कालिदास कहते हैं आमका नया बौर कामदेव का बाण बनकर तैयार हो रहा है, नये निकले हुए लाल-लाल किसलय ही उसके पुच्छ हैं और

बाण तैयार होने पर उसपर बैठे हुए भौंरे ही कामदेव के नामों के काले-काले अक्षर उत्कीर्ण किये गये हैं, मानो इस बाण पर कामदेव की मुहर ही लग गयी, यह काम की आयत्त संपत्ति होगया ।

आम्र मंजरी में संलग्न किसलयांकुरों में जो कषाय रस होता है, वह नव प्रणय के कषाय का ही प्रतिरूप है । पर दोनों का आस्वादन आपाततः कषाय होते हुए भी अंत में मधुर कंठ देनेवाला होता है । प्रथम प्रणय की स्मृति की वाणी बनकर पुंस्कोकिल मानिनियों के मान खंड-खंड कर देता है -

चूतांकुरास्वादकषायकंठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविधात दक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ कु.सं.3/32

काव्य परंपरा में काम के पंचशरों के सम्मोहन, मारण, उच्चाटन, वशीकरण और वाजीकरण पाँच नाम आते हैं, जिनको आम्र, नवमल्लिका अशोक, कमल और कर्णिकार इन पाँच फूलों से अरोपित माना गया है । कालिदास ने इस क्रम में आम्र-मंजरी को अग्रस्थान देते हुए सम्मोहन-रूपी बाण बताया है (कु.सं.3/66) काम की प्रक्रिया का उदय ही सम्मोहन अर्थात् रूपाकर्षण - या दूसरे शब्दों में कहे हुए मनःसंग से होता है । इसीलिए काम के भस्मीभूत हो जाने पर रति सहकार-मंजरी की निष्प्रयोजनता पर खेद प्रकट करती हुई कहती है -

हरितारुण चारुबंधतः कलपुंस्कोकिल शब्दसूचितः ।
वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ कु.सं. 4/14

यही नहीं, काम को प्रेतांजलि देने केलिए उसे सहकार मंजरी के अलावा कोई दूसरी वस्तु इस जगत् में नहीं दिखती, वह वसंत से यही कहती है कि -

परलोक विधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोल पल्लवाः ।
निवपेः सहकार मंजरी प्रियचूत प्रसवो हि ते सखा ॥

अर्थात् लोकविधि में ही नहीं परलोक विधि में भी, केवल इस जन्म में ही नहीं बल्कि जन्मांतर

में भी मंजरी की गंध संस्कार बनकर मनोभव के अंतर में छायी रहती है क्योंकि फल की आकांक्षा में ही काम की सार्थकता है, पुत्र की प्राप्ति में ही परंपरा की अभिवृद्धि की आशा सन्निहित है ।''[28] आगे लिखते हैं - काम के घोड़े पर सवार होकर आग के भीतर से चलना सबसे नहीं निभता, न सबसे यही संभव होता है आग लेने जाये और आग होकर लौटे ।

गई आग उर लाइ आगि लेन आई जो तिय
लागी नानिं बुझाइ भभकि भभकि बरि बरि उठे ॥

यह आग लग जाये तो बुझती नहीं, बस निर्धूम जलती रहती है, ऐसे निर्धूम दहन में सब कुछ तो बदल जाता है त्रिताप, त्रिताप नहीं रह जाते, बड़े ताप के आगे शीतल हो जाते हैं और संसार दारुण नहीं रह जाता । इसे कामाचार का पथ माना गया है ।''[29]

इन सभी उद्धरणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि काम एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें समग्र भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन केंद्रित है । काम के अभाव में धर्म को या अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है । काम मानव जीवन का आवश्यक एवं अनिवार्य अंग है ।

मोक्ष

भारतीय दर्शन परंपरा में मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है । इसी को जीवन का अंतिम पुरुषार्थ माना गया है । धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है । इसीलिए धर्म आदि तीन पुरुषार्थों को शास्त्रकारों ने साधन तथा मोक्ष को साध्य माना है । भारतीय सभी आस्तिक दर्शनों में मोक्ष की कल्पना की गई है ।

कठोपनिषद् में कहा गया है - ''अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । सांसारिक सुखों की स्पृहा ही अविद्या है । इस अविद्या से निवृत्त होकर अमरत्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना ही विद्या है । तब वह उसे प्राप्त कर सकता है ।''[30]

वेदांत दर्शन में मोक्ष के संबंध में यह उल्लेख दृष्टव्य है - "अज्ञान अथवा उपाधि का आवरण हट जाने से चेतन का पारमार्थिक स्वरूप शेष रह जाता है । जिस उपाधि में उसका चिदाभास प्रतिबिंबित था उसके विलीन हो जाने से, दर्पण के टूट जाने से मुख प्रतिबिंब मिटकर केवल मुख ही शेष रह जाता है, उसी प्रकार उपाधि विच्छिन्न हो जाने से वह स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है इसी ब्रह्मभाव का नाम मोक्ष है ।"[31]

उपर्युक्त कथन से यह विदित होता है कि ब्रह्म साक्षात्कार से अज्ञान प्रतिबंध की निवृत्ति हो जाती है तब उसे आत्मा का स्वरूप प्रकट होने लगता है यही मोक्ष कहालाता है ।

मोक्ष को मूल्य का मूल्य मानते हुए मिश्रजी लिखते हैं - "मोक्ष एक प्रकार से मूल्य का मूल्य है जिसके कारण धर्म, अर्थ, काम मूल्य होते हैं और जिसको ध्यान में न रखने के कारण मूल्यहीन हो जाते हैं ।"[32]

उपर्युक्त कथन के अनुसार मिश्रजी यह मानते हैं कि धर्म अर्थ और काम की अपेक्षा मोक्ष अधिक चरम मूल्य है । यह अवश्य है कि मोक्ष का साधन भी धर्म के बिना नहीं हो सकता । धर्मयुक्त जीवन बिताते हुए ही मोक्ष का गंतव्य दीखता रहता है और उसकी कामना ही मनुष्य को आसक्ति के बीच भी निस्संग बनने का अभ्यास कराती है ।

भक्ति

मिश्रजी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी बढ़कर भक्ति को अधिक श्रेय मानते हैं । इस को वे पाँचवा पुरुषार्थ मानते हैं । इस संदर्भ में वे लिखते हैं - "कालांतर में मोक्ष को भी अतिक्रमण करने वाले एक पाँचवे पुरुषार्थ की अवधारणा हिन्दू-जीवन में हुई, वह थी - भक्ति की, ऐसे इच्छा बनी रहे कि मुक्त होकर भी दूसरों का दुःख दूर करने केलिए जीवन अर्पित होता रहे जिससे, भगवान में जीने की सार्थकता प्रमाणित होती रहे । यह पुरुषार्थ संतों का मार्ग बना और इसने हिन्दू सामाजिक जीवन में उदारता, करुणा और मानवीयता को आध्यात्मिक रंग दिया; इसके कारण हिन्दू समाज में विनयशीलता के साथ-साथ गहरा आत्मविश्वास आया, अपने धर्म में निष्ठा के साथ-साथ किसी जबरदस्त प्रवाह के विरोध में भी टिके रहने की दृढ़ नकार शक्ति भी आयी ।"[33]

भक्ति का इतिहास बहुत पुराना है । मोनियर विलियम के अनुसार भक्तिशब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है । इस के आधार पर कहा जा सकता है कि भक्ति भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप, क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज्-भागलेना) जैसे व्यापक भाव में परिणति हुई ।''[34]

भक्ति के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी का कथन इस प्रकार है - 'धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती किसी प्रकार चली आ रही थी ।''[35]

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को कर्म-ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ माना है । भगवान पर अनन्य प्रेम होना ही भक्ति है । यह प्रेम ही अमृत है ।''[36]

मिश्रजी भक्ति शब्द का विश्लेषण करते हुए उसकी अर्थ विशेषता बताते हैं कि - ''भक्ति शब्द जिस धातु से निकला है, उस भज् धातु के चार अर्थ हैं । पहला अर्थ है हिस्सा बँटाना साझीदार होना । दूसरा अर्थ है, सेवा करना, अपने को वशवर्ती के रूप में अर्पित करना, दूसरे शब्दों में अपना सब कुछ तदीय बना देना । तीसरा अर्थ है आनुषंगिक बन जाना, पर को सामने लाना, स्व को ओट में रखना । इसी से काव्यशास्त्र में लक्षणावृत्ति के अर्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ मुख्य अर्थ गौण हो जाता है और गौण या भाक्त अर्थ मुख्य । और चौथा अर्थ है रचना । कालिदास ने 'भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य' की उपमा विंध्य के पर्वत से निकलनेवाली पत्थरों के ढोंकों के बीच रहनेवाली नर्मदा से दी, तो उसमें हाथी के शरीर पर रचना को (आज भी दशहरें में हाथी के शरीर पर जो रचना होती है) भक्ति कहा ।''[37]

इस प्रकार भक्ति की महत्ता बताते हुए मिश्रजी उसको पाँचवाँ पुरुषार्थ मानते हैं इस संदर्भ में यह उदाहरण दृष्टव्य है -

"श्रीमद्भागवत ने चार पुरुषार्थों से अधिक विशिष्ट पाँचवें पुरुषार्थ की बात की है, वह पाँचवाँ पुरुषार्थ भक्ति है । भक्ति का अर्थ है अलग होने का तीव्र बोध, इसलिए जुड़ने की तीव्र एषणा । साहित्य भी एषणा से मुक्ति नहीं वह एषणा का विस्तार है - ऐसा विस्तार है, जिसमें मनुष्य केवल एषणा रह जाय । उस एषणा के तीन स्तर हैं, एक है असहाय चिरौटे का, जो शाम होते ही अपनी माँ की बाट जोहता है, आएगी, मूँह में चारा डालेगी; एक है दिन-भर कुलाँच मारनेवाले बछड़े की, उसे भूख लगती है तो सब कुलाँच भूल जाती है, वह माँ के दूध केलिए व्याकुल हो जाता है; और एक एषणा है प्रोषितपातिका की जिसका पूरा जीवन एक उपस्थिति के अभाव में नीरस हो गया है, पूरा जीवन एक प्राण के स्पर्श के अभाव में शूल बन गया है । भक्ति इन तीनों को एक में समेटती है अपने ढ़ंग से ।"[38]

श्रीमद भागवत में भक्ति के नौ भेद माने गये हैं ये हैं -

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥ 9(5) 23

भगवान् के गुणगान का श्रवण करना ही श्रवण भक्ति है । श्रवण के पश्चात् प्रभु के गुणों की कथा को हृद्गत करके उसका प्रिय वचन करना ही कीर्तन भक्ति है ।

ईश्वरीय गुणों का पुनः-पुनः स्मरण करना ही स्मरण भक्ति है । प्रभु के चरणों की सेवा ही पादसेवन भक्ति है ।

अर्चन भक्ति	-	पूजा-भक्ति
वंदना भक्ति	-	नमस्कार भक्ति
दास्य भक्ति	-	दास भाव व्यक्त करना ही दास्य भक्ति है
सख्य भक्ति	-	भगवान् के प्रभाव को जानकर, उनमें अनन्य प्रेम संपादन करते हुए मित्र रूपी भक्ति का पालन करना ही सख्य भक्ति है ।

आत्म निवेदन भक्ति- अंत में सर्वतोभावेन अपने को प्रभु के अधीन कर देना ही आत्म निवेदन भक्ति कहलाती है ।

उपर्युक्त सभी कथनों से यह विदित होता है कि भक्ति एक प्रकार के ज्ञान को ही कहते हैं जिसमें परमानंद के समान प्रिय परमात्मा (भगवान्) के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रयोजन (लक्ष्य) नहीं है तथा अन्य सभी विषयों से वैराग्य रहता है ।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि मिश्रजी ने भक्ति को पाँचवा पुरुषार्थ माना है जिसमें भगवान् का गुणानुवाद होता है, भगवान् से प्रार्थना होती है भगवान् की लीलाओं का आख्यान होता है, भगवान् की ओर अभिमुख करने के उद्देश्य से संसार से विमुख करने की बात होती है ।

जीवन मूल्य

जीवन मूल्यों में सबसे बड़ी प्रतिष्ठा सत्य, अहिंसा और दान की है । दान करने से मनुष्य वस्तुतः संकोच, छोटेपन और सीमित स्व के ऊपर विजय प्राप्त करता है, पर सत्य ही सबसे बड़ा सनातन धर्म है, क्योंकि वही धर्म का सबसे बड़ा आधार है । सत्य की निरंतर खोज की भावना ही मनुष्य की दृष्टि को उदार बनाती है तभी वह किसी को भी अपने विरोध में नहीं पाता । तभी वह समझता है कि हिंसा दूसरे को मारने का निषेधात्मक मूल्य है । इस निषेधात्मक मूल्य से बचना ही मनुष्य की मनुष्यता में दीक्षा है और जब मनुष्य में यह उदारता आती है तो वह स्वतः दानशील हो जाता है । वह अपना जीवन अपनेलिए सीमित नहीं मानता, क्योंकि सत्य का विराट रूप उसे विराट जीवन की ओर अपने आप खींचता जाता है ।

इस संदर्भ में पी.वी. काणे लिखते हैं - "ऋत के तीन पहलू हैं, इसका अर्थ है, प्रकृति की गति । दूसरा, विश्वसृष्टि की नियमित सामान्य व्यवस्था और फिर यज्ञ के संपर्क में देवताराधन का सम्यक् और व्यवस्थित विधान । इसका तीसरा अर्थ मनुष्य का नैतिक आचरण भी है ।"[३५]

उपर्युक्त उल्लेख का विवेचन करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - 'सत्य, प्रिय और ऋत तीनों को एक बिंदु पर रखने का प्रयास करना चाहिए और तीनों को परस्पर सापेक्ष बनाना चाहिए। ऋत का अर्थ है सृष्टि की गति का नियम। सत्य का अर्थ होता है - टिकने की क्षमता, परस्पर सापेक्ष होने के कारण यह नित्य होते हुए भी सनातन रूप से प्रवाही है।''[40] सत्य के संबंध में ब्रहदारण्यक उपनिषद् में 'सत्यं हयेव ब्रह्मा' (सत्य ही ब्रह्मा है) कहा गया है।

इस संदर्भ मे मिश्रजी का यह कथन उल्लेखनीय है - ''सत्य का पैमाना है सत्य की खोज, सत्य को पाने की कोशिश। जिसे पाकर सत्य की खोज रुक जाय, वह सत्य नहीं मिथ्या है, क्योंकि सत्य का स्वभाव है चलना। वह ऋत के साथ पैदा हुआ, वह तप से पैदा हुआ 'ऋतं च सत्यं च तपसोऽध्यजायत' ऋत अर्थात् गति और तपस्या के बिना एक क्षण भी वह रह नहीं सकता। कुछ लोगों ने उसका मुँह सुनहले ढक्कन से बंद करना चाहा - 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यपिहितं मुखम्' पर तप की आँच और ऋत के फैलाव ने उस ढक्कन को उठाकर फेंक दिया। सत्य कहीं बंद नहीं हो सका। वह बढ़ता रहा। सत्य रथ धरती से चार अंगुल ऊपर ही चलता रहा, क्योंकि सत्य कभी पीछे नहीं मुड़ा, कभी पछताने केलिए नहीं ठहरा। वह आगे ही बढ़ता रहा।''

इसी संदर्भ में वे आगे लिखते हैं - ''दमन वे करें जो भोग कर रहे है। दया वे करे जो सता रहे हैं, पर हम न तो भोग-विलास ही कर रहे हैं, न किसी को सता ही रहे हैं, इसलिए हमें तो दान देना है। क्योंक हम अपनी चीजों के मोह से चिपके हुए मानव धर्मी है।''[41]

दान के संबन्ध में मिश्रजी की अवधारणा इस प्रकार है - ''हमारे यहाँ पुराने दान-पत्रों में जिस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी को दान के पवित्र बंधन बाँधने की कोशिश की गई है, इससे यह पता चलता है कि दान की नींव हमारी संस्कृति की किस अगम गहराई में पड़ी हुई है। जो दान कर्म की तरह सूद की आशा में दान कह कर दिया जाता है, वह दान दान नहीं दान का उपहास है मानवता का अधःपतन है।''[42]

दान के संबन्ध में मिश्रजी का एक और उदारहण दृष्टव्य है - "पाने का अर्थ अपने को खीना है, अपने मानव स्वभाव को खोना है, इसीलिए विधाता ने मनुष्य को एक सीख दी कि दो दो दत्त दत्त जो पाते हो उसे दो, पर वह देना इसलिए न हो कि दान का फल तुम्हे प्राप्त हो ।"[42]

मिश्रजी के द्वारा प्रयुक्त सत्यधर्म से संबंधित संस्कृत श्लोकों के उद्धरण इस प्रकार हैं जो महाभारत से संकलित हैं -

"सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

सत्यं किं लक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत्किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥

भीष्म उवाच -

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते ।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमां गतिः ॥

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥[43]

धार्मिक अनुष्ठान

मिश्रजी मानते हैं कि सृष्टि के साथ तादात्म्य पर बल देनेवाला धर्म है और इस धर्म के समस्त अनुष्ठान उस तादात्म्य केलिए साधन है । यज्ञ और उपासना इसके बाह्य और आभ्यंतर पक्ष है, यज्ञ संस्था वैदिक युग में सामाजिक संस्था थी । यज्ञ में ही समाज की संहत इकाई

के दर्शन होते थे, और इसीलिए इस यज्ञ का विकास ब्रह्म के साक्षात्कार में हुआ । प्रारंभ में ब्रह्म का अर्थ था मंत्र और मंत्र बोलनेवाला बाद में यज्ञ में मंत्र बोला जाता था । इसीलिए यज्ञ ब्रह्म हुआ और तब समूची सृष्टि की भावना यज्ञ के रूप में हुई । यज्ञ जैसे ममत्व का त्याग है, वैसे ही सृष्टि भी स्रष्टा के ममत्व का त्याग है । इस भावना के विकास के साथ-साथ पूरा चराचर जगत् यज्ञ हुआ, संवत्सर यज्ञ हुआ, समस्त प्रकार का सर्जनात्मक व्यापार यज्ञ हुआ ।

प्रारंभ में केवल देवता के निमित्त प्रिय अन्न या भोज्य पदार्थ अर्पित किया जाता था । मंत्रोच्चारण के साथ-साथ ही देवता की उपस्थिति भावित होती थी । मंत्र का नाम ब्रह्म इसलिए पड़ा कि वह देवशक्ति का वर्धन था, इंद्रसूक्त में ऋग्वेद में, स्वयं ब्रह्म का अर्थ 'यस्य ब्रह्म वर्धनं' कह कर किया गया है । जो मंत्र पढ़ता था वही देवता की शक्ति को प्रस्फुरित करता था इसलिए वह भी ब्रह्मा कहलाया । देवता का आवाहन कुश पर किया जाता था, कुश का भी संस्कृत नाम 'बर्हि' अर्थात् 'बढ़नेवाली' है । इस प्रकार यज्ञ एक वृद्धिकर्म था देवता केलिए और अपनेलिए । बाद में अग्नि स्थापन और अग्नि में आहुति का भी प्रारंभ हुआ वेदी बनायी जाने लगी अनुष्ठान का कर्मकांड विस्तृत हुआ ।

यज्ञ संस्था के विकसित होने के बाद थीरे-थीरे यज्ञविधान बहुत विस्तृत और वर्गीकृत हुआ । नित्य किया जानेवाला अग्निहोत्र नित्य यज्ञ और ऋतु चक्र के साथ या विशेष उद्देश्य या प्रयोजन से किया जानेवाला यज्ञ नैमित्तिक यज्ञ कहा गया । नित्य यज्ञ गृहस्थ का अपरिहार्य कर्तव्य था, वह यज्ञ के द्वारा अग्नि धधकाये रखना चाहता था जिससे यह निरंतर अनुभव करता रहे कि मैं अपने को नित्य देवार्पित कर रहा हूँ । मेरे जीवन का प्रतिदिन एक आहुति है, या सोमयाग में सवन अर्थात् जीवन रस द्रवित करने केलिए एक दबाव है ।

ऋतुचक्रके साथ चलनेवाले अनुष्ठान थे आग्रायणेष्टि (मार्गशीर्ष या आज के नवंबर में शरद् ऋतु की समाप्ति के बाद) जो पहली फलस कटने के समय कृतज्ञता-ज्ञापन के निमित्त की जाती थी, उसी तरह वसंत ऋतु की समाप्ति होते-होते दूसरी फसल पकने पर चैत्री

या शूलगव, श्रावण में श्रावणी, आश्विन में श्राद्ध यज्ञ, वर्षा में चातुर्मास्य याग (इसी में कृषि कर्म से संबद्ध शुनासीर और तीन अन्य याग, वैश्वदेव वरुण प्रधान और शाख-मेध आते हैं) होते थे । यह यज्ञ सामाजिक संस्था थे, इनमें बड़ा समुदाय भाग लेता था । ऋतों के मोड़ के साथ यज्ञ को जोड़ने का अर्थ था, यज्ञ को ऋुत के रूप में देखना इसके अतिरिक्त प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को दर्श-पौर्णमास इष्टि का विधान था ।

दूसरे प्रकार के यज्ञ है जो वर्ष में कभी एक बार किये जाते हैं, वे एक दिन में संपन्न हो, या कई दिन चलते हैं । कई दिन चलनेवाले सत्र कहलाये, क्योंकि उसमें बहुत से लोग साथ बैठे रहे ये यज्ञ विशेष उद्देश्यों से संपन्न किये जाते थे, इन्हीं में ज्योतिष्टोम अतिरात्र, वाजपेय, अश्वमेध जैसे यज्ञ आते हैं । इन यज्ञों का प्रयोजन दुहरा था - एक तो, विशालतर समुदाय का सहयोग (केवल एक स्थान के ही नहीं विभिन्न केंद्रों के लोग इसमें सम्मिलित होते थे) प्राप्त किया जाता था । दूसरे, इन यज्ञों के व्याज से मानव जीवन के महनीय अर्थ (मूल्य) पर विचार-विनिमय होता था । इन्हीं सत्रों का विकास ज्ञान सत्र के रूप में हुआ ।

इन यज्ञों को विनियोजित द्रव्य के आधार पर तीन प्रकारों में विभक्त किया जाता है ।

पाकयज्ञ - जिनमें चरु (यज्ञ में अर्पित किया जाने वाला पदार्थ) पकाया जाता है, इस चरु के साथ आहुति भी दी जा सकती है या केवल चरु ही चढ़ाया जा सकता है । ये सात प्रकार होते हैं - स्थालीपाक, अष्टका, अमाश्राद्ध, औशसन होम, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री ।

हविर्यज्ञ - जिनमें अग्नि में आहुति देना आवश्यक है और पकाया हुआ या राँधा हुआ पदार्थ नहीं अर्पित किया जाता । ये सात प्रकार के होते हैं - अग्निहोम, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबंध, सौत्रामणि ।

सोमयज्ञ - जिनमें आहुति या चरु समर्पण के साथ-साथ अपरिहार्य रूप से पत्थर से कुचकुचाकर सोम का रस निकाला जाता है, और वह अर्पित होता है ये सात प्रकार के होते हैं - अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोढशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ।

इस यज्ञ केलिए जो वेदी का निर्माण किया जाता है वही विकसित होकर मन्दिर का रूप बन जाता है, जहाँ पर उपासना की जाती है । इस संदर्भ में मिश्रजी का यह कथन उल्लेखनीय है - ''यज्ञ की वेदी का नक्शा इसी से विकसित होकर मन्दिर का विन्यास बन जाता है ।''

इस प्रकार यज्ञ संस्था और योग-संस्था इन दोनों का एकीकरण ही धार्मिक अनुष्ठानों में एक नया मूल्य-संतुलन स्थापित करता है । व्यक्ति के विकास और समष्टि की निरंतर भावना इन दोनों का समन्वय धार्मिक अनुष्ठानों से ही हो सकता है । ये दोनो संश्थाएँ हमारे जीवन क्रम के प्रत्येक क्षण को उद्भासित करने लगती है ।

अवतार वाद

पाणिनि के अष्टाध्यायी में 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्'[44] नामक सूत्र मिलता है जिसका संबंध अवतार शब्द से है । इस का अर्थ है कि किसी ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया अथवा उतरने का स्थान । इस संदर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है कि 'इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है - 'किसी महनीय शक्ति संपन्न भगवान् या देवता का नीचे के लोक में ऊपर से उतरना तथा मानव या अमानव रूप का धारण करना है ।''[45]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मानना है कि अवतार वाद की धारणा उत्तर वैदिक काल में पुष्ट हुई तथा पुराण काल में विकसित हुई । अपनी 'मध्यकालीन धर्म साधना' नामक रचना में वे लिखते हैं कि - 'भगवान् मनुष्य या मनुष्येतर जीव का पार्थिव रूप ग्रहण करके भक्तों का उद्धार करता है ।''[46]

उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण पुराणों में हुआ है ।

श्रीमद्भागवत[47] के प्रथम स्कंध के तीसरे अध्याय में अवतारों की संख्या बाईस दी गयी है । यथा 1) कौमार सर्ग (सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार), 2) वराह, 3) नारद, 4) नर-नारायण, 5) कपिल, 6) दत्तात्रेय, 7) यज्ञ, 8) ऋषभदेव, 9) पृथु, 10) मत्स्य, 11) कच्छप 12) धन्वंतरि, 13) मोहिनी, 14) नरसिंह, 15) वामन, 16) परशुराम, 17) वेदव्यास, 18) रामचंद्र, 19) बलराम, 20) कृष्ण, 21) बुद्ध, 22) कल्कि, अग्निपुराण, पद्मपुराण, लिंगपुराण, वराह पुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़ पुराण के अनुसार वस्तुतः अवतारों की संख्या सिर्फ दस मानी गयी है ।

वनजौ वनजौ खर्वः त्रिरामी सकृपोऽकृपः ।
अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

वनजौ अर्थात् जल में उत्पन्न मत्स्य एवं कूर्म, वनजौ अर्थात् जंगल में उत्पन्न वराह और नृसिंह, खर्व अर्थात् वामन त्रिरामी (तीन राम - परशुराम, दाशरथी राम, बलराम), सकृपः (कृपायुक्त अवतार), बुद्ध एवं अकृपः (कृपारहित अवतार), कल्कि कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं ।

अवतार के संबंध में मिश्रजी का कथन इस प्रकार है - "सगुण साकार या सगुण निराकार ईश्वर ही नहीं निर्गुण निराकार परब्रह्म भी स्वेच्छा से कर्म करने केलिए किसी न किसी मूर्त रूप में प्रकट होते रहते हैं और उनके आविर्भाव से मनुष्य की जीवन यात्रा उनके आलोकित कर्म-पथ पर चलने केलिए बार-बार उत्साह पाती रहती है । अवतार कर्म की विराट सत्ता से जुड़ने का ही सहज परिणाम है ।"[48]

इस संदर्भ में आनन्द कुमार स्वामी जी का कथन है - "सही रूप में अवतरण होता है, प्रकाशों में प्रकाश का, एक प्रकाश के रूप में, एक दूसरे प्रकाश के रूप में नहीं । राम और कृष्ण का जैसा अवतरण मर्त्य प्राणियों के कर्म नियंत्रित पुनरागमन से भिन्न है क्योंकि उन्हें तो इसका स्मरण ही नहीं है कि वे क्या है । राम-कृष्ण का अवतरण उनकी समस्त प्राणियों की अवश्यकता है, जो आकांक्षी हैं, ऐसा किसी धर्म जनित त्रुटि के कारण नहीं

है । ऐसी महाविभूति का अवतरण जिन रूपों में होता है उन रूपों में गंभीरता के साथ संसक्त नहीं होता । इसलिये उस रूप या योनि के साथ वह सहकारी रूप से सक्रियता नहीं दिखलाता । वह केवल लीला भाव से उस रूप में अधिष्ठित रहता है ।''[49]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि अवतारवाद का अर्थ यह नहीं है कि मृत व्यक्ति पृथ्वी पर पुनः लौटते हैं । अवतारवाद के संदर्भ में मिश्रजी का यह कथन उल्लेखनीय है - ''पुराणों में विष्णु, अनंत, महाकाल की शय्या पर क्षीर सिन्धु में सोते मिलते हैं उनकी सुख नींद तोड़ने केलिए योग माया को बुलाना पड़ता है वह बार-बार धरती पर अवतार लेते हैं । कभी महामत्स्य कभी कच्छप कभी वराह कभी नृसिंह, कभी वामन, कभी परशुराम, कभी राम, कभी बलराम, कभी बुद्ध, कभी कल्की पनते हैं, पर कुछ न कुछ कला अपनी गाँठ में रखे रहते हैं ।''[50]

प्रकृति प्रेम

भारतीय संस्कृति में पशु-पक्षी जीव-जन्तु, नदी-सागर-पर्वत आदि प्राकृतिक सम्पदा के साथ संबन्ध स्थापित करने की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है । मिश्रजी भी प्रकृति प्रेमी है, प्राकृतिक सम्पदा के आराधक हैं । इनके अधिकांश निबंधों में प्रकृति के वर्णन मिलते हैं । यह उदाहरण द्रष्टव्य है - ''सुबह जब पक्षियों की कतार की कतार सूरज की ओर मुँह किए निकलती है तो क्या उनका आयाम माप सकते हैं, क्या आपको सुधि बनी रहेगी, कितनी देर चिड़ियाँ निकलती रहीं, एक सैलाव उड़ते हुए रंगों का उमड़ना जा रहा है आपके बहुत दूर बस इतना जानते हैं । फागुन कुछ वैसा ही होता है, किशोरावस्था भी कुछ वैसी ही होती है, किरनों के सैलाव का जवानी का सैलाव, कहाँ यह सैलाव उतरता हैं ।''[51] वे आगे लिखते हैं - ''प्रकृति को जो जड़ कहते हैं, उनका अगाध चैतन्य मुझे दुर्भाग्यवश नहीं मिला है, पर इतना जानता हूँ कि मनुष्य जब अपने कार्य के भार से दब कर मुर्दा सा हो जाता है, तब उस शव में प्राण फूकनेवाली जो शक्ति है, उसी का नाम प्रकृति है, जिसका कि पतन भी मनुष्य का उत्थान करता है और फिर मैं सोचता हूँ कि हमारे देश की संस्कृति नदियों की धारा से बनी है और इसीलिए वह नदी की धारा की ही भाँति शाश्वत प्रवाहमान

और सदैव एक महान सत्य के पीछे अनुधावन शील तथा सदैव नये-नये फूलों केलिए अपने रस-सिंचन से दानशील रही है ।''[52]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि मिश्रजी प्रकृति को चैतन्यमय और प्रकृति एवं संस्कृति दोनों को नदियों की धाराओं की तरह प्रवाहमान मानते हैं । प्रकृति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं - ''रामी के सपाट कछार में जनमा, बबुरानियों और बंसवारियों की छाँह में पला, बचपन में सिल और चक्की के अलावा पत्थर देखने को नहीं मिला, विन्ध्यप्रदेश की पथरीली धरती और उसके भीतर से रिसती नदियों को और पत्थर की मानव निर्मित प्रतिमाओं से सिलती सौन्दर्य रसापगाओं को देखा, तो लगा विश्वंभरा धरती का यह पुरायठ रूप कितना स्निग्ध है । विन्ध्य की नदियों पानी का ढ़ाल ज्यादा देर नहीं ठहरता उतर जाता है इसलिए ये रपटे इस प्रदेश केलिए कम खर्चीली और उपयोगी हैं ।''[53]

नदी भी प्राकृतिक सम्पदा है । गंगा नदी की विशेषता बताते हुए लिखते हैं - ''गंगा हमारे जीवन की धारा है, इसी से मर कर भी, राख होकर भी हम इस में प्रवाहित होना चाहते हैं कि गंगा में विलयन भी जीवन की चरम सार्थकता है ।''[54] और आगे लिखते हैं - ''गंगा ही भारत है । भारत का अर्थ, भारत का काम, भारत का धर्म और भारत का मोक्ष चारों पुरुषार्थ गंगा है । यही नहीं, चारो पुरुषार्थ के आगे पाँचवाँ पुरुषार्थ भक्ति भी गंगा है । सबको समेटो और चल पड़ो अनंत की ओर । ऐसा बड़ा संतरण और ऐसा बड़ा संरक्षण और कौन है । मुझे जब-जब हवाई जहाज से गंगा के मैदान में यात्रा करने का अवसर मिलता है तो मैं उस तरफ़ की खिड़की के पास बैठना चाहता हूँ जहाँ से दूर तक गंगा की धार दिखती रहे । गंगा को देखना सर्वेश्वर की, सर्वकामेश्वर की प्राणनाड़ी को स्पंदित होते देखना है ।''[55]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि मिश्र जी अपनी सृजन प्रक्रिया में प्रकृति के सजीव चित्रण करने में सफल हुए हैं । साथ ही साथ पाठकों को भी आह्लादकता की रमणीय तरंगों में डूबा देते हैं । मिश्रजी ने अपने अधिकांश सांस्कृतिक निबन्धों में प्रकृति वर्णन को महत्व

दिया है । इस में से छितवन की छाँह, टिकोरा, आम्रमंजरी, कटहल, मैंने सिल पहुँचाई, गंगा की छवि, प्रयाग में कल्पवास, शिरीष की याद आयी, हिमालय की बाहों में सतलज, गंगा किसकी, वन और वन का स्वभाव, गंगा के बिन्दु-बिंदु में गोविंद, यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे, माँ और धरती, नारियल आदि निबन्ध प्राकृतिक वर्णनों से मंडित हैं ।

मांगलिक प्रतीक

विद्यानिवास मिश्रजी ने भारतीय संस्कृति के वेत्ता हैं । वे अपने सांस्कृतिक निबन्धों में दूर्वादल, हल्दी, अक्षत, तिलक, सिन्दूर, आरती, स्वस्तिक, दीपक आदि मांगलिक उपलब्धियों पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया है । डॉ. जयनाथ नलिन लिखते हैं - "तिलक सिंदूर, सूत्रबंधन, आरती, स्वस्तिक, दीपक सोली, हल्दी, दूर्वादल, दही, अक्षतभरा कलश आदि हमारी संस्कृति के मांगलिक या शिवं की उपलब्धि और आकांक्षा के प्रतीक हैं । उन्हें यों ही प्रतीक नहीं मानलिया गया है । वे सभी हमारे राष्ट्र, हमारी धरती माता की समृद्धि, उपज पोषण सामर्थ्य अनुदान की उदारता, उल्लास प्रवृत्ति, भूगोल-इतिहास की अभिव्यक्ति करते हैं ।"[56]

मिश्रजी के द्वारा लिखित निबन्धों में प्रमुखतया हल्दी, दूब और दधि अच्छत, भोर का आवाहन, सन्ध्या का ध्यान, दिया टिम-टिमा रहा है, दिये बाती के मेल, निर्माल्य, पूर्णमदः पूर्णमिदम्, कुंभ-जन जल और आस्था, तुम चंदन हम पानी आदि निबन्ध मांगलिक प्रतीकों पर लिखे गये निबन्ध हैं ।

हल्दी-दूब और दधि अच्छत निबन्ध का यह उदाहरण उल्लेखनीय है - "भारतीय संस्कृति की एक शाखा उच्छिन्न होते ही दूसरी शाखा निकल आयी है । जितने ही उस पर मार्मिक आघात हुए हैं उतने ही शत-सहस्र उमंगों के साथ वह पनपी है । इसी के कारण उसे अप्रतिहत मांगलिक स्वरूप प्राप्त हुआ है और इसी के कारण वह भारत की धरती से इतनी हियलगी बन रही है कि बिना उसके उसका कोई मांगलिक छिड़काव नहीं संपन्न होता ।

दूर्वा की नोक से जब हल्दी छिड़की जाती है कि तितिक्षा के अग्रभाग से साक्षात् सौभाग्य छिड़का जी रहा हो । हल्दी-दूब का यह संयोग सत्व को चित् और आनंद का मंगलमय

परिधान देता है, नहीं तो अपने में सत्व निरापद और अशिव है । उसको अपना गौरव चिद् और आनंद के सुखद संयोग में ही प्राप्त होता है । शायद इसीलिए वह सत्व राष्ट्र के प्रतीक में हल्दी और दूब के योग का मध्यमान बन गया है ।''[57]

मिश्रजी का मानना है कि भारतीय संस्कृति को हल्दी और दूब, रूप और सौन्दर्य स्पर्श देते रहे हैं । दधि-अच्छत रस तथा शब्द देते रहे हैं, कमल गंध देता रहा है । जिस प्रकार शब्द से आकाश भर जाता है उसी प्रकार अक्षत से अर्चना की थाली भर जाती है ।

दही को भारतीय संस्कृति की साक्षात् रसमयी प्रतिमा मानी जाती है । दूध से यौवन के उफान का बोध होता है, मख्खन से मन की एकता और घ्रत से आयुष्य की लक्षणा भी बनती रहे ।

चन्दन

किसी पूजा के उपरांत भाल पर चन्दन लगाने की परंपरा है । इस परंपरा के पीछे एक कारण है कि मनुष्य को अपने संघर्ष से सुरभी अर्जित करने का अधिकार तभी मिलता है जब वह अर्पित भाव से संघर्ष में रत होता है । इसी विश्वास से प्रेरित होकर मिश्रजी लिखते हैं - ''पर मैं तो यह मानता हूँ कि चंदन जो भी हो किसी रंग में भी रसा हो वह हमारी विश्व कामना का ही एक शुष्क प्राय खंड है । जिसे रससिद्ध करना हमारा कर्तव्य है । हम तिलक जो भी लगवायें वह अर्पित चंदन का तिलक हो, स्वार्थ संघृष्ट न हो, सुविस्तृत विश्व को सुरक्षित करने से जो बचा हो वही हम अपने सिर आँखो से, इसी में हमारी भव्य परंपरा की अभिवृद्धि और हम सभी के अंतःकरणों का सौमनस्य सन्निहित है । तत्वतः हम चंदन हैं हमीं पानी है ।''[58]

चन्दन के बारे में मिश्रजी की अंतरदृष्टि का दर्शन हो जाता है कि आज का मानव स्वयं महान है । वह दूसरों पर अर्पित होने की अपेक्षा नहीं रखता है । स्वयं ही अपने को प्रकाश का अधिकारी बना सकता है । इसीलिए चंदन को (जो भगवान का जड़ीभूत रूप है) उसे शरीर रूपी शिला पर घिसना चाहिए । तल्लीनता से घिसा जाए तो चंदन बिना जढ़ाए ही जहाँ चढ़ना है वहाँ चढ़ जाएगा ।

दिए-बाती

दिए-बाती के महत्व पर भी मिश्रजी ने अपने सांस्कृतिक निबंधों में प्रकाश डाला है । मिश्रजी उस बात केलिए अपना खेद व्यक्त करते हैं कि आज दिए-बाती के स्थान पर मर्क्युरी-लाइट का उपयोग किया जाता है । लेखक मानते हैं कि दीप का संबन्ध चंद्रमा से है । 'चंद्रमा मानसो जातः' के कारण दीप का संबंध मन से है । अंतरात्मा को अवबोधित करनेवाली आह्लादकता का प्रतीक है । लेकिन आज बिजली के रंगीन बल्बों नें बाती की अनिवार्यता को समाप्त कर दी गई है । फिर भी पूजा आदि मांगलिक कार्यों में दिए का उपयोग तो कर ही रहें हैं ।

मिश्रजी दीप को हमारी परंपरा का प्रतीक मानते हैं, एक दीप से दूसरा दीप प्रवर्तित होता है, इसीलिए वह संतानवाही परंपरा की ज्योति-कडी है ।

महाभारतकार के उद्गार का विश्लेषण करते हुए मिश्रजी अंतरंग दीप के बारे में लिखते हैं -

> "सत्याधारः तपस्तैलं दयावर्त्तिः क्षमा तथा ।
> अंधकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन वार्यताम् ॥

अंधकार को दूना होने दो, दीया जलाओ, पर जतन से जलाओ, यह दीया सत्य पर टिका हो, इसमें तप से तेल मिले, बाती दया से पूरी गई हो और उसकी लौ क्षमा की हो । तो दीया जलाओ । यह घेरे हुए अंधकार की उपेक्षा करनेवाली दीया है, ब्लैक-आउट को बाहर-बाहर रहना है । घर के भीतर दीया जलाना है, प्रतिस्मृति से ।"[59]

आंतरंगिक ज्योति को जलाने का संदेश देते हुए मिश्रजी लिखते हैं - "हमारी प्रत्येक आहुति एक दीप है, क्योंकि हमारी हर आहुति निर्धूम है, हमारा हर संकल्प आज निर्धूम रहे और हमारा प्रत्येक कर्म इस दीप के प्रकाश से उज्वल रहे, क्योंकि आज हमें अपने बाहर या अपने से दूर आलोकित करने की जरूरत नहीं भीतर को अपने ठीक नीचे जमीन को

आलोकित करना है । यह राष्ट्र के अंतःकरण की लक्ष्मी की पूजा का उत्सव है । दीया उसके उपयुक्त जलाओ ।''[60]

आज की राजनीति के बारे में व्यंग्य करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''दिये-बाती का राजनैतिक महत्व है । आज दीवाली मनाते समय याद रखना चाहिए बैलों की चरन के पास दिया नहीं रखना है, झोपडी के भीतर दिया नहीं रखना है, बाबा के थान पर दिया नहीं रखना है, अपने औजारों के पास दिया नहीं रखना है, नहीं तो अनुशासन भंग की कारवाई होगी । दीपक की लौ बैरिन है प्रगति की और पराक्रम की । वह प्रतीक है गलित परंपरा की और व्यक्ति की कुण्ठा की । दीपक-राग ही शोषक राग है ।''[61]

वे आगे लिखते हैं - ''आज जो दिया टिम-टिमा रहा है वह उसी लक्ष्मी की स्मृति में, उसी लक्ष्मी की प्रतीक्षा में और उसी लक्ष्मी की अतृप्त लालसा में । इस दिये की लहक में सरसों के वसंती परिधान की आभा है कोल्हू की स्थिर चरमर ध्वनि की मंद लहरी है, कपास के फूलों की विहँस है, चिकनी मिट्टी की सोंधी उसाँस है, कुम्हार के चक्के का लुभावना विभ्रम है और है कुम्हार के नन्हें-नन्हें शिशुओं की नन्हीं हथेलियों की गढ़न । इस में मानव श्रम का सौन्दर्य है । उसके शोषण की विरूपता नहीं । इसी में घट-घट व्यापी परब्रह्म की परंज्योति है, तथा स्वार्थ और परमार्थ की स्व और पर की, पार्थिव और अपार्थिव की, ताप और शीत की नश्वर और अनश्वर की, नाश और अमरता की मिलन-भूमि एवं उनकी परम अद्वैत सिद्धि है । भारतीय दर्शन जीवन का आभरण नहीं है, वह तो उसका प्राण है आदि स्रोत है और है अनंत महासागर मानो इसी सत्य को जगाने केलिए ही दिया टिम-टिमा रहा है ।''[62]

हमें मोमबत्ती सस्ती पड़ती है, उसे खरीद लेते हैं । तेल महँगा होगया है । दीये में तेल नहीं भरते । पर क्या हम स्वयं को मोमबत्ती बनाकर पिघला सकते हैं, स्वयं को पेरकर ऐसा स्नेह बूँद-बूँद भर सकते हैं जिससे असंख्य-असंख्य दीप जल उठें और हमारा दीपाधार कोरा दीपाधार न रह जाए । वह दीपालोकित दीपाधार बनजाय ।''[63]

उपर्युक्त कथनों से विदित होता है कि भारतीय संस्कृति में दीप लक्ष्मी का प्रतीक है, जीवन का आधार है ।

पूर्ण-कुम्भ

भारतीय संस्कृति में पूर्णकुम्भ से महात्माओं का स्वागत करने की परम्परा चली आ रही है । कुम्भ पूर्णता का प्रतीक है । पूर्णता की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है । इस बात को पुष्टि देते हुए मिश्रजी लिखते हैं - "कुम्भ हमारी संस्कृति में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । पूर्णता प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है, पूर्णता का अर्थ है समग्र जीवन के साथ एकता, अंग को पूरे अंगी की प्रतिस्मृति, एक टुकड़े के रूप में होते हुए अपने समूचे रूप का ध्यान करके अपने छुटपन से मुक्ति । इस पूर्णता की अभिव्यक्ति है पूर्ण कुम्भ । अथर्ववेद में एक काल सूक्त है जिस में काल की महिमा गाई गई है, उसी के अंदर एक मंत्र है जहाँ शायद पूर्ण कुम्भ शब्द का प्रयोग मिलता है वह मंत्र इस प्रकार है -

पूर्णः कुम्भोधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो जगत् ।
ता इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् बहुधा नु संतः
कालं तमाहु परमे व्योमन् ॥

इसका मोटा अर्थ है, पूर्ण कुम्भ काल में रखा हुआ है, हम उसे देखते हैं तो जितने भी अलग-अलग गोचर भाव हैं उन सब में उसी की अभिव्यक्ति पाते हैं । जो काल परम व्योम में है अनंत और अंतवाला काल दो नहीं एक हैं, पूर्ण कुम्भ दोनों को भरनेवाला है ।"[64]

इस प्रकार पूर्णकुम्भ को पूर्णता की अभिव्यक्ति माननेवाले मिश्रजी साहित्य के संदर्भ में जीवन मूल्य से युक्त साहित्य को पूर्णकुम्भ का तात्पर्य रखते हैं । उनके चिन्तन के अनुसार आधुनिक साहित्य में जिस कुम्भ या घट का उल्लेख मिलता है वह खाली है । लेकिन एक जमाने में वह घट भरपूर था आज वह खाली घट का समान बन गया है । इस खाली घट को देखकर दर्शकों के मन में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है । जब वह भरपूर था तब

उसके दर्शन से ही आनंद उमड़ आता था । एक समय था जब अपनी मंगल प्रेरणा से मानव के दृष्टिकोण को बदलने की शक्ति उसमें थी लेकिन अब वह असमर्थ है ।

भारतीयता

भारतीय संस्कृति में भारतीयता, देशप्रेम आदि विषयों को विशेष महत्व दिया गया है । प्रत्येक भारत वासी कहता है कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को माननेवाले हैं । हम समस्त विश्व को एक नीड़ बनानेवाले हैं अर्थात् न केवल भूभाग किन्तु नदी, पर्वत, जंगल, जीव-जन्तु पेड़-पौधे सभी हमारे भारत के अंग बताए गये हैं ।

मिश्रजी अपने निबन्ध में भारतीयता की बात करते हुए लिखते हैं - 'भारतीय संस्कृति को अपने बाहर की बात मानता ही नहीं, अपनी भीतर की बात करूँगा तो अपने आप मैं उसी की बात करूँगा जो हमारी चेतना में बसी हुई है, हम भले ही न जाने, कौन बसा हुआ है । भारत की वसुन्धरा ही कहाँ जानती है, कौन कौन बसे हुए हैं, कौन कौन नस्ले हैं, कब ये नल्से घुली मिली, कौन कौन भाषाएँ हैं और उनके अलग-अलग परिवार हैं, कौन कौन लोग आए, किसने कितना कितना कहर ढ़ाया, किसने क्या छीना, क्या दिया, कहाँ वह हिसाब रखती है इतना जानती हैं जो हैं वे सब हमारी संतान है, सब सोने को होते हैं तो चंदा मामा सोने की कटोरी में दूध-भात लाता है सब जगने को होते हैं तो एक चिड़िया, एक रोशनी की चिनगी यकायक पूरब से लाती हुई दिखाई पड़ती है और चिडिया उड़ जाती है, वह चिनगी लाल गोला के रूप में बढ़ती चली जाती है सब संध्या के समय आंगन में एक छोटे से बिरवे के नीचे एक छोटा सा दिया जलते देखना चाहते हैं क्योंकि उनके भीतर लौ पर लौ है माँ की, बहन की भाभी की, पत्नी की बहू की, बेटी की, सब के प्राणों में एक-सी सौंधी गंध है, रोटी की, भात की, नये गुड की । इस सबसे अलग भी कोई भारतीयता है क्या, है तो उससे मेरा कोई सरोकार नहीं ।''[65]

उपर्युक्त कथन से मिश्रजी के मन में स्थित 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्गार स्पष्ट रूप से विदित होता है । पुराण संबंधी बात करते हुए वे लिखते हैं - ''आप पुराणों में भारत की परिकल्पना पढ़िए । वह कल्पना आप पढ़ेंगे तो ऐसा लगेगा कि भारत की कोई सीमा

ही नहीं कई द्वीपों में एक द्वीप था जंबूद्वीप । जम्बूद्वीप में एक भारतवर्ष है, उसके कई नाम है । सबसे परले वैदिक वाङ्मय में भारत की व्युत्पत्ति मिलती है । भारत अग्नि का उपासक देश, भरत के वंश में उत्पन्न नहीं । भरत अग्नि के उपासक जो ऊर्जा सबका संभरण करती है उस ऊर्जा के उपासक, यह भारत । सबका संभरण करने का जो विचार करें, वह भारत और हिन्दुस्तान के उन विचारकों ने कभी बहुत्व की चिंता नहीं की, हमेशा सर्व की चिंता की । सर्व होकर के सर्व के बारे में सोचते हुए अगर चलोगे तभी तुम देखोगे - सर्वं पश्यति स पश्यति ।''[66]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि मिश्रजी भारत को विराट रूप में देखते हैं और इसे अग्नि उपासक देश मानते हैं । भारतीयता के संबंध में वे लिखते हैं कि ''यह संतानवाहिता भारतीयता का बड़ा ही सटीक बैमाना है यह केवल अपनी संतान तक सीमित नहीं, केवल मनुष्य तक सीमित नहीं, पेड़ पौधों तक जाती है, नदियों और पर्वतों तक जाती है नदियाँ माताएँ बनकर स्तन्य पान कराती है, पर्वत कुल पर्वत बनकर पिता की तरह आश्वासन की छाँह देते हैं । रहे पेड़ काटने में पाप-बोध अन्धविश्वास जिनकी नजर में हों, हो पर सच्चे भारतीय के मूल्य-बोध का वह परिचायक है, क्योंकि भारतीय होने का अर्थ है, सबकी चिंता रखना, क्योंकि सब हम में हें । हमारे भीतर नदी है, पहाड है, पेड़ है, पशु हैं, पक्षी हैं ।''[67] इस कथन से विदित होता है कि भारतीय लोग सब की चिन्ता रखते हैं । और प्रत्येक जीव- जन्दुओं में भारतीयता को देखते हैं ।

विद्यानिवास मिश्रजी के निबन्धों की समीक्षा करते हुए डॉ.विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं - ''भारतीय संस्कृति की जैसी मजबूत पकड़ और सही समझ लेखक में है वह आज हमारे समूचे लेखन में से ढ़ीली होकर, लुप्त होती जा रही है । इसलिए मैं संस्कृति का कायल हूँ पंडित विद्यानिवास मिश्र के निबंधों को पढ़कर, इनसे जुड़कर क्यों न हम अपनी अस्मिता पर एक बार फिर गर्व से ऊँचा मस्तिष्क करें और भड़कीली भद्धी नकल से बचकर राष्ट्रीय गौरव का स्वाभिमान संचित कर सीना तानकर खड़े होने का साहस दिखायें ।''[68]

इस प्रकार भारत-भारतीयता से, देशप्रेम से संबंधित उनके अनेक निबन्ध हैं उनमें आधुनिक भारतीय संदर्भ, नई पीढ़ी की बेचैनी, भारतीय संदर्भ, चितवन की छाँह, राष्ट्रभाषा और समस्या, भारतीय कौन, सागर घेरे विशाल, गंगायां घोषः, नगाधि राज हिमालय, जननी जन्मभूमिश्च, माँ और धरती, देश की पहचान, भारतीयता की व्याख्या पुनः पुनः, आज के भारत की सांस्कृतिक विपन्नता, भारतीय इतिहास का एक संधिकाल, भारतीय काल प्रत्यय, भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता, भारतीय इतिहास बोध, भारतीयता की खोज, भारतीय मन का अकेलापन आदि निबन्ध प्रमुख हैं ।

समन्वयवाद

समन्वय भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है । प्रकृति-संस्कृति, जड़-चेतन, आदान-विसर्ग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग एवं योग आदि के समन्वय की भावना विद्यानिवास मिश्र जी के निबन्धों में मिलती है ।

सभी मांगलिक प्रतीकों के बारे में समन्वय भावना से मिश्रजी लिखते हैं ।

"कोई भी उत्सव होगा, हरे बाँस की पताका फहराई जोयेगी, केले के खम्भे लगेंगे, आम के पत्तों की बन्दनबार लगायी जायेगी । कलश पर पाँच वृक्षों के पल्लव रखे जायेंगे, उसके ऊपर नारियल रखा जायेगा । हरा नहीं मिलेगा तो सूखा या उसके भीतर का गोला रखा जाएगा । सुपारी की पार्वती बनेगी । दूब से हर देवता को हल्दी छिड़की जाएगी । हर चौक में कमल के पत्तों की अल्पना रची जायकी । कोई भी पंचोपचार या षोड़शोपचार पूजन बिना पुष्पांजलि के पूरा नहीं होगा । कोई भी होम नारियल की पूर्ण आहुति के बिना संपन्न नहीं होगा । किसी का भी अभिनंदन करना हो, पान-सुपारी, हल्दी, दूब, नारियल थाल में जरूर सजेंगे । कोई भी मांगलिक मण्डप बनेगा तो पलाश के पत्तों से बनेगा । हिन्दुस्तान का कोई भी गाँव अगर दूर से पहचाना जा सकता है तो अमराई, बसवारी, महुआबारी, सिस्वा नी, ताड़-खजूरों की पंक्ति, केले की पंक्ति, नारियल के पंक्ति, पाकड़ की पंक्ति या तमाल राजी की क्षितिज रेखा से ही पहचाना जाता है ।"[69]

कुम्भ पर्व को भारतीय एकता का साधन मानते हुए वे लिखते हैं - "एकता का अनुभव साधना के विभिन्न सोपानों के एक गंतव्य का दर्शन ही तो है । कुम्भपर्व का एक बड़ा लक्ष्य एकता का दर्शन है । यह एकता कोई ठोस जड़ या सिद्ध पदार्थ नहीं, यह एकता भी एक तरल प्रक्रिया है, बर्फ और जल एक है, यह पहचान बर्फ के पिघलने पर ही तो होती है । विभिन्न साधनाओं से गुजरे हुए संत जब एक दूसरे के प्रति विनम्र होकर, द्रवीभूत होकर एक दूसरे को अनुभव निवेदन करते हैं तो एकता की प्रक्रिया एक विशिष्ट प्रक्रिया हो जाती है ।"[70]

समन्वय की परिकल्पना करते हुए वे लिखते हैं - "जो समन्वय का गलत अर्थ करते हैं, वे या तो विस्तारवाद की कल्पना करने लगते हैं और मिथ्या दम्भ से पीड़ित हो जाते हैं कि हम इतने दूर-दगन्त तक अपनी संस्कृति का विस्तार किये हुए हैं 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' विश्व को आर्य बनाने का संकल्प रखे हुए हैं, या फिर घोर पराजय की भावना से पीड़ित हो जाते हैं कि हममें जो कुछ अच्छा है, दूसरों का दिया हुआ है इस्लाम न आता तो समता और सहबन्धुता हमें न मिलती, अंग्रेज न आते तो मानववादी दृष्टि न प्राप्त होती, न ऐतिहासिक चिंतन की क्षमता प्राप्त होती, न राष्ट्रीयता की परिकल्पना आती ।

ये दोनों भ्रांतियाँ समन्वय का ठीक अर्थ न समझने के कारण होती हैं । समन्वय न राशीकरण है, न एकीकरण है वह सम्यक् अर्थात् भली-भांति आत्मीय संबंध का स्थापन है जिससे हम समन्वित होते है, वह हमारा होता है, हम उसके होते हैं ।"[71]

भारतीय एकता की बात करते हैं - भारतीय होने का शायद यही चरम अर्थ है एक योगी गृहस्थ को अर्द्ध नारीश्वर का प्रेतों के बीच में शान्त और शिव को विषपायी कलाधर को आराधी, संघ मंगल होगा । हम सुहावनी एक रूपता का अब जीना पसंद नहीं करते, कम सुहावनी बहु रूपता की समंजसता जीना अधिक पसंद करते हैं । समग्रता ही हमारी एकता है । समरसता ही हमारी एकता है ।"[72]

विभिन्न धर्मों के उपासक होकर भी एक ही देश में एक ही परिवारवाले जैसे रहने का संदेश देते हैं - ''हिन्दु के भीतर भी यह भाव फिर से उभारना है और उन गैर हिन्दुओं के भीतर भी जो उदारता को अपना दायित्व नहीं मानते उन्हें बतलाना है कि आप जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख फरीद रज्जब की संतान बनने की क्यों नहीं कोशिश करते हैं और यह समझे कि आपको इस घर में रहना है, इस घर में अकेले नहीं रहना है । आपस में समझ बूझकर, एक दूसरे की विचित्रताओं का आदर करते हुए रहना है और इस देश रूपी घर की जिन विचारधाराओं, जिन अभिप्रायों ने, जिन पशु-पक्षियों, वनस्पतियों के प्रतीकों ने भली-भाँति जोड़कर रखा है उनके होकर रहो, यह कोयल, यह पपीहा, यह वसंत, यह पावस, यह रंग, यह झूला सब केलिए हैं किसी एक मजहब केलिए नहीं है । इन आवाहन केलिए बुद्धिवादियों को निर्भीक होकर संकल्प लेना चाहिए ।''[73]

इस प्रकार विभिन्न वर्ग के लोगों को तथा भिन्न-भिन्न धर्म के उपासकों को समन्वय भावना से रहकर भारतीय एकता को स्थिर रखने केलिए मिश्रजी आग्रह करते हैं ।

खण्ड - ख

मध्यकालीन संस्कृति

आध्यात्मिक एवं पौराणिक संस्कृति के पश्चात् भारतीय समाज बौद्ध धर्म से प्रभावित था, जिस धर्म के अनुसार जाति-प्रथा का खंडन किया गया था । इस समय समाज में नारी को पुनः स्थान प्राप्त हुआ था, आर्थिक दशा में भी सुधार किया गया या लोग अच्छे व्यवसाय में रत थे । किसी प्रकार से भी लोगों को सताया नहीं जा रहा था उत्तम साहित्य का प्रणयन भी हो रहा था । इसी अंतराल में अरब देशों से आये हुए मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और इनके आक्रमणों का भारत के सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा । भारतीय संस्कृति भी मुसलमानों से प्रभावित रही जिसे मध्यकालीन या मुगल कालीन संस्कृति के नाम से जाना जाता है । तलवार के बल पर भी मुसलमानों ने इस्लाम धर्म का प्रचार किया । इस संदर्भ में पंडित रघुनंदन शर्मा जी का कथन उल्लेखनीय है ।

''इनके अत्याचार और कठोर शासन, लूट और साहित्य-विध्वंस की कथा भी सभी जानते हैं। इन्होंने हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया, यह बात भी प्रसिद्ध है।''[74]

भारत मं मुसलमानों का प्रवेश सर्वप्रथम सन् 712 में हुआ। आगमन का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक रहा। इस संदर्भ में प्रो.बलदेव कृष्ण लिखते हैं - ''इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में मुसलमान जाति का आगमन मुख्यतः राजनीतिक उद्देश्य से हुआ। धर्म प्रचार के उद्देश्य से ये मुसलमान भारत में नहीं आये थे, अतएव ये भारत से लूट का माल अपने देशों में ले जाते अथवा सीमांत प्रदेश पर अपना स्वत्व स्थापित करके भारत से लौट जाते थे।''[75]

इस कार्य केलिए उन्हें भारतीयों पर अत्याचार करना पड़ता था। इसीलिए हिन्दू लोगों ने उन्हें म्लेच्छ की संज्ञा दी है। दोनों धर्मों के बीच एक बड़ी दीवार खडी होगई और परस्पर विरोधी हो गये। लेकिन इस युग में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का समन्वय भी सराहनीय रहा है। श्री सुधीशधर द्विवेदी लिखते हैं - ''इस काल में मुस्लिम और हिन्दी-कला का समन्वय भी देखने को मिलता है। समन्वय में जहाँ हिन्दू-कला की अलंकारिता को संक्षिप्त रूप दिया वहाँ मुस्लिम कला की सादगी और कठोरता को कम किया। संगीत का भी इस काल में विकास हुआ। अकबर के पश्चात् औरंगजेब के पूर्व का इतिहास सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में मुगल दरबार संस्कृति का केन्द्र था। अकबर के दीन-ए-इलाही ने सब धर्मों को एक दहलीज पर ला खड़ा किया। जाति-भेद को दूर करने की चेष्टा हुई। अंतर्जातीय विवाह के उदाहरण सामने आये। हिन्दू-मुस्लिम एकता दृढ़ हुई।''[76]

इस युग में एक ओर शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुज, निंबार्क, वल्लभ आदि धर्मिक सुधारकों का जन्म हुआ तो दूसरी ओर तुलसीदास, सूरदास, रहीम, मीरा, कबीर, नानक, दादू, नामदेव आदि साहित्यिक सुधारक भी हुए जिनका उल्लेख विद्यानिवास मिश्रजी के सांस्कृतिक

निबन्धों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं । वे अपने साहित्यों के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर विशेष प्रभाव डाला ।

मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था

मध्यकालीन समाज में पुरोहितों का प्रभावशाली वर्ग था । जिसमें हिन्दू पुरोहित तथा मुसलमान उल्मा थे । शासक वर्ग की तरफ़ से पुरोहित वर्ग को इतनी स्वतन्त्रता मिली थी कि वर्ण-धर्म तथा सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे रहे थे । उल्मा मुसलमानों के धार्मिक गुरु थे । मुस्लिम बस्तियों में उनका अच्छा प्रभाव था । एक समय उल्मा न्याय, धर्म तथा शिक्षा के सर्वोच्च अधिकारी भी थे । धर्म का अंतिम निर्णयकर्त्ता उल्मा ही होते थे ।

जाति के अंदर उपजाति-विभाजन से हिन्दू समाज में परस्पर आदान-प्रदान की संभावना समाप्त हो चुकी थी । वर्णाश्रम व्यवस्था का ढ़ांचा टूट चुका था । जातीय दबाव के कारण हिन्दुओं की स्थिति खराब हुई । मुसलमानों के संपर्क में आकर हिन्दुओं ने भी दासों को रखना शुरु किया । समाज में स्त्रियों को नीचा स्थान मिला । इस संदर्भ में वीरेंद्र मोहन लिखते हैं - "अकबर ने नारी सुधार का प्रयास किया । संपन्न वर्ग की नारियों की स्थिति बेहतर थी । लेकिन एक गरीब वर्ग की स्त्री को जी-तोड़ मेहनत-मजूरी करनी पड़ती थी इसलिए समाज में नारी का जन्म पाप माना गया । यहाँ तक पुत्री को जन्म देनेवाली स्त्री को तलाक तक दे दिया जाता था ।"[77]

इस प्रकार मध्यकालीन समाज में दिन-ब-दिन नये संप्रदाय विकसित हो रहे थे परस्पर एक दूसरे के विरोधी बन रहे थे । परंतु परवर्ती मुस्लिम शासकों ने भिन्न विचारधारा और मान्यताओं के बावजूद हिन्दू धर्म के सह अस्तित्व को स्वीकार किया । प्रो. जी.एन मेहरा लिखते हैं - "यह स्पष्ट है कि सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू संस्कृति मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रह सकी और उसने अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के प्रभावों को ग्रहण कर लिया हिन्दू संस्कृति ने भी मुस्लिम-संस्कृति पर गहरे प्रभाव डाले । इस समय के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तथा समाज के प्रत्येक स्तर पर दोनों जातियों का संपर्क आरंभ हो गया । दोनों संस्कृतियों में समन्वय होने लगा ।"[78]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि मुसलमानों की वेश-भूषा तथा आचार विचार का प्रभाव हिन्दुओं पर विशेष रूप से पड़ा । उस मध्यकालीन समाज के रीति-रिवाज, शिष्टाचार, वस्त्र आभूषण आज भी हमारे समाज में उसी प्रकार विद्यमान है जैसे उस काल में थे । बोली-रहन-सहन के ढ़ंग आदि आज भी वही है जो मुगलों के समय में थे । इस प्रकार मुगल शासन काल के बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि ने भारतीय संस्कृति को विशेषतः साहित्य, धर्म, परंपरा, मूल्य, कला, आदि को बहुत प्रभावित किया ।

मध्यकालीन साहित्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का जो काल विभाजन तथा श्रेणी विभाजन प्रस्तुत किया उसके अनुसार मध्यकालीन भक्ति साहित्य को साकार तथा निराकार अथवा सगुण तथा निर्गुण दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित किया गया है । पुनः इन शाखाओं के सूक्ष्म अध्ययन केलिए सगुण शाखा को राम काव्य तथा कृष्ण काव्य और निर्गुण शाखा को ज्ञानमार्गी तथा प्रेम मार्गी के उपशाखाओं में विभाजित किया गया ।

मध्ययुग के पूर्व सीमांत के रूप में एक ओर महाराष्ट्र में नामदेव और चक्रधर हैं, दूसरी ओर मिथिला में विद्यापति हैं और उत्तर सीमांत के रूप में हिन्दी गद्य के उदय के साथ उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्ध है जिसमें शिवप्रसाद, इंशाअल्ला, सदल मिश्र और लल्लू लाल आते हैं । इस प्रकार यह मध्ययुग छः शताब्दियों तक फैला हुआ है ।

मध्ययुग एवं उसके साहित्य के सन्दर्भ में विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं - "इस मध्ययुग को हम दो प्रकार की वृत्तियों की प्रमुखता के आधार पर पूर्व मध्यकाल अर्थात् शुक्लजी के शब्दों में भक्तिकाल और उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल कहते हैं । वैसे कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह मध्ययुग लोकमंगल युग है ।इसका पूर्व खंड लोक और लोकोत्तर को जोड़ता है और उत्तर खंड इस लोकमय हुए लोकोत्तर को रमाता है । यह तो भाव की दृष्टि से बात हुई । अभिव्यक्ति के धरातल पर मध्ययुग हिन्दी की प्रयोग समृद्धि का युग है । इस युग में उक्ति-वैचित्र्य का जहाँ उत्कर्ष है वहीं भाषा की सादगी में निहित गहराई

का भी कोई अंत नहीं है । इस युग में इस कालखण्ड में भाषा तराशी तो गई ही है पर तराशने से अधिक भाषा गुँधी इतनी गई है कि उसमें से मनचाही आकृतियाँ हाथों हाथ गढ़ ली जाए । इस युग के साहित्य में सहज संगीत प्रवणता है । शायद इसलिए यह साहित्य जन-जन में बजने केलिए है ।''[79]

मिश्रजी के अनुसार साहित्य केवल साहित्य ही होता है । यह न मध्यकालीन साहित्य है या न तो प्राचीन साहित्य है । इस बात को पुष्टि देते हुए वे लिखते हैं - ''साहित्य कई युगों को साथ बहाये चलता है उसी प्रकार जिस प्रकार कि लोक बहुत-सी बातें समोए चलता है, वहाँ पुराना नया होता रहता है, नया पुराना पड़ता जाता है । बराबर एक उथल-पुथल मची रहती है जो हमें दिया गया है, क्या हम वहीं तक हैं हम उसके आगे जा सकते हैं तो हमारा आगे जाना भी कितना दंभ है, कितनी भीतरी विवशता । इसलिए साहित्य मात्र न प्राचीन होता है न मध्यकालीन, न आधुनिक, वह साहित्य होता है ।''[80]

वे आगे लिखते हैं, ''ज्ञानश्रयी और प्रेमश्रयी, सगुण और निर्गुण ये कोटियाँ आत्यंतिक नहीं है । न कबीर, दादू रज्जब यारी आदि में जायसी, कुतुबन और मंझन की अपेक्षा प्रेम की अभिव्यक्ति कम है, न जायसी में ज्ञानपक्ष का तिरोभाव है । बहुतेरे निर्गुण कहे जानेवाले कवि सगुण भक्ति की बात भी उतने ही उत्साह से करते हैं । इसी प्रकार सूरदास और तुलसीदास जैसे सगुण के रूप में विश्रुत कवि भी 'अविगत गति कछु लखि न परै' शून्य भीति पर चित्ररंग नहीं तनु विनु लिखा चित्तेर' जैसी काव्य पंक्तियों के द्वारा निर्गुण का पक्ष रखते है । इस बात को आगे ले जाएँ तो जिसे रीतिकाल कहा जाता है, उसमें भी भक्ति की गहराई देखने मिल जाती है सीतिकाल के नख-शिख वर्णन भी जायसी आदि सूफी कवियों और सूर तुलसी जैसे कवियों की ही परिपाटी आगे बढ़ा रहे हैं । इस युग के साहित्यकार निरंतर अपने आंख और अपने कान खुले रखते थे । मनुष्य को उसके सही रूप में पहचानना चाहते थे और उसके भीतर की आवाज सुनना चाहते थे ।''[81]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि मध्ययुगीन कवियों ने तत्कालीन समाज को वस्तुनिष्ठ रूप में देखना चाहते थे । मानवीय संवेदना का साहित्य के माध्यम से उद्‌घाटन करना चाहते

थे । भारतीयता को परचानना चाहते थे इसीलिए वे लिखते हैं -''मध्ययुगीन भारतीय साहित्य पर इसकी (भारतीयता की) गहरी छाप है । वहाँ तो भारतीय संस्कृति की चर्चा भी नहीं है । वहाँ केवल 'शाबर ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाई' या साधन धाम विबुध दुर्लभ तनु' का स्वर गूँजता रहता है । इस साहित्य केलिए न कोई हिन्दू है, न मुसलमान, न गोरा है, न काला, बस वह भगवन्मय है और मस्त है, नहीं है तो बेचैन है, उसकी तीसरी स्थिति है ही नहीं ।''[82]

इस प्रकार मध्यकालीन साहित्य सभी धर्म-जाति-संप्रदाय एवं परंपरा का समन्वय रूप था, वह एक अव्यय भाव था अतः मिश्रजी लिखते हैं - ''मध्ययुगीन पश्चिमी चिंतन में वही प्रथम सिद्धांत है, तरव्युफ में वही बेखुदी की खुदी है । भक्त कवियों की भाषा में वही महाभाव केलिए चिरंतन उद्वेलन है, विराट से एकाकार होकर लघु केलिए विकलताओं में अवतरण है, राधा का कृष्ण के साथ तन्मय होकर राधा केलिए बेचैनी है और राधा मन से कृष्ण केलिए । हर बेचैनी तन्मयता लाती है, हर तन्मयता बेचैनी और यही जीवन का न चुकनेवाला रस है अव्यय रस है ।''[83]

इस प्रकार मध्यकालीन साहित्य जन मानस का साहित्य रहा । भक्तिरस प्रधान साहित्य रहा ।

मध्यकालीन धर्म: परम्परा एवं मूल्य

मध्ययुग में हिन्दू और मुस्लिम धर्म का समन्वय रूप सराहनीय रहा । इस्लाम धर्म की बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों का समावेश करने में इस्लाम धर्म प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने अथक प्रयास किया । जिस प्रकार 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' हिन्दु धर्म का मूल मन्त्र रहा उसी प्रकार 'ला इलाह इल्लिलाह' खुदा के अतिरिक्त और कोई खुदा नहीं है । अर्थात् ईश्वर एक है, यह उस धर्म का मूल मन्त्र बनगया । हिन्दू धर्म के उपासक 'पंचायतन पूजा' करने लगे तो इस्लाम धर्म के पांच सिद्धांत प्रतिष्ठित होगये जैसे कलमा पढ़ना, पांच बार नमाज पढ़ना, रोजा रखना, चकात (साल भर की आमदनी का 40 वाँ हिस्सा दान देना)

और हज्ज करना । इस प्रकार दोनों धर्म के लोग एक दूसरे के समीप आने लगे परस्पर विशेषताओं को अपनाते रहे । इसी को बढ़ावा देने केलिए तथा आपस में टकराने से बचाने केलिए अकबर ने दीन-ए-इलाही की स्थापना भी की । इसके संबन्ध में राधा कुमुद मुकर्जी लिखते हैं - "दीन-ए-इलाही कोई अलग धर्म नहीं सूफी वाद का ही एक संप्रदाय था । संपूर्ण साम्राज्य केलिए देवताओं, धार्मिक संस्कारों, यज्ञ, कृत्य नियम, अनुष्ठान तथा एक संपूर्ण, एवं सार्वभौम धर्म केलिए आवश्यक अन्य सभी बातों का निर्देश करना दीन-ए-इलाही का उद्देश्य था ।"[84]

मिश्रजी भी धर्म को व्यापक रूप में देखते हैं । धर्म के संदर्भ में उनका विचार स्पष्ट है - "जिस प्रकार धर्म 'रिलीजन' से अधिक व्यापक अर्थ रखता है, परंतु उसका पर्याय बनकर संकुचित हो गया है । वह विश्वास-समूह का एक लेबल लगा बंद पैकिट बनता जा रहा है, उसी प्रकार परम्परा भी ट्रेडिशन अर्थात् ज्यों का त्यों सौंपने का पर्याय बनकर एक विचित्र जड़वादी धारणा से जुड़ती जा रही है । धर्म का अर्थ है जो धारण करता हो, जो समस्त व्यापार का सामंजस्य अथवा समंजन हो । इसीलिए धर्म व्यक्ति, समाज, प्रकृति सबको अपने भीतर समाविष्ट करता है । उसी प्रकार परम्परा का अर्थ है 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ या उत्तरवर्त्ती, उसका अतिक्रमण करनेवाली श्रेष्ठतर उत्तरवर्त्ती 'परा' धारा । परम्परा में इस प्रकार परिवर्तन की न केवल संभावना है, बल्कि वह निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया भी है ।"[85]

इस प्रकार मिश्रजी धर्म और संप्रदाय का परस्पर संबंध दर्शाते हैं और आगे परंपरा का स्पष्ट चित्रण देते हुए वे लिखते हैं - "समाज की व्यवस्था में अनिवार्य रूप से कुछ रूढ़ियाँ होती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार भाषा के व्यवहार में रूढ़ि अनिवार्य होती है । रूढ़ियाँ समाज को एक जुट रखने में सहायक भी होती है, पर केवल रूढ़ियाँ रूढ़ियाँ ही रह जायें, तो समाज की गति अवरुद्ध हो जाती है । समाज को गतिशील बनाने केलिए जिस संकल्प और जिस प्रेरणा की आवश्यकता पड़ती है उसीका नाम है, परम्परा ।[86]

इस प्रकार मिश्रजी मानते हैं कि मध्यकालीन जीवन क्रम धर्म से अनुशासित रहा और परम्परा समन्वयवादी परंपरा रही है ।

मध्यकालीन मूल्य

मध्यकालीन में भक्ति को चरम पुरुषार्थ माना गया । मिश्रजी ने भक्ति को भाव संपर्क से पिघले हुए चित्त का प्रवाह बताया है और उस भाव प्रवाह में रस की उपलब्धी होती है साथ ही आत्मविषयक धारणायें परमात्मा के रूप में उपस्थित होती है । इस रसानुभूति को ही भक्ति का सार कहा गया है और यही मध्ययुगीन चरम मूल्य की अवधारणा बन गई है ।

भारतीय परंपरा में मूल्य विषयक विचार-विमर्श आध्यात्मिक अनुभूति को प्रकृष्टतम प्रभाव मानकर चलता है । वस्तुतः आध्यात्मिकता का मूल्य समाज के थोडे से लोगों का मूल्य बनकर रह जाता है इस संदर्भ में रोमिला थापर लिखते हैं कि - "भारतीय आध्यात्मिकता पर शायद सबसे प्रामाणिक टिप्पणी स्वयं हिन्दू परंपरा में ही मिलती है । जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष शुद्ध आध्यात्मिकता का द्योतक है ।"[87]

मध्यकाल में मनुष्य के संबंध जटिल सामाजिकता से युक्त हो गये और अलग-अलग समाजों में विकास से उसके मानवीय हित क्रमशः एक दूसरे के विरोधी भी हो गये । इस बात को पुष्टि देते हुए रमेश कुंतल मेघ लिखते हैं - "मध्यकाल में विभिन्न वर्णों के मूल्यों में फर्क आ जाता है इसीलिए शूद्र तथा अछूत सेवा भावना के साथ नियतिवाद के व्यूह में फंस गये । उनकी कर्ममय संस्कृति का अवमूल्यन उनके विरोधी वर्णों ने किया । शासक वर्ग ने शासन तथा 'राजा करै सो न्याय' को अपना धर्म माना । अतः शासित वर्ग स्वयं ही आंतरिक संघर्ष में उलझा रहा । साहित्य में कबीर और तुलसी के माध्यम से समझा जा सकता है कि एक ब्राह्मण विरोधी है और दूसरा उसका समर्थक ।"[88]

उपर्युक्त बातों से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मध्यकाल में धार्मिक मूल्य की प्रतिष्ठा हुई जिसमें मंदिर-मूर्तियों तथा मस्जिदों का भी महत्व रहा है । पूजा, अर्चना, व्रत, उपवास, रोजा, नमाज तथा तीर्थयात्रा आदि भी इनके सहयोगी मूल्य सिद्ध हुएँ । इस काल के राजनीतिक मूल्य सामंति समाज के आधार पर निर्मित हुए थे । अन्ततोगत्वा यह कह सकते

हैं कि मध्यकालीन मूल्यों की पहचान कला, साहित्य, दर्शन, संस्कृति, धर्म और राजनीति आदि दिशाओं में की जा सकती है ।

मध्यकालीन कलाएँ

भारत में कला की समृद्ध परंपरा रही है । मध्ययुग में यह कला कई बार विकास ग्रहण करती है और अपना रूप बदलती है । मुसलमान आक्रमणकारियों ने जब मंदिरों की संपत्ति को लूटना प्रारम्भ किया, तब चित्रकला का अधिक विकास हुआ तथा स्थापत्य कला को प्रोत्साहन मिला । फतेहपुर सिकरी, आगरा एवं दिल्ली के भवन इसके प्रतीक हैं । संगीत कला भी तानसेन के नाम से ही अपना नाम स्थापित कर लेती है । मध्ययुगीन कला के संबंध में प्रभुदयाल मीतल लिखते हैं - "मध्यकालीन मथुरा मंडल में प्रणयलीला के अंकन की एक नवीन प्रवृत्ति प्रचलित हुई थी उससे संबंधित प्रेमासक्त नर नारियों की विविध मुद्राओं की श्रृंगारिक मूर्तियों को यहाँ निर्मित किया गया था । मथुरा कला में इस प्रकार की मूर्तियाँ प्रायः द्वार शाखाओं में उत्कीर्ण मिलती है ।"[89]

कला शब्द के कई अर्थ है । "चंद्रमा के सोलहवें अंश को भी कला कहते हैं । और चंद्रमा की पहली कला जिसका नाम शास्त्रों में अमृता है, शिव के भाल पर अवस्थित रहती है । कला बांकी होती है और भौतिक दृष्टि से प्रायः अदृश्य होती है । कला समय का भी एक माप है, कला शिल्प रचना आदि केलिए भी प्रयुक्त होती है और उसके चौंसठ भेद गिनाये गये हैं ।"[90]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि मिश्रजी कला के विस्तृत अर्थ को स्वीकार करते हैं । मध्ययुगीन कला के सन्दर्भ में वे लिखते हैं - "भारत की मध्ययुगीन कला-साधना का उत्कर्ष भी ढलकर आया, विश्व का सम्मोहन सौन्दर्य अमृतत्व केलिए गतिशील बनकर आया, सृष्टि का रहस्य गर्भगृह के गह्वर में नीलमणि का शिवलिंग बनकर उद्भासित हुआ और विराट की कल्पना मन्दिर बनकर साकार हुई । असीम को कला की सीमाओं में बाँधने का यह प्रयत्न बेजोड़ है ।"[91] इस कथन से ज्ञात होता है कि मध्ययुग में पूर्ण रूपेण कला का विकास हुआ था ।

मध्यकालीन समाज एवं मानवीय संवेदना

इतिहास इस बात केलिए साक्षि है कि मध्यकालीन समाज कृषिप्रधान समाज रहा । वर्णव्यवस्था के नाम पर पुरोहित वर्ग का समर्थन प्राप्त कर शासक वर्ग ने समाज में एक छत्र शासन करने का प्रयास किया । जैन तथा बौद्ध जनान्दोलन समाज की वर्ग चेतना के परिणाम थे । शासक वर्ग और शोषित वर्ग के बीच विद्रोहात्मक आन्दोलन शुरु हुए । एक ओर समाज के इस द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोध के कारण सामाजिक एवं आर्थिक आन्दोलन की प्रक्रिया चल रही है तो दूसरी ओर मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्य का एक व्यापक काल खण्ड का सांस्कृतिक आन्दोलन भी शुरु हुआ जिस में कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूर का स्वर समान रूप से प्रभावित करता है । इन कवियों का यह प्रभाव उस साधना का परिणाम है, जो सहज एवं मानवीय संवेदनात्मक अनुभूतियों के द्वारा प्राप्त की गई है ।

मध्यकालीन इस सांस्कृतिक आन्दोलन की प्रक्रिया में समाज की परिस्थितियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है इस संदर्भ में वीरेन्द्र मोहन लिखते हैं - "इस विकासमान परम्परा की खोज में भक्त कवियों ने आचार शास्त्र, वेद और पुराण के स्थान पर मानवीय हित केलिए अधिक उपयोगी माना है । मानवीय संवेदनात्मक अनुभूतियों के अनुरूप भक्ति काव्य का सात्विक स्वर ज्यादा प्रबल है ।"[92]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन कवि अपना विवेक, ज्ञान तथा संवेदना के अनुरूप उन तथ्यों की व्याख्या प्रस्तुत किये हैं जिन्हें मानवीय हित केलिए आवश्यक स्वीकारा गया है ।

विद्यानिवास मिश्रजी अपने निबन्धों में कबीर, तुलसी, ज्यायसी, रैदास, विद्यापति, मीरा, जयदेव आदि कवियों के संघर्षमय चरित्रों के चित्रण करते हुए मानवीय संवेदना का उल्लेख किया है । उनके अभिमत में कबीर का विद्रोही स्वर सबसे तेज है । वे अपनी वर्गीय बनावट के अनुरूप यदि पुराणों को त्याज्य बताया है, तो विवेक सम्मत ज्ञान को स्वीकृति भी दी है । तुलसी के राम का संपूर्ण जीवन ही निर्वासित मनुष्य की संघर्ष गाथा हो गया है । सूर के कृष्ण भी अपने मनुष्य के रूप में अन्याय के मूर्त विरोधी-चरित्र है । जायसी का रत्नसेन

अपने प्रेम मार्ग की सफलता केलिए संघर्ष-यात्रा को श्रेष्ठ समझता है तथा प्रेम केलिए अंत में शहीद तक हो जाता है ।

इस प्रकार मध्ययुग में प्रेम-भक्ति, सत्संग, विवेक आदि मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ मानवीय संवेदना के प्रति आस्था तथा जिजीविषा को प्रबल बनाने का सफल यत्न रहा ।

मध्यकालीन संस्कृति के अन्य तत्व

मध्ययुग में सामंती समाज व्यवस्था में समाज एवं संस्कृति इन दोनों का द्वन्द्वात्मक संबंध है । यद्यपि समाज में बहुत से परिवर्तन आगये थे परंतु भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन मान्यताओं से पूरी तरह मुक्त नहीं हुई थी । तुलसी ने प्राचीन संस्कृति की पुनस्थापना की है जब कि कबीर प्राचीन संस्कृति को अस्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने मध्यकालीन संस्कृति के गुण-दोष, उसके विकास-पतन आदि का विस्तृत वर्णन किया है । विद्यानिवास मिश्रजी के निबन्धों का अध्ययन से यह विदित होता है कि वे मानते हैं जो पूर्व मध्यकाल के मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ की वस्तुओं को तहस-नहस करना तथा उन्हें अपने साथ लेते जाना अपना उद्देश्य बनाया था । परंतु उत्तर मध्यकाल के लोगों ने उदार दृष्टिकोण अपनाया और इसी कारण दोनों का समन्वय रूप तब से लेकर आज तक मध्यकालीन संस्कृति के रूप में प्रवहमान है ।

खण्ड - ग

आधुनिक संस्कृति

भारत वर्ष में बाहर से अनेक जातियाँ आगई और सब ने इस देश की संस्कृति के ऊपर अपनी-अपनी संस्कृति का प्रभाव डाला । भारत सदा उनकी संस्कृति से प्रभावित रहा और इतने व्याघातों के पश्चात् भारतीय संस्कृति में जो परिवर्तन हुआ वही आज आधुनिक संस्कृति के नाम से प्रख्यात होगया ।

उत्तर मध्यकाल के पश्चात् भारत में डच्, पुर्तुगाली, अंग्रेज, फ्रान्सीसी आदि विदेशी लोग आएँ । अठारहवीं सदि के उत्तरार्ध में यहाँ अंग्रेजों की शक्ति बढ़ी और उस समय भारत शक्तिशाली नहीं था । इस मौके का लाभ उठा कर अंग्रेज भारत में आगए और व्यापारी से शासक बनगए । वे यहाँ की संस्कृति को प्रभावित करने केलिए सर्वप्रथम शिक्षा में परिवर्तन करना आवश्यक समझे । साथ ही ईसाई धर्म का प्रसार एवं प्रचार करना आरंभ किया । इस संदर्भ में विश्वम्भर सहा प्रेमी लिखते हैं कि "अंग्रेजों ने भारत के इतिसास को भी विकृत रूप में रखकर भारतीयों की गौरवपूर्ण ख्याति को आघात पहुँचाया । उन्होंने वैदिक धर्म पर भारतीयता के विरुद्ध अविश्वास और असंतोष उत्पन्न करके भारत के शिक्षित वर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया ।"[93]

वे आगे लिखते हैं - "मुस्लिम शासन की समाप्ति पर जब अंग्रेज इस देश के स्वामी बन गए तब उन्होंने भारत में ईसाई धर्म को अनेक प्रकार से विस्तार देने का यत्न किया । उन्होंने भी भारत के साहित्य को दूषित करने का भरसक प्रयास किया । अंग्रेजों ने इस बात को अनुभव कर लिया था कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार जोर-जुल्म से नहीं किया जा सकता । उन्होंने इस केलिए अन्य साधन अपनाया । उन्होंने भी मुसल्मानों की तरह यहाँ के साहित्य और धार्मिक ग्रन्थों में मिश्रण कराया ।"[94]

आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव सर्वप्रथम शिक्षा पर ही पड़ा । अंग्रेजी शासकों की विचारधारा यह थी कि शिक्षा में परिवर्तन लाने से समाज एवं साहित्य में भी परिवर्तन हो जाता है । इस संदर्भ में डॉ.ब्रजनाथ सिंह यादव लिखते हैं - "स्कूलों तथा कॉलेजों की अंग्रेजी शिक्षा की कारण लोगों के विचारों, दृष्टिकोणों तथा रहन-सहन में परिवर्तन आने लगा । अंग्रेजी साहित्य पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास के अध्ययन से लोगों के विचारों में क्रांति आरंभ हुई । स्वतंत्रता, समानता और राष्ट्रीयता की भावनाओं तथा आलोचनात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय होने लगा ।"[95]

इस कथन से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में पाश्चात्य संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ने लगा जो की कालांतर में बड़ता ही गया । इस के कारण हमारी परंपरागत संस्कृति के स्थान पर एक नई संस्कृति विकसित हुई । इस ने हमारे विचार, रहन-सहन और खान-पान में परिवर्तन किया । बाह्य रूप से प्रगति तो हुई है लेकिन आंतरिक रूप से हम टूट एवं बिखर रहे हैं । पाश्चात्य संस्कृति से हम पद से हट कर स्व तक केंद्रित हो गए । यहाँ स्व की भावना इतनी प्रबल होती जा रही है कि हमारी पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था चरमराकर टूट रही है ।

साहित्य एवं समाज

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आये हुए यूरोप के अनेक देशवासियों ने अपनी पाश्चात्य संस्कृति के द्वारा भारतीय समाज को कई रूपों में प्रभावित किया और यहाँ के जनजीवन में अच्छाइयों और बुराइयों का समावेश किया । लोकतंत्र का विकास किया । साम्यवाद और व्यक्तिवाद के सिद्धांत बढ़ने लगे । समाज में भौतिकवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्डों का खंडन होने लगा । धर्म पर श्रद्धा कम होने लगी कुछ लोग ईसाई धर्म अपनाने लगे । वैज्ञानिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होने लगे । नारियों की उच्छृंखलता के कारण तलाक प्रथा को प्रेरणा मिली ।

इसी अंतराल में भारत के कुछ बुद्धिजीवियों ने अपनी साहित्यिक साधना के द्वारा भारतीय संस्कृति को पुनः स्थापित करने का यत्न किया । समाज में यह परिवर्तन लाने केलिए साहित्यकार की भूमिका के बारे में चर्चा करते हुए विद्यानिवास मिश्रजी ने लिखते हैं - ''समाज शब्द मनुष्य केंद्रित पश्चिमी चिंतन के दबाव से इतना छा गया है कि लोक भूल गया है । भरत के नाट्यशास्त्र में सामाजिक का अर्थ सीमित है, सामाजिक वह सहृदय है जो अभिनीत पदार्थ के द्वारा नाट्यकार के अभिप्राय से अपना तादात्म्य स्थापित करता है । सामाजिक का अर्थ जनसाधारण नहीं है । अब चूँकि यह शब्द और यह विचार की मनुष्य सामाजिक प्राणि है, इतना अभिभूत कर चुका है आधुनिक मन को, साहित्य की समाज परिवर्तन में क्या भूमिका है इस प्रश्न पर कुछ विचार करना भी प्रयोजन से जुड़ जाता है ।''[96]

दर असल प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् पाश्चात्य विचारकों का प्रभाव भारतीय समाज और साहित्य पर विशेख रूप से पड़ा । जहाँ मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था को लेकर क्रांतिकारी परिवर्तन की बात की तो वहाँ पर फ्रायिड ने मनुष्य के मन के विज्ञान को जानने, समझने पर बल दिया । इन दोनों के प्रभाव के कारण हमारी परंपरागत व्यवस्था और विचारों को काफ़ी धक्का लगा । फलस्वरूप मानवीय मूल्यों का हनन होने लगा । विद्यानिवास मिश्रजी ने समय की इस धडकन को अच्छी तरह समझा और अपने निबेधों में समाज और साहित्य के संबंधों को ठीक तरह से रेखांकित किया । ये दोनों एक दूसरे के पूरक है । साथ ही एक दूसरे को बनाने और बिगाड़ने में सहायक भी । इसीलिये यहाँ रचनाकार का दायित्व बढ़ जाता है । मिश्रजी ने इस भूमिका को समझ कर भारतीयता को साहित्य के माध्यम से समझने का प्रयास किया ।

आधुनिक भौतिकतावाद

आधुनिक संस्कृति मुख्य रूप से पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है । यह पाश्चात्य संस्कृति भौतिकतावादी है । हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार प्रेमचंद ने पश्चिमी सभ्यता की दुष्प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करते हुए भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की स्थापना की और महात्मा गांधी के समान पश्चिमी संस्कृति की भौतिकता, विलासिता, स्वार्थपरता, यांत्रकता आदि को मानवीयता के अनुकूल नहीं पाया और लिखा है, "भौतिकता पश्चिमी संस्कृति की आत्मा है ।"[97]

इसी संदर्भ में डॉ. कृष्णचन्द्र पाण्डे लिखते हैं - "पश्चिमी बेइमानी, धोकाधडी, मक्कारी बनावट, हिपोक्रसी आदि इस पश्चिमी सभ्यता की ही देन हैं ।"[98]

डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं, "आधुनिक शब्द से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह है इहलौकिक दृष्टिकोण । धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ । मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक अच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क

होगया । आधुनिकता की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ । उनकी मूल विचारधार इहलौकिक ही है । सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है । आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई, ब्रज भाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली ।''[98]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि नगेन्द्रजी के अनुसार पारलौकिक दृष्टिकोण से इहलौकिक दृष्टिकोण की ओर जनमानस में जो परिवर्तन हुआ उसी का नाम आधुनिकता है । आधुनिकता वस्तुतः काल की चेतना है । मिश्रजी आधुनिकता को एक निरंतर सजगता मानते हैं । यह सजगता मानव के परिवेश के प्रति होती है । अपने समाज के प्रति होती है, समाज द्वारा तय की यई राह की प्रति होती है और अपनी अपनी क्षमता एवं अक्षमता के प्रति होती है । इन सभी बातों को ध्यान में रखकर मिश्रजी आधुनिकता के संदर्भ में लिखते हैं - ''प्रायः लोगों को लगता है कि आधुनिकता के अर्थ है मूल्यहीनता । इस हद तक तो यह बात सही है कि आधुनिकता किसी माने जाने मूल्य की हीनता पहचान लेती है और ऐसे हीन मूल्य के फरेब से छूटना चाहती है ।''[99]

उपर्युक्त कथनों का अवगाहन करने से यह विदित होता है कि भारतवर्ष में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया, नई अर्थव्यवस्था, नूतन शिक्षाप्रणाली, नया संचार-जाल आदि परिवर्तन हुआ जिसे आधुनिकता का नाम दिया जाता है । इस आधुनिक ज्ञान-विज्ञन ने मनुष्य को बहुत कुछ बुद्धि-सम्मत बना दिया था जिसका संबंध औद्योगिकीकरण, नगरीकरण आदि भौतिकतावाद से रहा है । फलस्वरूप देश में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ । पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियाँ धर्मग्रन्थों में निर्धारित की गई थी उनकी प्रामाणिकता की बात सामने आने लगी । इस संदर्भ में मिश्रजी लिखते हैं - ''काल के निरवधि शाश्वत आयाम में और आधुनिक इतिहास की सतही समयबद्धता में अब भी एक साथ जी सकते हैं, उनकी आधुनिकता इतिहास के त्रास की पहचान में नहीं । आधुनिक समाज व्यवस्था और आधुनिक यंत्र उद्योग की उपजाई टूटन में, जुड़ाव की पहचान में प्रमाणित होगी ।''[100]

यदी हम ईस भौतिकतावाद के मूल तत्वों को संश्लिष्ट दृष्टि से देखे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यह पारलौकिकता तथा इतिहास की प्रचलित प्राविधियों की विरुद्ध एक ऐसी सोच है जिसने आधुनिक युग को अत्यधिक प्रभावित किया है । इस आधुनिक भौतिकतावाद के प्रभाव के कारण साहित्यिक और सांस्कृतिक सोच को विस्तार मिला और कई नई प्रवृत्तियों का प्रचलन शुरु हुआ ।

राजनीति, जाति-धर्म और सम्प्रदाय

आज़ादी के पूर्व राजनीति, जाति-धर्म और सम्प्रदाय की अवधारणा अलग थी । आज इसके स्वरूप में अनेक विकृतियाँ आगई हैं । राजनीति मूलतः सेवा एवं त्याग की भावना से हट कर स्वार्थ और सत्ता सुख तक केंद्रित होगई है । राजनेता समाज को जाति-धर्म औस सम्प्रदाय में बाँट कर सत्ता की राजनीति कर रहे हैं । समस्याओं का निराकरण न करके यथा स्थिति बनाये रखना चाहते हैं देश की दशा-अवदशा की चिंता न करके स्वयं की चिंता की जा रही है । इसका प्रभाव जनमानव पर भी पड़ रहा है । लोगों की धार्मीक भावनाओं को उभार कर राजनीति की ज रही है । इन बातों से दुःखी होकर विद्यानिवास मिश्रजी कहते हैं कि "राजनीति को धर्म से दूर किया जा रहा है जिस देश में राजनीति धर्म पर आश्रित नहीं, स्वयं धर्म रही है और राजधर्म धर्म का अंग रहा है, वहाँ विश्व की गती को मंगलमय दिशा में संचलित करनेवाला धर्म उपेक्षणीय हो जाय । यह कितनी बड़ी विडंबना है !"[101]

मिश्रजी का मानना है कि राजनीति भी धर्म का एक अटूट अंग है । समाज को सन्मार्ग पर ले जानेवाला पथप्रदर्शक भी है । लेकिन आज राजनीति जाति-धर्म संप्रदाय के झंझावात में झूम रही है । मिश्रजी इन जाति-धर्मों का एक ही समन्वय रूप मानवीय धर्म को मानते हैं । वे भारत के इस दुर्दशा को देखकर लिखते हैं - "परिवार में दो सदस्य के विचार अपग होते हैं । स्वभाव अलग होते हैं । पर उनका घर एक होता है । घर का मोह एक होता है । यह न बतला कर हम निरंतर यही सुनते हैं कि हिन्दू-मुसल्मान दो संप्रदाय है, इन में सद्भावना होनी चाहिए । जो दोनों के साथ जीने की ऐतिहासिकता से अधिक मानवीय विवशता है उस पर हम बल नहीं देते । क्योंकि वह कहेंगे तो राजनीति कैसे चलेगी । हम सेक्यूलरवाद

के आराधक होगए हैं, बिना जाने की सेक्यूलर वाद मजहबी संस्थाओं के अधीन राज्यसंस्थाओं के विरोध में जन्मा जब की हमारे देश की बुनयाद ही इस पर है कि धर्म सभी मजहबों का, जाति-मतों का ध्यान रखता है वह इनसे ऊपर है । इनके बीच का संवादसूत्र बनाए रखता है । यह धर्म न इस्लाम है और न हिन्दू, न आस्तिक है, न नास्तिक, न वैष्णव, न बौद्ध । वह मानव धर्म है ।''[102]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि आज के नेता मानवीय विवशता की ओर नहीं देखते हैं । केवल अपने स्वार्थ केलिए तथा राजनीति चलाने केलिए सेक्यूलर वाद का नारा लगाते हैं । यह राजधर्म किसी मजहब के अधीन नहीं है । इन सभी जाति-मत संप्रदायों से बढ़ कर मानव धर्म है । इस बात की पुष्टी करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''धर्म न जाती है, न मन्दिर, न संप्रदाय, न मत, न वेष, न टीका, वह जीवन का जागृत भाव है ।''[103]

धर्म और संप्रदाय का रिश्ता भी अटूट एवं अन्योन्याश्रित है । वे दोनों परस्पर सापेक्ष रखते हैं । इन दोनों के संबंध के संदर्भ में मिश्रजी लिखते हैं - ''संप्रदाय धर्म का आवश्यक अभिलक्षण है और यह अभिलक्षण माँग करता है कि धर्म कभी दृष्टि से ओझल न हो । बराबर सामने रहे कि हमे अपना संप्रदाय प्रिय लगता है, बार बार यहाँ लौटने की इच्छा होती है तो दूसरे को भी उसका घर अच्छा लगता है । हम दूसरे से जुड़े हैं, इसीलिए की हम दोनों को घरों से लगाव है । घरूपन से दोनों का सरोकार है । इसीलिए संप्रदाय रहे, संप्रदाय धर्म के, व्यापक धर्म के परिचालन केलिए रहे, धर्म की प्रतीति केलिए रहे और मनुष्य के भाव की आस्तिकता को प्रमाणित करने केलिए रहे । तब संप्रदाय एक दूसरे के विरोधी नहीं होंगे, संप्रदाय संप्रदाय के प्रतिस्पर्धा नहीं होंगे, संप्रदाय संप्रदाय के रस्मी तौर पर हमरा ही या फेलो ट्रेवलर भी नहीं होंगे । बस, वे विशाल होने के प्रवाह में सहायक, प्रेरक और नियामक होंगे ।''[104]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि संप्रदाय धर्माचरण का चौखटा है । मिश्रजी संप्रदाय के संबंध में मानते हैं कि जो हमे समष्टि रूप में दिया गया है, जो हमे अपनी परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करता है वही संप्रदाय है । भारत में अनेक संप्रदाय विद्यमान

है । शैव, वैष्णव और शाक्त जैसे संप्रदाय है, वैसे ही बौद्ध, जैन, सिख, ईसाई, यहूदी, मुस्लिम जैसे संप्रदाय भी हैं ।

अंततः यह कह सकते हैं कि राजनीति जाति-धर्म इस सबसे बढ़ कर मानव धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है ।

मूल्य विघटन

बीसवी सदी के पूर्वार्ध में भारत वर्ष में स्वच्छंदतावाद, साम्यवाद, समाजवाद और व्यक्तिवाद के सिद्धांतों का प्रचलन बडने लगा । भौतिकतावाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकांडों का खंडन होने लगा, धर्म पर श्रद्धा कम होने लगी । विज्ञान ने सब को चका-चौंध कर दिया, नारियों की उच्छृंखलता के कारण तलाक प्रथा को प्रेरणा मिली, बाह्याडंबरों का विकास हुआ । भारतीय जनमानस में भाषा प्रेम, देशप्रेम, भाई-भतीजावाद आदि मानवीय रिश्तों में बिखराव आने लगा । फलस्वरूप यहाँ के जनजीवन में बुराईयों का समावेश हुआ । इस प्रकार के सांस्कृतिक विघटन होने में भाषा को मुख्य कारण मानते हुए मिश्रजी लिखते हैं - "सांस्कृतिक विपन्नता का पहला कारण तो यह झूठी धार्मिक ज़िंदगी है, और दूसरा कारण है भाषा की प्राचीर, जो इस ऊँचे वर्ग और साधारण आदमी के बीच में खड़ी कर दि गई है । यह प्राचीर पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में काफ़ी ऊँची और पुख्ता कर दी गई है । अवच्छेदकावच्छिन्न भाषा में श्स्त्रों का प्रतिपादन करनेवाले अलौकिक संस्कृति पंडित भी शिष्यों तक अपनी बात पहुँचाने केलिए भोजपुरी, मैथिली, अवधी का प्रयोग करते थे और अपने आस-पास की लोकजीवन से उदाहरण लेकर कार्य-कारणवाद की गंभीर मीमांसा करते थे, घट-पट, कुलाल-तंतुवाय, मिट्टी-कपास, बार-बार अपनी शास्त्र चर्चा में लाते रहते थे । वस्तुस्थिति यह है कि हमारी भाषा दुराव से घिरी हुई है और हमारी संस्कृति इस दुराव से घुट रही है ।"[105]

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि आज भाषा की असर पूरी सामाजिक चेतना पर पड़ रहा है । एकी शहर में रहते हुए भी लोग अलग-अलग भाषा बोलते हैं, अलग-अलग ढ़ंग से सोचते हैं । इस समस्या का समाधान केवल हिन्दी भाषा ही कर सकती है । यही मिश्रजी

की कामना है । भाषा के मूल प्रयोजन की बात करते हुए वे लिखते हैं - "मूल प्रयोजन है कि दो भाषाएँ जुदा-जुदा रहें । एक भाषा उसकी जो चलाता है चलता नहीं, दूसरी उसकी जो चलता है पर कभी उसने चलाने की चाल नहीं सीखी ।"[106]

इस प्रकार भारत में सांस्कृतिक मूल्य विघटन में भाषा का भाषा का हस्तक्षेप सर्वोपरि दिखाई देता है ।

हमारे देश में सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन होने में एक और मुख्य कारण यह है कि लोगों के मन में देशप्रेम, राष्ट्रीयता का गौरव आदि भावना क्षीण होती जा रही है । इस संदर्भ में मिश्रजी का कथन है - "सांस्कृतिक विपन्नता का एक कारण है, आज के हिन्दुस्तानी का असमसामयिक होना । हमारे देश के साथ सबसे बड़ी ट्रेजड़ी यह हुई कि राष्ट्रीयता की संकल्पना ही अतीत के गौरव पर हुई या फिर एक सुनहले भविष्य की स्वप्न पर । हममें से कोई भी यह भूलना चाहता कि यह देश सारे संसार का गुरु रहा है और हममें से हर एक यह आशा लगाए हुए हैं कि एक महापुरुष पैदा होगा, वह हमें फिर नया जीवन, नई शक्ति दे देगा ।"[107]

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि समूचे राष्ट्र में भारत की एक आदर्श संस्कृति है जिसे विशेष गौरव भी है । इस गौरवान्वित देश में रहनेवाले सभी लोगों को यह सोचना चाहिए कि अपना उद्धार स्वयं करें । जब व्यक्ति सुधरेगा तो समाज सुधरता है, समाज से राष्ट्र, राष्ट्र से विश्व । तब भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र 'विश्वभवत्येकनीढम्' को बल मिलेगा । आज सारे विश्व में तनाव फैला हुआ है । संस्कृति का पतन हो रहा है, भाई-भाईयों नें विश्वास नहीं रहा है । माता-पिता, आचार्य-अतिथि के प्रति आदर-सम्मान की भावना श्रीण हो रही है । लोग अहिंसा से निवृत्त होकर, हिंसा की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं । प्रत्येक मानव के भीतर भय की भावना छा गई है । केवल आधुनिकता की अंधानुकरण प्रक्रिया सर्वत्र चली आ रही है । इस प्रकार के आज के समाज की अवदशा का चित्रण करते हुए मिश्रजी कहते हैं कि "आज का विश्व मानव कुछ ज्यादा वयस्क हो चुका है और इसीलिए उसे चारों ओर भय दिखाई पड़ता है । कौन कीटाणु कहाँ मिल जाय कुछ ठिकाणा नहीं, कौनसा ज़हर हो, कौन

कब मुझसे अधिक शक्तिशाली हो जाय, कौन मुझसे अधिक दूर की कौडी ले आए, कौन व्यवसाय में मुझसे अधिक आगे चला जाय हर एक ऐसी स्थिति मृत्यु है और मृत्यु बड़ी भयावह है । मृत्युभय से भागने केलिए वह मादक द्रव्यों का सेवन करता है, अनियंत्रित इन्द्रिय भोग में प्रवृत्त होता है पर उसे लगता है यह तो और भयावह मृत्यु है । समाज से बाह्य होकर इस प्रकार समुद्र के बलुहे तटों पर अपने को एकदम खाली बोतल की रह फेंक देना यह और भयावह है ।''[108]

इस प्रकार आज हम जिस परिवेश में जी रहे हैं, जिस संस्कृति का अनुकरण कर रहे है, उसे रूपहली कहते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''हम जिस समय में जी रहे हैं, जिस संस्कृति में तिर रहे हैं वह रूपहली कही जाती है । शायद इसीलिए बिजली की रोशनी ने रात में भी उजाला कर दिया है, शायद इसीलिए कि चांदी के न सही निकल के सिक्कों से, निकल के भी न सही कागज़ के सिक्कों से हर जीज़ मिल जाती है । सुख, शांती, ध्यान सब इस सिक्कों से खरीदे जा सकते हैं ।''[109]

बीसवी शती के उत्तरार्ध में अर्थ केन्द्र में आ गया और इसके कारण मूल्यों का विघटन बहुत तेजी से हुआ । भौतिक संसाधनों की उपलब्दी को सामाजिक गीरमा से जोड़ा गया जिस के फलस्वरूप लोगों में येन-केन प्रकारेण धनप्रवृत्ति की भावना का विकास हुआ । त्याग, परिश्रम, निष्ठा एवं ईमानदारी के स्थान पर भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, घोटाला एवं हवाला की संस्कृति का उदय हुआ ।

आज हम पुराने मूल्यों को नए परिवेश की कसौटि पर कसते हैं तो हम देखते हैं कि अभिवादन की स्वरूप में किस तरह का बदलाव आया है । ''अब अभिवादन में विपर्यास हुआ हैस कोई भी किसी के भी पैर छू सकता है, अपने बाप को भी लट्ठमार नमस्ते दाग सकता है, लड़कियाँ हॉय, हल्लो से अभिवादन करने लगी है और पश्चिम की देखा देखी अब तो शहरी स्त्रीयों मे ही गालों पर चुंबन का अभिवादन चल रहा है । पर जिस प्रगाढ़ आत्मीयता से लम्बे अरसे का बाद मिलनेवाली गाँव की महिला को दोनों बाँहों में भर कर सजलनयन भेटती थी और सजल मौन के बाद कुशल प्रश्न पूछती थी वह अब लुप्त होती

जा रही है । उसके साथ-साथ जीवन का रस सूखता जा रहा है क्योंकि हडबड़ी के चुम्बन में वह गहरी अभिरुचि नहीं उतर पाती जो भर अंकवार आलिंगन में उतरती है ।''[110]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि आज के परिवेश में नर की अपेक्षा नारी में अधिक परिवर्तन आया है । आज के संस्कृति में पुरुष से ही अधिक महत्व नारी को है । इस बात को स्पष्ट करते हुए मिश्रजी लिखते हैं -''हमारी संस्कृति पुरुष चित्त से अधिक महत्व नारी चित्त को देती आयी है क्योंकि वह करुणा को सबसे बड़ा मानवीय मूल्य मानती आई है । करुणा की साधनावस्था में ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता होती है ।''[111]

यहाँ पर मिश्रजी का मानना है कि आज संस्कृति मानवीय संवेदना से उद्भूत है और परिवेश भी बदल गया है किंतु मनुष्य और उसकी आत्मीयता उतने ही मूल्यवान् है जितने प्राचीन संस्कृतियों में दिखाई देती थी । आज वह समय आ गया कि हमें ईस मूल्य संस्कृति की मूल्यवत्ता को पहचाननी है और उसकी सहज हार्दिकता का मर्म को समझना है । इसीलिए मिश्रजी लिखते हैं - ''हमें अगर अस्तित्व का बिखराव रोकना है, हमें विश्व के एक गतिमान संघटक के रूप में उभरना है तो समृद्धि और संस्कृति के वास्तविक रूप को पहचान कर दोनों के बीच तालमेल बिठलाना ही होगा । तभी समृद्धि एक नई पराधीनता नहीं होगी और संस्कृति एक नियति की वस्तु नहीं रहेगी, जिसके टुकड़े करके बेचे जायेंगं और बारह जा कर जो कुशल हाथों से जोड़ी जाएगी ।''[112]

मिश्रजी की इन सभी अवधारणों को ध्यान में रखते हुए यह कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का रूप समाहित हो गया है । और इस से वह अपने रूपरेखा बदलती हुई सी प्रतीत होती है, लेकिन फिर भी वह अपनी मूल्यवत्ता को वैसे ही रखने में सफल रही जैसे प्राचीन एवं मध्ययुगीन संस्कृति में थी । इस संदर्भ में डॉ.रामजी उपाध्याय का कथन उल्लेखनीय है । वे लिखते हैं - ''भारत में आज भी प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, धर्म, आचार-व्यवहार तथा कला की परंपराएँ अपने प्राचीन रूप में देखी जा सकते हैं । प्राचीन संस्कृति प्रधानतः अपने मौलिक रूप में और साथ ही इस्लामी और अंग्रेजी संस्कृतियों को अपनाती हुई आज भी जीवित है ।''[113]

भारतीय सांस्कृतिक एकता पर जोर देते हुए भूतपूर्व प्रधानमंत्री पं.जवाहरलाल नेहरु लिखते हैं - "आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं, जो केवल राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृकित एकता केलिए भी प्रयास कर रही है ।"[114]

भारतीय संस्कृति के समन्वय रूप की सराहना करते हुए मैथिली शरण गुप्त जी ने लिखा है -

"पूर्व-पश्चिम अब दूर नहीं, भाग्य क्या यह भरपूर नहीं,
स्वार्थ फिर भी अब क्रूर नहीं, क्षार ही लगा कपूर नहीं,
उचित है जहाँ मिलन का हर्ष, वहीं भय संशयमय संघर्ष ।"[115]

इसी प्रकार महर्षी दयानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, आचार्य विनोबा भावे आदि लोगों ने भारतीय आधुनिक संस्कृति के समन्वय रूप की स्वीकृति देते हुए उसके विकासात्मक रूप के ग्राह्यता को उत्प्रेरित करने में सफल रहे ।

आज़ादी के बाद के चिन्तकों एवं साहित्यकारों में विद्यानिवास मिश्र ने अपनी एक खास पहचान बनाई है क्योंकि इन्होंने परंपरा का न तो पूर्ण रूप से परित्याग किया है और न तो आधुनिकता को पूर्ण रूप से आत्मसात । मिश्रजी दोनों को महत्व देते हुए आपस में सामंजस्य की बात करते हैं ।

खण्ड - घ

लोक संस्कृति

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साहित्य की विषय वस्तु के केंद्र में मुख्यतः समाज एवं गाँव के जीवन को चित्रित करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ जो कि कालांतर में मुंशी, प्रेमचंद के साहित्य में देखा जा सकता है । लोकजीवन के चेतना एवं उसकी संस्कृती को धर्म, राजनीति और साहित्य के व्यापक फलक पर चित्रित करने का प्रयास भी हुआ, लेकिन

भौतिकता एवं पूंजीवादी व्यवस्था के बढ़ते चरण के कारण हमारे लोकजीवन की संस्कृति की गरिमा क्षीण होने लगी ।

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति की आत्मा उसके लोकजीवन में ही निहित होती है । इसकी क्षीणता का आभास होते ही कलाकारों, साहित्यकारों, चिन्तकों एवं मनीषियों की चेतना जागृत हो उठती है । भारतीय परंपरा और संस्कृति तथा लोकजीवन के चितेरे विद्यानिवास मिश्रजी ने भौतिक संस्कृति की अनुगूंज को अच्छी तरह समझा और उसके बढ़ते हुए प्रभाव से कि कही हमारी लोकसंस्कृति गायब न हो जाय । इसीलिए वे उसके विभन्नि पहलुओं पर विचारमंथन करना शुरु कर दिए । मिश्रजी की प्रारंभिक रचनाएँ लोकजीवन की चेतना से ओतप्रेत हैं ।

विद्यानिवास मिश्रजी ने इस लोक शब्द को फोक का पर्याय माना है । पर लोक में परंपरा की कुछ स्पष्ट अवधारणाएँ हैं जिनके कारण लोक एवं संस्कृति उन केलिए कोई अलग-अलग चीज नहीं है । लोक शब्द के विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं, "लोक शब्द के अर्थ जगत् पर जब हम विचारते हैं तो यह मिलता है कि यह शब्द लोक धातु से निकला है । देखने के अर्थ में प्रयुक्त है, लोक देखना है और देखा हुआ भी है । लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगत् और उसके बाद उसका अर्थ मुक्त विचरण भी है । इसी कारण विकसित अर्थ है विश्व, तीन या सात या चौदह लोकों में विभक्त हैं । उत्तर वैदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ हुआ पृथ्वी लोक और उसके निवासी या फिर इसका अर्थ सामान्य जीवन, सामान्य भाषा हुआ । लौकिक का अर्थ इन्द्रिय गोचर जीवन से संबद्ध हुआ ।"[116]

लोक संस्कृति के संदर्भ में डॉ.रवींद्र भ्रमर लिखते हैं - "लोक संस्कृति उन असभ्य और अशिक्षित समझे जाने वाले मनुष्यों के प्राणों का स्पंदन होती है, जो वहाँ की जनसंख्या का विशाल अंग होते हैं । इन्हीं तथा-कथित अशिक्षितों और असभ्यों के सामाजिक जीवन के विविध पहलू, सामूहिक और पारिवारिक जीवन में बहुरंगी चित्र अपनी अटूट परंपरा के

कारण उन तत्वों का रूपधारण कर लेते हैं जिन्हें लोक तत्व कहा जाता है । और जिनके योग से लोक संस्कृति का निर्माण होता है ।''[117]

शब्दकोशों में लोक शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं जिन में से साधारणतः दो अर्थ प्रचलित हैं ''एक तो वह है जिस से इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है और दूसरा अर्थ लोक का होता है सामान्य जन । इसी का तद्भव रूप लोग है ।''[118]

उपर्युक्त कथनों से यह विदित होता है कि लोक संस्कृति लोकजीवन पर आधारित होती है । ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर होते हैं । एक को जाने बिना हम दूसरे को अच्छी तरह नहीं समझ सकते । यहाँ संक्षिप्त रूप में मैंने संस्कृति के चर्चा की है क्योंकि इसकी विस्तृत चर्चा इसी शोध प्रबंध के चौथे अध्याय में हो चुकी है । इसीलिए यहाँ पर विशेष रूप से लोकजीवन को ही महत्व रख कर विविचन प्रस्तुत किया गया है ।

लोकजीवन

विद्यानिवास मिश्रजी के निबंधों में हमें भोजपुरी लोक संस्कृति के प्रति उनका अनुराग, ग्राम्य जीवन की सुकुमारता आदि के दर्शन होते है । लोकजीवन एवं भोजपुरी लोकगीतों के प्रति एक विशेष आग्रह इनके निबंधों में विद्यमान है । 'बेचिरागी गाँव' नामक निबंध में लोकजीवन की शोचनीय दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है जिस में उन्होंने कहा है कि ''मेरी यह मलिन आत्मा, मेरा यह अपरूप वेष, मेरी यह क्षीणता, तुम्हारी निःशक्तता, अशुचिता और कांतिहीनता की ही प्रतिच्छाया है । तुम्हारी ही यह अर्जित विकृति है, तुम्हीं इस जाली को समेट सकते हो । यह पुकार मेरे जैसे न जाने कितने हतभाग्य लोगों ने सुनि होगी और किंकर्तव्य विमूढ़ हो कर चुप हो गए होंगे ।''[119]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि लेखक लोक संस्कृति के उद्धार करताओं की दम्भभरी प्रचेष्टाओं से व्यथित हो कर अपना भाव व्यक्त करता है । 'गवँई गाँव के गोसाई शिवबाबा' नामक निबंध में लोकजीवन से संबंधित लोक विश्वासों का वर्णन करते हुए कहा गया है - ''भारतीय लोक जीवन में शिव कितने रमे हुए हैं, यह इसी से प्रमाणित है कि

लोक आख्यान हो, लोकगीत हो, लोककथा हो सर्वत्र गौरा-पार्वती और शंकर भोलेनाथ छाये हुए हैं । शिव-पार्वती विवाह का मंगलगीत गाये बिना कोई विवाह पूरा नहीं होता । 'शिवशंकर खेलैं फाग, गौरा संग लिए' के फाग के बिना वसंतोत्सव नहीं पूरा होता, शिव-पार्वती की यात्रा के बिना कोई मेला नहीं पूरा होता ।''[120]

इसी प्रकार 'अभी-अभी हूँ अभी नहीं' नामक निबंध में मिश्रजी ने अपने गाँव और उसके आस-पास के परिवेश के लोकजीवन तथा लोक तत्व के अध्ययन पर आधारित ब्यौरा प्रस्तुत किया है ।

'हिन्दी की शब्द संपदा' नामक निबंध में आंचलिता की आवाज़ उठानेवाले रंग, बादल, फसल, खेती आदि शब्दों का वर्णन करते हुए लोकजीवन के संदर्भों को आकलित करते हैं । 'छप्पन कोटी के व्यंजन' निबंध में लोकजीवन का चित्रण करते हुए मिश्रजी ने गाँव के गेहूँ, चावल, जौ, मैदा, चाट, पिठौरी आदि व्यंजनों तथा पकवानों के बारे में बताया है ।

'हिप्पी पंथ' नामक निबन्ध में मिश्रजी ने लोक तत्वों के बारे में मुक्तहस्त से लिखा है - ''यह ले जावो ओड़िसा की कल्चर की चाँदी की क्लिप्, यह लो कश्मीर की नवनीत कामिनी के हाथ का काढ़ा शाल, यह ले जाओ शांतिनिकेतन की करमुद्रा, यह ले जाओ बनारसी कांस्य घंटी, यह लो हीर रांझा का बिगुल, यह लो सुर्ख लहूसी मुद्रासी चद्दर । हमारी संस्कृति का हर तामझाम बिकाऊ है ।''[121]

इसी प्रकार 'मेरा गाँव घर', 'अयोध्या उदास लगती है', 'सावनी स्वाधीनता एक निर्वासित श्यामा' आदि निबंधों में गाँव के अहीर, कुम्हार, बढ़ई, आभीर आदि जातियों के विषय में बताते हुए मिश्रजी लोकजीवन को उद्घोषित करते हैं । इसके साथ ही गाँव में प्रचलित शिव-पार्वती की कथाओं, विभिन्न पर्वों, तीज त्योहारों, खेती-बादी, खेत-खलिहान आदि का जिक्र भरपूर किया गया है । लोकजीवन का इतना विशद वर्णन इनके निबंधों में मिलता है कि उन सबका उल्लेख करना यहाँ बड़ा मुश्किल है । इनके बहुत सारे निबंधों की अत्म लोकजीवन से ही प्राणवान हुई है ।

परम्परा एवं विश्वास

लोक परम्परा, लोक विश्वास आदि का अध्ययन लोक संस्कृति के अंतर्गत किया जाता है । इसका संबंध मनुष्य के वर्तमान की अपेक्षा अतीत से अधिक होता है । 'हल्दी दूब और दधि अच्छत' नामक निबंध में लोक परम्पराओं के प्रभाव के विषय में मिश्रजी कहते हैं - ''हल्दी में रंगी हथेली, दूब से पुलकित पूजा की थाली, अक्षत से भरा चौक और दधी से शोभित भाल ये चित्र मन में उभर ही आते हैं । हृदय का वह प्रथम अनुराग बासी पड़ गया है । उस नव प्रणय की भाषा झूठी हो गई है । उसके अंतर का वह रस सीठ गया । उस रस का वह आपूरित आनंद रीत गया । जिन नव दृग पल्लवों की वंदरवार लगी । वे दृग पल्लव मुर्झा गए । 'नयनसलोने अधर मधु' दोनों ही करुवा गए पर क्या जादू है कि मन की कोर में लगी हल्दी नहीं छूटी, जीवन प्रांतर में उगी हूई दूब और परिसर में बिछी हुई अक्षत राशि क्षत विक्षत नहीं हुई ।''[122]

भारतीय लोक जनमानव में बिल्ली का रास्ता काटना, कहीं प्रस्थान करते समय किसी के द्वारा छींकना, दाहिने हाथ की गदोरी खुजलाना, दाहिने आँख फड़फड़ाना, विधवा तेली और मुर्दे का आगे पड़ना आदि बहुत सारी बातें शुभ और अशुभ मानी जाती है, जिन्हें की लोग आज भी मानते हैं और वे हमारे लोकजीवन में काफ़ी प्रभावित भी है । मिश्रजी ने गाँव के जीवन को अच्छी तरह जीया है । इसीलिए इस तरह की मान्यताएँ उनके निबन्धों में भरपूर दिखाई देती है । इसके अतिरिक्त घर आँगन में फुदकती हुई गौरया का मिश्रजी ने बड़ा मनोहारी चित्रण किया है - ''जिस घर में गौरया अपना घोंसला नहीं बनाती वह घर निर्वंश हो जाता है । एक तरह से घर के आँगन में गौरया का ढीट हो कर चह चहाना, दाने चुग कर मुडेरी पर बैठना, हर सांझ, हर सुबह, हर कहीं तिनके बिखेरना और घूम फिर कर फिर रात में घर में ही बस जाना अपनी बढ़ती चाहनेवाले गृहस्थ केलिए बच्चों की किलकारि, मीठी शरारत और निर्भय उच्छलता का प्रतीक है ।''[123]

यहाँ पर मैंने मात्र एक उदाहरण के माध्यम से मिश्रजी के परम्परा एवं विश्वास की बात कही है । वे भारतीय परम्परा के प्रतीक पुरुष के रूप में माने जाते हैं जिनके आचारों-विचारों में हमें उसकी छाप दिखाई देती है ।

धार्मिक एवं मांगलिक अनुष्ठान

भारत वर्ष सदियों से धार्मिक एवं मांगलिक अनुष्ठानों की परम्परा विद्यमान है । प्रत्येक के पीछे कोई न कोई पौराणिक कहानियाँ भी मिलती है । इसके साथ ही इसे सत्य-असत्य और पाप-पुण्य की भावना से भी देखा गया है । इनके प्रति भारतीय लोगों की धार्मीक आस्थाएँ भी टिकी हुई है । मिश्र जी के निबंध में विजयदशमी, दुर्गा पूजा, होली, दीपावली, रामनवमि और कृष्णजन्म आदि अनेक प्रकार के त्योहारों एवं विभिन्न प्रसंगों में किए जाने वाले अनुष्ठनों का चित्रण मिलता है । भारतीय लोक संस्कृति में विजयदशमी को धार्मिक है । विजयदशमी के दिन लोग विद्यारम्भ तथा अन्य शुभ कार्य करते हैं । आज के बदलते मूल्यों का जिक्र करते हुए मिश्रजी लिखते हैं - "आज की जनसंस्कृति छट-पटाती हुई जनसंस्कृति है जो पूंजीवादी शोषण में व्याकुल पड़ी हुई है । जनवादित के उदय और पुराने मूल्यों के विघटन के नाम पर काया पलट हो गई है । विजयदशमी पर क्या लिखूँ ? विजय में ही विश्वास घट गया तो दशमी समारोह का क्या महत्व रहा? आज विजयदशमी के दिन निबंध लिखे तो वह धरती की सांस्कृतिक विजय की रूपकात्मक कहानी मात्र बने रहेंगे ।"[124]

विजयदशमी के संदर्भ में लिखते हुए मिश्रजी जनमानस को यह संदेश देते है कि विजयदशमी सब की विजय का पर्व है । अपनी स्वतंत्रता में हमने सब की स्वतंत्रता की आकांक्षा देखी है । इसी प्रकार नवरात्र, रामनवमी, होली, जन्माष्टमी, दुर्गा पूजा, शिवरात्री आदि धार्मीक अनुष्ठानों के बारे में मिश्रजी निबंध लिख कर अपनी भारतीय सांस्कृतिक धरोहर की जानकारी पाठकों को कराते हैं ।

तिलक, सिंदूर, सूत्रबन्धन, आरती, स्वस्तिक, दीपक, दही, अक्षत, नारियल, दूर्वादल, पूर्णकुम्भ आदि मांगलिक प्रतीकों पर दृष्टिपात करते हुए वे यह संदेश देते हैं कि ये सभी हमारे राष्ट्र, हमारी धरती की समृद्धि, उपज, पोषण सामर्थ्य, अनुदान की उदारता, उल्लास प्रवृत्ति आदि की अभिव्यक्ति करते हैं । निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि मिश्रजी के निबन्धों में भारतीय लोक संस्कृति की विविध झाँकियाँ अंकित हुई है । ये झाँकियाँ पाठकों को आत्म विभोर भी कर देती है । लोक संस्कृति के अनुसार पूजा पाठ, जप-तप, भजन-कीर्तन आदि हमारे

जीवन के अविभाज्य अंग हैं । देवी-देवताओं में अटूट आस्था रखना, साधु-संतों एवं ऋषी-मुनियों के प्रति सेवा की भावना रखना जिस भी लोकधर्म के प्रमुख अंग है ।

लोकशास्त्र

लोकशास्त्र का मूल मंत्र है कि 'यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं न करणीयम् नाचरणीयम्' । और यही मानवतावाद की आधारस्तम्भ भी है । लोकशास्त्र की मूल विषय वस्तु लोकाचार है । इसके अंतर्गत रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि अनेकानेक लोक कलाओं को सम्मिलित किया जा सकता है । इनका संबंध धार्मिक विश्वासों, पौराणिक कथाओं और पुनीत पर्वों से है । यही मानवीय मूल्य भी है जिन से समाज की संरचना और व्यस्था का स्वरूप निर्धारित होता है ।

भारतीय लोकशास्त्र में संस्कारों एवं कर्मकांडों का स्वरूप पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है । पुंसवन संस्कार से लेकर विवाह संस्कार तक के लोक गीत, लोकाचार, लोक रूढ़ी, मानवीय संबंधों एवं संवेदनाओं से ओत-प्रोत हैं । इस संस्कार के संबंध में विद्यमान, रीति-रिवाज का चित्रण मिश्रजी के शब्दों में मिलता है । वे लिखते हैं, शादी-व्याह या किसी प्रयोजन में पलास के पत्तों की पत्तलें बनानेवाला बारी कोस-दो-कोस जाता पत्तों से पतले बनाता, दोने बनाता, जनेव होता तो नाई पलाश की एक सीधी टहनी काट कर लाता बस बरुआ का दण्ड बनाने केलिए, सूखी-सूखी टहनियाँ भीन कर लाता समिधा केलिए ।''[125]

इस कथन से विदित होता है कि लोक शास्त्र की रीति-रिवाज में पलाश को एक महत्वपूर्ण स्थान है । चाहे शादि हो या जनेव लेकिन पलाश तो जरूर चाहिए । लोकजीवन के खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि को लोकवार्त्ता के अंतर्गत सम्मिलित करते हुए मिश्रजी लिखते हैं- ''लोकवार्त्ता के अंतर्गत लोक प्रसृत सभी व्यवहार आते हैं इन में अनुष्ठान, अनुष्ठान के अंगभूत चित्रांकन या शिल्प अनुष्ठान में गेय गीत या पाठ्यकथा ऋतुमंगल और पर्व के आयोजन और आयोजनों की केलि और केलि गीत, लय के सहज बनाने के उपाय गीत, विभिन्न अवसरों या अवस्थाओं के अनुरूप वेशभूषा ओर अलंकरण, सामुदायिक अस्मिता के व्यापक वीरगाथा

गान, अनुभवसिद्ध नीतिवचन, मुहावरे, प्रचलित लोक विश्वास और मान्यताएँ समाविष्ट हैं ।''[126]

उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि भारतीय लोकशास्त्र में भौगोलिक क्षेत्र के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों तथा धार्मिक एवं पारम्परिक विश्वासों के तत्वों पर आधरित सभी गुण विद्यमान हैं । अंततः यह कह सकते हैं कि लोकशास्त्र में रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन आदि तत्वों का सूक्ष्म वैज्ञानिक अवलोकन करके उसे सद्भाव, प्रेम, करुण, दया, परोपकार आदि मानवीय मूल्य एवं संवेदनाओं से जोड़ा गया है । यह निश्चय ही जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण है । लोकजीवन के बहुत सारे क्रिया-कलापों के पीछे वैज्ञानिक तथ्य भी छिपे हैं जिनका कि मूल्यांकन किया जाना चाहिए ।

भाव बोध एवं भाषा बोध

भाव एवं भाषा का एक अटूट रिश्ता होता है जिसे हम अनुभूति और अभिव्यक्ति के रूप में भी व्यक्त करते हैं । भावों से मंडित होकर ही विचार गरिमा प्राप्त करते हैं तथा शब्दों से सज्जित होकर वे अपना स्वरूप धारण करते हैं ।

शोध के अंतिम अध्याय में भाषा की विस्तृत चर्चा हुई है । यहाँ मिश्रजी की लोक भावनाओं को उनकी लोक भाषा में सुंदर ढ़ंग से चित्रित किया गया है । यह उदाहरण दृष्टव्य है जिस में लोक जीवन के भाव एवं भाषा का सुंदर समन्वय स्थापित किया गया है ।

''का बिनु सून अँगनवा ए बाबा, का बिनु सून दुआर
बेटी बिनु सून अंगनवा ए बेटी पुता बिन सून दुआर
किस के बिना सूना आँगन, किसके बिना सूना द्वार
बेटी के बिना सूना आंगन और बेटे के बिना सूना द्वार''[127]

यहाँ पर लोकजीवन में परिवार की संकल्पना विविध रूपों में की गई है । इस में पिता अपने पुत्री को, घर आँगन के महत्व को दर्शाते हुए कह रहा है कि द्वार की शोभा पुत्र से होती है और आँगन की पुत्री से । मनुष्य स्वभावतः दोनों को पसंद करता है । सामाजिक बदलावों के उत्कर्ष पर भी हम बहुत सारी मान्यताओं को आज भी उसी रूप में स्वीकार

करते हैं । इसके भाषिक पक्ष पर विचार करते हुए देखेतो इस में एक तो मंत्रों की तरह पुनरुक्ति है, एक पंक्ति में जो क्रियापदों या क्रियापद बंधों का क्रम रहेगा, वही क्रम कुछ संज्ञा बदल कर दूसरी पंक्ति में भी रहेगा । इस में विद्यमान प्रश्नोत्तर परम्परा को हम वैदिक सूत्रों एवं अनेक पौराणिक आख्यानों में भी देख सकते हैं । प्रश्न उत्सुकता जगाते हैं और उत्तर भावों की अद्वितीयता पर बल देते हैं । एक और उदाहरण द्रष्टव्य है -

"को मेरे आगे पीछे बैठइ को लट छोरे
को मेरी जागइ रयनिया तू नरवा छिनावइ ।।"[128]

इस प्रकार लोक साहित्य में कविसमय की तरह ही उसका भाव को समझा जाता है ।

लोक जीवन के भाव एवं भाषा के संबंध में मिश्रजी स्वयं लिखते हैं - "भारतीय लोक साहित्य की भाषा परिनिष्ठित और साहित्यिक भाषा न हो कर साधारण जन की भाषा है और उसकी वर्ण्य वस्तु लोकजीवन में गृहीत चरित्रों, भावों और प्रभावों तक सीमित है । यह तो लोक साहित्य की पहली मर्यादा हुई । इसकी दूसरी मर्यादा है उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं बल्कि समूचे समाज का समवेत योगदान यही कारण है कि लोक साहित्य की ऊपर व्यक्ति की छाप न हो करके समग्र व्यक्ति-लोक की छाप होती है ।"[129]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि मिश्रजी ने लोक को अच्छी तरह जाना और समझा है क्योंकि लोकजीवन के वे सभी क्रिया-कलाप जो कि गाँवों में प्रचलित हैं इनकी रचनाओं में देखने को मिलते हैं । मिश्रजी गाँव की गलियों और खेत की मेड़ों पर खूब भ्रमण कियें हैं । लोक जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं है जिन पर कि इनकी दृष्टि नहीं गई है । मांगलिक अवसरों पर गाये जानेवाले गीतों की अपनी खास विशेषताएँ हैं । इन गीतों में हमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों के वीर, श्रृंगार एवं करुण आदि रसों से युक्त प्रसंग मिलते है जिनमें पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों के मर्मस्पर्शी चित्रण मिलते हैं जो कि हमारी एकता और समरसता के प्रतीक है । दुर्भाग्य से संसास माध्यमों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण लोक

जीवन के गीतों के स्थान पर अप फिल्मों के गीत गाये जाने लगे हैं । इससे हमारी लोक जीवन की अस्मिता को ठोस पहुँची है और पहुँच रही है । विद्यानिवास मिश्र के निबंध साहित्य में लोकजीवन के विषय पर शोधकार्य किया जा सकता है । विषय की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए मैंने संक्षिप्त रूप से ही लोकजीवन का उल्लेख किया है ।

संदर्भ-ग्रन्थ

1.	विश्वम्भर सहाय प्रेमी	भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.21.
2.	सुधीशधर द्विवेदी	भारतीय संस्कृति के पाँच अध्याय, पृ.179.
3.	मनुस्मृति	
4.	महाभारत	शांतिपर्व.
5.	पूर्वमीमांसा सूत्र	1/1/2.
6.	वैशेषिक सूत्र	1/1.
7.	भारतीय दर्शन	पृ.192.
8.	B.G.Gokhale	Indian Thought Through the Ages, p.24.
9.	पराशर धर्मसंहिता	माधवीय वृत्तिः, 1/17.
10.	भारतीय दर्शन	पृ.192.
11.	डॉ.सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	धर्म और समाज, पृ.120.
12.	सुमित्रनंदन पंत	कला और संस्कृति, पृ.7.
13.	B.G.Gokhale	Indian Thought Through the Ages, p.47
14.	विद्यानिवास मिश्र	परंपरा बंधन नहीं, पृ.43.
15.	वही	भारतीयता की पहचान, पृ.44.
16.	वही	वही, पृ.48.
17.	वही	देश, धर्म और साहित्य, पृ.23.
18.	B.G.Gokhale	Indian Thought Through the Ages, p.52.

19.	B.G.Gokhale	Indian Thought Through the Ages, p.53.
20.	Heinrich Zimmer	Philosophies of India, p.35.
21.	डॉ.राधाकृष्णन्	धर्म और समाज, पृ.122.
22.	Satyavrata S.	Heritage of Vedic Culture, p.254.
23.	विद्यानिवास मिश्र	भारतीय चिंतन धारा, पृ.71.
24.	जैनेन्द्रकुमार	समय और हम, पृ.206.
25.	विद्यानिवास मिश्र	जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है,पृ.34.
26.	वही	संचारिणी, पृ.49.
27.	वही	जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है, पृ.34.
28.	वही	आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.26.
29.	वही	लागौ रंग हरी, पृ.23.
30.	कठोपनिषत्	1/2/23.
31.	विद्यानिवास मिश्र	हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, पृ. 28.
32.	वही	वही, पृ.30.
33.	वही	वही, पृ.31.
34.	डॉ. गिरिधर प्रसाद शर्मा	भक्ति काव्य के स्रोत, पृ.204.
35.	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.61.
36.	नारद भक्तिसूत्र	2/3.
37.	विद्यानिवास मिश्र	भावपुरुष श्रीकृष्ण, पृ.58.
38.	वही	साहित्य का खुला आकाश, पृ.99.
39.	P.V. Kane	History of Dharma Sastra, Part-IV, p.2.
40.	विद्यानिवास मिश्र	तुम चन्दन, हम पानी, पृ.2.
41.	वही	वही, पृ.8.
42.	वही	वही.
43.	महाभारत	शांतिपर्व.

44. पाणिनी अष्टाध्यायी 3/3/120.

45. आचार्य बलदेव उपाध्याय पुराण विमर्श, पृ.123.

46. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ.120.

47. श्रमद्भागवत.

48. विद्यानिवास मिश्र हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, पृ.24.

49. आ.कु.स्वामी हिन्दुइजम एण्ड बुद्धिज्म, पृ.31.

50. विद्यानिवास मिश्र व्रज में व्रजन, पृ.26.

51. वही शेफाली झर रही है, पृ.102.

52. वही मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.41.

53. वही वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.102.

54. वही शेफाली झर रही है, पृ.14.

55. वही जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है, पृ.43.

56. डॉ.जयनाथ नलीन हिन्दी निबंध आलोक शिखर, पृ.281.

57. विद्यानिवास मिश्र गाँव का मन, पृ.82.

58. वही तुम चन्दन हाम पानी, पृ.175.

59. वही मैंने सिल पहुँचाई, पृ.34.

60. वही वही, पृ.35.

61. वही आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.85.

62. वही छितवन की छाँह, पृ.103.

63. वही अंगद की नियति, पृ.82.

64. वही शेफाली झर रही है, पृ.46.

65. वही भारतीयता की पहचान, पृ.84.

66. वही अग्निरथ, पृ.96.

67. वही कौन तू फुलवा बीननी हारी, पृ.67.

68. डा.विजयेन्द्र स्नातक समीक्षा, पृ.38.

69.	विद्यानिवास मिश्र	अग्निरथ, पृ.44.
70.	वही	शेफाली झर रही है, पृ.45.
71.	वही	संचारिणी, पृ.18.
72.	वही	नैरंतर्य और चुनौती, पृ.113.
73.	वही	देश, धर्म और साहित्य, पृ.71.
74.	रघुनन्दन शर्मा	वैदिक संपत्ति, पृ.474.
75.	गुलाबराय	भारतीय संस्कृति, पृ.210.
76.	सुधीशधर द्विवेदी	भारतीय संस्कृति के पाँच अध्याय, पृ.43.
77.	वीरेन्द्र मोहन	भक्ति काव्य और मानव मूल्य, पृ.52.
78.	जी.एन.मेहरा	भारतीय संस्कृति का विकास, पृ.294.
79.	विद्यानिवास मिश्र	साहित्य अमृत.
80.	वही	वही
81.	वही	वही.
82.	वही	संचारिणी, पृ.32.
83.	वही	देश, धर्म और साहित्य, पृ.25.
84.	राधा कुमुद मुकर्जी	भारत की संस्कृति और कला, पृ.300.
85.	विद्यानिवास मिश्र	अग्निरथ, पृ.80.
86.	वही	वही, पृ.81.
87.	वीरेन्द्र मोहन	भक्ति काव्य और मानव मूल्य, पृ.61.
88.	रमेश कुंतल मेघ	तुलसी आधुनिक वातायन से, पृ.72.
89.	प्रभुदयाल मीतल	ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ.230.
90.	विद्यानिवास मिश्र	परंपरा बंधन नहीं, पृ.98.
91.	वही	आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.48.
92.	वीरेन्द्र मोहन	भक्ति काव्य और मानव मूल्य, पृ.92.

93.	विश्वम्भर सहाय प्रेमी	हिमालय में भारतीय संस्कृति, पृ.102.
94.	वही	वही.
95.	डॉ.ब्रजनाथ सिंह यादव	भारतीय संस्कृति, पृ.302.
96.	विद्यानिवास मिश्र	साहित्य का प्रयोजन, पृ.91.
97.	प्रेमचंद	जीवन दर्शन के विधायक तत्व, पृ.136.
98.	डॉ.नगेन्द्र	हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.438.
99.	विद्यानिवास मिश्र	संचारिणी, पृ.22.
100.	वही	वही.
101.	वही	देश, धर्म और साहित्य, पृ.15.
102.	वही	वही, पृ.16.
103.	वही	अग्निरथ, पृ.68.
104.	वही	देश, धर्म और साहित्य, पृ.28.
105.	वही	परंपरा बंधन नहीं, पृ.78.
106.	वही	वही, पृ.79.
107.	वही	वही.
108.	वही	अंगद की नियति, पृ.20.
109.	वही	शेफाली झर रही है, पृ.33.
110.	वही	संचारिणी, पृ.60.
111.	वही	अग्निरथ, पृ.26.
112.	वही	वही, पृ.91.
113.	रामजी उपाध्याय	भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृ.17.
114.	रामधारी सिंह दिनकर	संस्कृति के चार अध्याय, पृ.6.
115.	मैथिली शरण गुप्त	विश्ववेदना, पृ.5.
116.	विद्यानिवास मिश्र	नैरंतर्य और चुनौती, पृ.155.

117. रवीन्द्र भ्रमर	पद्मावत में लोक तत्व, पृ.20.
118. डॉ. सत्येन्द्र	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, पृ.1.
119. विद्यानिवास मिश्र	तुम चन्दन हम पानी, पृ.118.
120. वही	गाँव का मन, पृ.71.
121. वही	भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.131.
122. वही	गाँव का मन, पृ.79.
123. वही	आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.9.
124. वही	तुम चन्दन हम पानी, पृ.53.
125. वही	अग्निरथ, पृ.11.
126. वही	नैरंतर्य और चुनौती, पृ.156.
127. वही	वही, पृ.159.
128. वही	वही. पृ.160.
129. वही	परंपरा बंधन नहीं, पृ.55.

षष्ठ अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा एवं शैली

षष्ठ अध्याय

विद्यानिवास मिश्र के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा एवं शैली

साहित्यकार का निजी अनुभव, परिवेशगत जीवन एवं विचारधारा उसकी साहित्यिक रचना केलिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसको आधार बनाकर ही वह रचना कर्म में प्रवृत्त होती है। इस कार्य में जितना महत्व अनुभूति पक्ष का होता है उतना ही अभिव्यक्ति का। अर्थात् दोनों साहित्य के अविभाज्य अंग है।

भाषा अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है तो शैली लेखक के विचारों, भावों एवं कल्पनाओं को व्यक्त करने की कला है। भाषा और शैली के अन्योन्याश्रित संबंधों को प्रकट करते हुए डॉ. मु.ब. शहा का कथन इस प्रकार है: "मनुष्य का सोचना उनकी भाषा में प्रकट होता है। विचारों की अभिव्यक्ति और आदान-प्रदान करने का मुख्य माध्यम अधिकांशतः भाषा ही रही। लेखक चिंतन या मनन करता है उसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से करता है और वह भाषागत अभिव्यक्ति ही लेखक के व्यक्तित्व का एवं रचना का मूल्य निर्धारित करती है। अतः भाषा और शैली का अटूट संबंध अपने-आप प्रस्थापित हो जाता है।"[1]

इस कथन से विदित होता है कि भाषा एवं शेली ही लेखक के व्यक्तित्व एवं रचना का मूल्य विर्धारित करती है। मिश्रजी ने अपने विबन्धों में हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा स्थापित एक विशिष्ट परंपरा को अपनाया है। मातृभाषा भोजपुरी होते हुए भी मिश्रजी ने राष्ट्रके हित में शुद्ध, साहित्यिक, परिष्कृत एवं परिनिष्टित खड़ीबोली को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है लेकिन वे लोकजीवन से अपने को विरत नहीं कर सके।

भाषिक संरचना

मिश्रजी का शब्द भंडार अत्यंत विपुल एवं व्यापक है। वे दर्शन, इतिहास, साहित्य, पाणिनि व्याकरण, भाषाविज्ञान आदि के प्रकांड पंडित हैं। इसीलिए इनकी भाषिक संरचना उन ज्ञान-विज्ञान की सुयोग्य पदावली से सुसज्जित है। मिश्रजी हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, भोजपुरी, बंगाली आदि भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी, उर्दू,

फ्रेंच, फारसी आदि भाषाओं के ज्ञाता है । अतः इन भाषाओं के उद्धरण एवं शब्द उनके निबन्धों में सहजता से आगये हैं जिससे उनकी भाषा सहज, समृद्ध एवं व्यापक बन गयी है । मिश्रजी की भाषा के संबन्ध में डॉ. ओंकारनाथ शर्मा लिखते हैं कि "इनके (विद्यानिवास मिश्र) निबन्धों में प्रसादमयी भाषा, कथात्मक चित्रों की अधिकता और विवेचन की तथ्यपूर्ण गंभीरता विद्यमान हैं ।"[2]

इस दृष्टि से मिश्रजी के निबंधों में शब्द संपदा का प्रचुर भण्डार विद्यमान है, जिसमें संस्कृतनिष्ठ एवं लोकजीवन के शब्द बहुतामत मात्रा में पाए जाते हैं ।

तत्सम शब्द: मिश्रजी ने अपने विबन्धों में प्रमुखता से संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है । इसके पीछे उनकी अपनी परम्परागत सांस्कृतिक चेतना एवं संस्कृत भाषा के प्रति अत्यंत लगाव दिखाई देता है । मिश्रजी मूलतः संस्कृत के विद्यार्थी रहे है और उनके अध्ययन, मनन, चिन्तन की भाषा भी संस्कृत ही रही है । यही कारण है कि हिन्दी लेखन में पदार्पण करने के पश्चात् भी वे अपने को इससे मुक्त नहीं कर सकें । जैसे "आम्र-मंजरी में संलग्न किसलयांकुरो में जो कषाय रस होताहै वह नव प्रणयके कषाय का ही प्रतिरूप है । पर दोनों का आस्वादन आपाततः कषाय होते हुए भी अंत में मधुरकंठ दोनेवाला होता है । प्रथम प्रणय की स्मति की वाणी बनकर पुंस्कोकिल मानिनियों के मान खण्ड-खण्ड कर देता है ।"[3]

इसी प्रकार का एक और उदाहरण दृष्टव्य है - "योगी की अतिशय असंलग्नता और प्रेमी की अतिशय संलग्नता दोनों के एक साथ साधे तभी तो सहृदय होगा । यह सहृदय कामशास्त्र का नागर नहीं है न कला शास्त्र का विचक्षण जो जिसकी दृष्टि केवल वर्तनी पर जाती है, जो रेखा की सूक्ष्मता तो नहीं पहचान पाता या उसे पहचानने में कोई विशेष रस नहीं पाता वह कलाशास्त्र का आचार्य तो है, पर आचार्य के साथ-साथ वह विदग्ध भी है ।"[4]

इनके सांस्कृतिक निबन्धों में प्रयुक्त तत्सम शब्दों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है । 'उपलोचन, सुरभित, प्रतीयमान, परिधानसे'[5] 'स्थूलदर्शी, श्रेयस्कर, प्रादुर्भूत, अनुष्ठान, स्वीकार,'[6]

अकिंचन, उपेक्षा, धरातल, वर्षा, वसुधा,'[7] विकसित, आकाश, सहोदर, आत्ममन्थन, अश्रुधारा,'[8] 'मस्तिष्क, मेघ, संध्या-काल, अन्धकार, अन्वेषणा' ।[9]

इस प्रकार के संस्कृतिनिष्ठ शब्द उनके सांस्कृतिक निबंधों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं ।

तद्भव शब्द

मिश्रजी के निबन्धों में तद्भव शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे - सावन के महीने में आग बसर रही है । आर्द्र अनार्द्र बन रही है और अपना ताप झुठलाती हुई चली भी गयी । ऐसे गद्धार मौसम में दिन पसीनें में कही बार नहाते ऊँघते कट भी जाता है तो रात एकदम ज्वालामुखी का विस्फोट हो जाती है ।''[10]

इसी प्रकार घर, दरवाजा, मिट्टी, सपना, पथ,[11] शाम, मुँह, पुराना, सचाई, आज,[12] माटी, सावन, आधा,[13] आँगन रात, पूरब, दूध, बारह, बरस,[14] काम, गाँव, सफेद, प्यास, भूखें[15] आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

देशज, ग्रामीण अथवा बोलचाल के शब्द

मिश्रजी की मातृभाषा भोजपुरी होने के कारण वे अपने सांस्कृतिक निबन्धों में लोक प्रचलित ग्रामीण शब्दों को अपनाने में हिचक नहीं की जिससे उनकी अभिव्यक्ति में जान आगई है । इस संबन्ध में यह उदाहरण दृष्टव्य है - ''ठाकुर रामातिनायक सिंह शिक्षाविशारद हैं । पटे का खेल सीखे हुए हैं, बनारसी गहरेबाज हैं । कहेंगे पंडितजी काहे नहीं साफ़ साफ़ कहते चमड़ी मुटा गई है, संवेदनशीलता नहीं रही, आप अब पूरे कुबेरभण्डारी के पंडा हो गए हैं आंखों पर चर्बी चढ़ गई है, से गुरु चरकी पढ़ा रहें हैं कि तिनका छूट गया, यह नहीं कहते कि अब हिन्दी में लिखने की इच्छा नहीं हैं ।''[16]

इसी प्रकार इसके सांस्कृतिक निबन्धों में प्रयुक्त ग्रामीण शब्दों की संक्षिप्त सूची दृष्टव्य है - ''पोखर, भहराना, तलौयों, अउर, बिरा,''[17] ''सनकुआ, धुन्ध, बहुरियाँ, घरफोरन, बिछला,''[18] ''बिसार, जोहना, ढ़हे, बखिया ुधेड़ना, गड़ही,''[19] उमसी, जोता, लिहली, सहकश, नटै''[20] जईबो जौखे, आँचर, चिरैया का पूत गईलैं''[21] इनी-गिनी, लखत-लखत, पोतन्ना''।[22]

उपर्युक्त शब्दों को देखने से यह विदित होता है कि मिश्रजी के निबन्धों में ग्रामीण एवं बोलचाली शब्दों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है ।

विदेशी शब्द

मिश्रजी के बाल्य काल में उत्तर भारत के स्कूलों में उर्दू अनिवार्य भाषा के रूप में पढ़ाई जाती थी । आज भी वहाँ मुसलमानों की आबादी देश की अन्य भागों की अपेक्षा अधिक है और साथ ही उर्दू का पठन-पाठन अब भी हो रहा है । इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने अंग्रेजी शासन में शिक्षा प्राप्त की और साथ ही उनकी संस्कृति से भी भली-भाँति परिचित हुए । यायावर स्वभाव के कारण इन्होंने देश-विदेश की खूब यात्राएँ की ।

उपर्युक्त कारणों से इनके निबंधों में विदेशी शब्दों के प्रयोग अधिकांश रूप में हुए है जो कि सहज भाव में आए-गये है । जिन्हें वे जान बूझकर प्रयुक्त नहीं करते । जैसे कि आज हम अपने जीवन में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग बिना किसी संकोच से करते हैं । जैसे - **तसल्ली** सिर्फ इस पर है कि राजनीतिक विपन्नता की **तसवीर** ऐसी ही पूरी दुनिया में है । **औसद** कद से भी बौने लोग या औसत से अधिक **कद्दावर** बोग राजनीति में आगए हैं उसके अपराधी तो मूलतः उन्हें भेजनावाली ही हैं या उन्हें भेजने का **माहौल** बनानावाले हैं ।''[23]

इनके सांस्कृतिक निबन्धों में निम्नलिखित शब्दों के भी प्रयोग हुए हैं जैसे - ''खुशहाल, मुसकान, फिलहाल, बावजूद, बेफिक्री,''[24] लायक, रिश्ता, फायदा, आखिर, खाली,[25] मुश्किल, गिरफ्त, हिमाकत, दस्तक, खासकर,[26] सरफरोशी, गिलाफ, मारम्मत, बेकाबू, कमजोरी,[27] खामखयाली, ईमानदार, बेगानापन, शरीक, मजहब[28] आदि ।

अंग्रेजी शब्द

प्राचीन भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के उपासक होते हुए भी मिश्रजी नवीनता के पोषक हैं । पुराने विचारों को नवीन रूप में प्रस्तुत करते समय और साथ ही आधुनिक समस्याओं पर विचार प्रकट करते समय इनके सांस्कृतिक निबन्धों में अंग्रेजी शब्दावली भी यत्र-तत्र मिलती है, जैसे - हमारे बहुत से साहित्यकारों ने समई भाट की ही दिव्यदृष्टि पाई है उनकी शब्दवाहिनी तमसा ने **फैक्टरियों**, खेतों-खलिहानों, तिजोरियों और अस्त्रागारों तक

खबर पहुँचाने का काम अपने जिम्मे ले लिया है । साहित्यकार का दायित्व इससे बडकर क्या होगा तुरंत स्विच् ऑन् कर दो, शान्ति का नारा युद्ध के नारे में बदले, बुद्ध भगवान से युद्ध के लिए मार्च कराया जाए, प्रेम का रुमान युद्ध के रुमान में रुपांतरित हो जाए और शराब छलकाने वाली आंखों में खून उतर आए, चीन में भेंट-मिली कलम को स्याही में डुबो कर तलवार बना लो चिल्लामों कि सूर समर करनी करीहं और कवि सम्मेलन की तालियों में विजय श्री पालो ।[29]

मिश्रजी के कतिपय निबन्धों में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द इस प्रकार हैं ।--

इंक्विजिशन, प्लास्टिक, साइलेण्ट वैली, कैरिइंग पॉवर[30] कैलेण्डर,टूरिस्ट रेस्ट हाउस, लाउड स्पीकर, प्राइमरी, ब्रीफकेस, सेक्स, इण्टरनेशनल,[31] डायट, रेफ्रीजरेटर, मेटल डिटेक्टर,एलिनेशन, यूनिवर्सिटी, हिस्ट्री[32] हैमलेट, लवमेकिंग, नेशन, पेट्रियोटिज्म, रिचुअल, युनिफार्मिटी, कन्फार्मिटी, सेक्यूलरिज्म, फण्डामेंटल प्लेटफार्म, एलिटिस्टर[33] आदि बहुप्रचलित अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं

मिश्रजी की भाषा के संबंध में डा. सुरेंद्र सिंह लिखते हैं--

इनकी भाषा सरल सुबोध और परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी है, जिसके शब्दों का झुकाव संस्कृत भाषा की ओर है । उसमें प्रचलित और कम प्रचलित शब्द स्वनित, अभिव्यंज्य, पर्यालोचन, परिशेष्य, अक्षत, विकर्षण, अवनमित आदि का निःसंकोच प्रयोग है । इसके अलावा अरबी के मजाक गलत नकली फारसी के जिंदगी इज़ोरदारी और अंग्रेजी के फैशन, रिलीजन, कमिंग्स आदि प्रचलित शब्द हैं । कहीं-कहीं देशज शब्द भी आगए हैं । शब्दों की शुद्धता और व्याकरणिक त्रुटियों के प्रति सावधानि बरती गई है । वाक्य संरचना कहीं-कहीं उसमें परंपरागत व्याकरण से एक अजीब बंकिमता है, जो उसे सृजनशील भाषा के निकट लाती हैं[34] ।

इस प्रकार विद्यानिवास मिश्रजी के सांस्कृतिक विबंधों की भाषा में शब्द-संपदा का चयन उपयुक्त हुआ है जिसके परिणामस्वरूप भाषा सरल, सरस, सुबोध एवं सहज बन गई है । वाक्य विधान भी अधिकांश सरल एवं स्पष्ट हैं । अवश्यकता के अनुसार क्लिष्ट, मिश्र एवं जटिल वाक्यों का भी प्रयोग किया गया है ।

शब्द सामर्थ्य

शब्द के अर्थ का वोध करानेवाली शक्ति को शब्द सामर्थ्य कहा जाता है । "शब्दार्थसंबंधः शक्तिः" । शब्द की तीन शक्तियाँ होती है यथा अभिधा, लक्षण और व्यंजना जिनमें ये शक्तियाँ होती हैं उन शब्दों को क्रमशः वाचक, लक्षक और व्यंजक कहा जाता हैं । इस प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं वाच्यार्थ (Expressed Sense), लक्ष्यार्थ (Indicated Sense) और व्यंग्यार्थ (Suggested Sense) ।

अभिधा लक्षणा और व्यंजना का पारस्परिक भेद दर्शाते हुए डॉ. श्रीनिवास शास्त्री लिखते हैं - "अभिधा शब्द की स्वतन्त्र वृत्ति है, अन्य वृत्ति पर आश्रित नहीं । लक्षणा वृत्ति अभिधा पर आश्रित है, वह मुख्यार्थ बाध आदि हेतुओं पर आधारित है । साथ ही रूढ़ि लक्षणा तो व्यंजना के बिना हो सकती है, किंतु प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंजना का व्यापार भी अनिवार्य है । शब्दी व्यंजना अभिधा या लक्षणा पर आश्रित रहती है, किंतु वर्ण चेष्टा आदि की व्यंजकता अभिधा या लक्षणा पर आश्रित नहीं होती ।

वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् अर्थ होता है । वाच्यार्थ का बोध होने पर ही लक्ष्यार्थ होता है अतः एक ही स्थल में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों नहीं होते । किंतु एक स्थल पर वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ साथ-साथ हो सकते हैं ।

कोई शब्द केवल वाचक हो सकता है, केवल लक्षक हो सकता है किंतु व्यंजक नहीं । साथ ही एक ही शब्द एक स्थल पर वाचक तथा व्यंजक अथवा लाक्षणिक तथा व्यंजक हो सकता है किंतु वाचक तथा लाक्षणिक नहीं "[35]

इस संदर्भ में मिश्रजी के संस्कृतिक निबंधों में इसकी परख कूट-रूप में हुई है ।

अभिधा

मिश्रजी संस्कृत के विद्वान होने के कारण उनके अधिकांश सांस्कृतिक निबंधों में प्रत्येक शब्दों के वाच्यार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ।

''आकाश का दूसरा नाम है नभ । इसी का सजातीय शब्द है नाभि । इसका अर्थ है सबको जोड़नेवाला । आकाश की एक भूमिका यह भी है कि पृथक् दिखनेवाले लोकों को जोड़ता है । आकाश का तीसरा नाम है अम्बर । इसका अर्थ आवरण है, इसीलिए अम्बर का अर्थ वस्त्र भी है । यह सबको घेरे हुए है । आकाश का द्योतक शब्द है द्यौ, जिसका अर्थ है प्रकाशमान । द्यौः एक लोक का भी वाचक है, पर आकाश के आलोक से भरनेवाले रूप का भी वाचक है । आकाश का वाचक शून्य है, शून्य का मूल अर्थ सूजकर बढ़नेवाला । किसी पीड़ा में, चोट में सूजन होती है । वह भरनेवाली पीड़ा की ही पहचान होती है । आकाश में खाली होने की पीड़ा ही उसका संभरण बनती है । आकाश का वाचक शब्द एक और है गगन जो अनुरणनात्मक शब्द है, जैसे गंगा है जिसमें आवाज़ गूँजती रहती है, निरंतर कल-कल निनाद होता रहता है, वह गगन है उसी में नक्षत्रों का संगीत छिड़ा हुआ है । उसी में आदि स्फोट है, उसी स्फोट से प्रकट हुआ प्रकाश है''[36] ।

लक्षणा

सांस्कृतिक निबन्धो में प्रयुक्त लक्ष्यार्थ मिश्रजी को अन्य निबंधकारों से विशिष्ट बना देता है । कभी बात को घुमाकर, कभी चमत्कार से या अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से विचारों का अभिव्यक्त करने में ये पूर्ण कुशल हैं । इनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्यकेलिए नयी चीज है । एक उदाहरण दृष्टव्य है - ''आजकी युवा पीढ़ी की बेचैनी इसी व्यवस्था की प्रसव वेदना है''[37] । गाँव देहात में देखना भी है तो ऐसे राहु की छाया में ग्रस्त जो अपने जीवन का समूचा अमृत निगल जाने को कृत संकल्प है[38], तो इस तरह यह सरस्वती कान खा रही है[39], विदेश मंत्रालय में भी पूछ हो सकती है, पर उस निर्गुणा संप्रदाय में बहुत खंजडी बजा चुका हुँ अब वह निरंजन अंजन मेरी बलाय ऑजे''[40]

व्यंजना

मिश्रजी के सांस्कृतिक विबंधों में व्यंग्यार्थ भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं जिससे उक्ति वैचित्र्य के साथ-साथ अर्थ गांभीर्य भी अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं । जैसे कि

"कौन जाने कोई लड़का काना पैदा हो तो ऐसे लोग निदान करें, अंग्रेजी की उपेक्षा करने पर लड़के काने ही पैदा होंगे, अंग्रेजी हिन्दुस्तान की एक आँख जो ठहरी"[41],

"हर विश्वविद्यालय में जैसे बैंक और डाक घर की शाखाएँ वैसे ही एक शाखा - न्यायापीठ, एक थाना, एक मजिस्ट्रट और एक दमकलघर"[42]

उपर्युक्त कथन् से विदित होता है कि मिश्रजीने विश्वविद्यालयीन शिक्षा, छात्रों की अनुशासन हीनता, प्रशासन व्यभिचार आदि पर तीव्र प्रहार किया है ।

अभिव्यंजना के प्रसाधन

सामासिक शब्द - मिश्रजी ने अपने निबंधों में सामासिक शब्दों का भी प्रयोग करके निबंधों की भाषा को सामासिकता और गंभीरता से युक्त बनाया है कुछ सामासिक शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है -

पथरीली जमीन पत्थरों से लड़-झगड़ कर बहनेवली नदियों में बड़े-बड़े पत्थर के ढ़ोंके, विश्ल पत्तोंवाले पेड़ और झंखाड धूसर जंगल क्षण-क्षण पहाडियों का उतार-चढ़ाव लोल-रेखा और लाल-धूली हरियाली का नामोनिशान नहीं, सिवा नदियों और तालाबों के श्यामल जल-प्रसाद में कोसों बस्ती नहीं और जगह-जगह लम्बे घूंघट, लमबी डोर और लम्बी गर्दनवाले खडे, बिक्री की चोज़ों में पान सबसे अधिक सुलभ, वह पान भी अनेक विशेषताओं से मण्डित" ।[43]

सामासिकता मिश्रजी की भाषा की एक मूल विशेषता है । उनके सभी संस्कृतिक निबंधों में वर्णन की ऐसी उत्कृष्ठता मिलती है जिससे पाठक को मिश्रजी के भाव और विचार की सीमा तक पहुँचना दुष्कर हो जाता है । सामासिकता का और एक उदाहरण उल्लेखनीय है

"रात गहरी होती जा रही थी, दूर टंका शुक्ल पक्ष का चंद्रमा मिटता जा रहा था, महासागर की मुखरता तेज होती जा रही थी, हवा नारियल की पंक्तियों से उलझती जा रही थी, बालू पर बिखरे फेन अब बैठने लगे थे । इतने में लगा कि पास के आर्किड वनों से कोई सुवासित आमंत्रण आकर सिहरा गया । हवा का रूख एकाएक बदल गया था" ।[44]

इस प्रकार उनके सांस्कृतिक निबंधों में अधिक स्थानों पर संस्कृतनिष्ठ एवं सामासिकता से युक्त शब्दों के दर्शन होते हैं । मैने यहाँ मात्र एक दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं लेकिन इनके संपूर्ण निबंधों में सामासिक शब्दों का बहुतायत प्रयोग हुआ है ।

उद्धरण

मिश्रजी ने अपनी बात के समर्थनकेलिए तथा अपनी भाषा को अधिकाधिक गहन अर्थच्छवियों से युक्त बनाने केलिए विभिन्न भाषाओं के उद्धरणों और वैदिक मंत्रों का प्रयोग किया है जैसे

''जीवन की सार्थकता इसी में है कि सम्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नोद्विजते चयः ''[45]

यदि मनुष्य देह के बाहर सचाई कभी अंकुरित नहीं हुई है तो कैसे इस देह को व्यर्थ मानूँ? विद्यापति ने जो कहा ''सेहो प्रेम पिरीति वखानहु तिल तिल नूतन होइ''[46] ।

इस प्रकार मिश्रजी संस्कृत प्राकृत वैदिक एवं अन्य भाषाओं के उद्धरणों के प्रयोग अपने सांस्कृतिक निबन्धों में अचुरमात्रा में किया हैं । उनके निबंधों में प्रयुक्त उद्धरणों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं -

धर्म का मूल भाव है निष्कपट व्यवहार, आर्जव, सब में अप्रतिहत विश्वास और इन संस्थानों की दशा तुलसी के शब्दों में यह है कि - ''करहु विमल हिय बसहि हृदय हरि हौं समझों समुझावौं । पै निज उर अभिमान मोह मद खलमण्डली बसावौं ॥''[47]

मनुष्य की मनुष्यता की इससे बड़ी पहचान क्या हो सकती है कि आदमी बराबर यही सोचे कि -

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः ।

दुःखाद् उद्दिजते सर्वः सर्वस्य सुखमीहितम् ॥[48]

प्राकृत की एक गाथा बार-बार याद आती है -

''सोहालिओणं गन्ध ण देह सोत्तुं सुविह तुम्हे''[49]

रामायण इस बड़े मन का काव्य है, क्षेमेन्द्र का कथन सर्वथा सटीक है कि -सर्व दुःखमयं तदस्तु भवतां इलाध्यो विवोकोदयः''[50]

''वे आनृशंस्य को सबसे बड़ा धर्म मानते हैं, वे महाभारत के इस मूल उद्देश्य के साथ हैं कि -

''अभयं सर्व भूतेभ्यो यो ददाति महीपते

स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम्''[51]

''पर लगता है जैसे सादृश्य की ओर गीत का कोई संकेत ही नहीं था । जैसे

''राम के भीजै मुकुटवा, लखन सिर पदुका हो राम

मोरी सीता कै भीजै सेनुरवा, लवटि घर आवह हो राम''[52]

इस प्रकार के उद्धरण मिश्रजी के निबंधों में सर्वत्र दिखाई देते हैं ।

मुहावरें, कहावतें एवं लोकोक्तियाँ

मिश्रजी ने अपने निबंधों में उक्ति चमत्कार एवं लाक्षणिकता का समावेशकेलिए मुहावरों कहावतों एवं लोकोक्तियों का भरपूर प्रयोग किया है । मुहावरा एक पारिभाषिक शब्द है । मुहावरें एवं लोकोक्ति में पर्याप्त साम्य होने पर भी वस्तुतः भिन्नता है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इनमें परस्पर अभेद स्थापित करने की चेष्टा की है इस संबंध में डॉ. स्मिथ का कथन है ''कुछ लोकोक्तियाँ तथा लोकोक्ति परक वाक्यांश भी हमारी बोलचाल की भाषा में घुल-मिल गये हैं इन्हें भी शायद मुहावरा मान सकते हैं ''[53]

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में प्राप्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों के उदाहरण उल्लेखनीय है यथा -

''ऐसे में दरवाजे पर कुआँ खोदने की बात क्या करूँ ?

चर्चा करते ही गाँठ कट जाने का डर रहता है ''

''हिन्दी का विभाजन'' नामक निबंध में मिश्रजी लिखते हैं कि - ''जहाँ आंदोलन होना चाहिए कि संख्या और प्रकाशित साहित्य की मात्रा के आधार पर हिन्दी को उसके अनुरूप गौरव मिलना चाहिए वहाँ मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुंदेली, मालवी, हरियाणी, कुँमायुनी आदि को हिन्दी के बराबर दर्जा दिये जाने की माँगे की जा रही हैं । लगता है जैसे कुएँ में भाँग पड़ गयी है ।''[54]

अन्यत्र वे लिखते हैं - ''पर तो भी आप विद्वान मनुष्य है, आप सही-सही सूचना देने की कृपा करेंगे कि यह .. दर्जा जिसमें हर एक सुसाफिर अपना अलग व्यक्तित्व लिये, अलग अलग बैठता रहा है, गुम-सुम और अपने में लीन, वह अब सर्वहाराकी चपेट में जाने को विवश हो जायेगा?''[55]

तुम चन्दन हम पानी नामक विबंध संकलन के अंतर्गत 'मा पुरो जरसो मृथा' निबंध में लिखते हैं -

''इस जड़ता को दूसरी बार झकझोरने की कोशिश एक निर्वासी सेनानी सुभाष ने की । उसने धूलि में से हीरे उपजायें, हवा में से सेना को संगठित किया ।[56]

इनके अतिरिक्त ''खटाई में पड़ जाना'' कौडी बराबर मोल न रहना , कार्य मेटने पर तुले रहना, गोटी हर तरह लाल रहना, जीभ कतरनी जैसी चलना, टेढी खीर होना, डौल लगाना तिनके का बवण्डर होना, तिलांजली देना, थोप दिया जाना, तबीयत लहालोट हो उठना , टस से मस न होना, नीन्द हराम होना, नशा हिरन होना, पानी फिरना, पट्टा नया करना, भवें तानना, बावेला नचाना, भूमिका निभाना, सीने से चिपकाए रहना, वातावरण गरम होना, सिर पर शामत सवार होना , हवा फिजा होना, हिकारत की निगाह से देखना, हेकडी भूल जाना आदि मुहावरों का प्रयोग हुआ है ।

कहावतें-मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में प्रयुक्त कहावतें इस प्रकार हैं-

''इसीलिए यह हिन्दुस्तान का आदमी ही कह सकता है कि ''मघा के बरसे और माता के परसे ही तृप्ति मिलती है''[57]

विदा लेने लगा तो उसकी आँखे नम थीं बोला-मुल्क बदल जाये तो बदल जाये पर वतन तो वतन होता है ''[58]

इस प्रकार के अनेक कहावतें मिश्रजी के निबन्धों में विद्यमान हैं ।

लोकोक्तियाँ

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों में प्रयुक्त लोकोक्तियों का कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं - बुद्धि के विलास के लिए कभी-कभी तर्क का उपयोग इसलिए किया जाता है कि कोई भी मत ठहर न सके और इसीलिए इस प्रकार के विवाद किये जाते हैं जिनको तर्क शास्त्र में वितण्डा कहा है ।वितण्डा एक घातक प्रवृत्ति है जो उसे करता है अप्रतिष्ठा उसीकी होती है ।[59]

'वाक् परस्पर व्यवहार का प्रकृष्ट साधन है' (साहित्य की चेतना-पृ.4)पार्थिव कल्याण पारमार्थ का पहला सोपान है (मेरे निबन्ध मेरी पसंद के पृ.20) पृथ्वी पर जन्म लेकर जिसको सुनहले फूलों का सौरभ नहीं मिला उसका जन्म व्यर्थ है (कौन तू फुलवा बीननि हारी पृ.16) अपनी भाषा के प्रति निष्ठा राष्ट्रभाषा के प्रति दी गयी निष्ठा से उद्भूत होती है (अस्मिता के लिए पृ.18) राजनीति स्वतः गन्दी नहीं होती वह जब रून्ध जाती है तभी गन्दी होती है (वसंत आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं पृ.78) उसी का नाम प्रकृति है कि जिसका पतन भी मनुष्य का उत्थान कराता है । (कदम की फूली डाल)

इस प्रकार मिश्रजी ने अपने सांस्कृतिक निबन्धों में अर्थदीप्ती, उक्ति, चमत्कार एवं लाक्षणिकता के समावेश के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों को प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया है ।

अलंकार योजना

संस्कृत व्याकरण में अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि अलम् + कृ + घञ्[60] इसके अनुसार अलंकृतिरलंकारः । अलंकार एक ऐसा शस्त्र है जिस से पाठक को प्रभावित एवं आकर्षित किया जा सकता है ।

भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति को प्रभावशाली एवं संप्रेषणीय बनाने में अलंकारों का महत्वपूर्ण योगदान होता है

विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में भी अलंकारों का अनूठा प्रयोग देखने को मिलता है, जिनके प्रयोग से निबंधों का लालित्य,माधुर्य एवं सौंदर्य बढ़ गया है । इन्होंने विशेषकर उपमा, रूपक, मानवीकरण संसृष्टि आदि अलंकारों का प्रयोग किया है, जिसमें अधिकांश रूप में उपमा एवं रूपक अलंकारों का प्रयोग हुआ है । इनके विभिन्न निबंध संग्रहों में विद्यमान उपमा अलंकार के कतिपय उदाहरण दृष्टव्य है-

''भैयासाहब दुपहर के ताल के पानी की तरह तमाम प्रतापी सूर्यों के विद्रोह में प्रखर रहे हैं,जिन्होंने अपने ताप से दूसरों की सत्ता मिटानी चाहती है ''।[61]

''खीज कर मन रीत गया, जेठ के तीसरे पहर की बतास की तरह ''[62]

जिसकी नन्दिनी को शिवकी अर्धांगी बनाकर संगीत, नृत्य, नाट्य, शिल्प, काव्य आदि समस्त के स्रोत गंगा, यमुना, सरस्वती की तरह बहाया है ।''[63]

''रात पर कितने ताजा रहते हैं जमीन पर बिखरे हुए फूल और दिन होते ही सपनों की तरह मलिना जाते हैं''[64]

''जैसे फागुन में गली-गली बच्चे पिचकारी गुब्बारा लेकर निकल पड़ते हैं, वैसे ही कलियुग में वेदान्ती गली-गली पिच्च-पिच्च पिचकारी चलाते रहते हैं, गुब्बारे छोड़ते रहते हैं''[65] ।

''बच्चा एक क्षण में गुस्सा होता है, तपकर सोना होता है दुसरे क्षण प्रसन्न होता है, चांदी होता है, माँ अपने स्नेह के कारण लवंग लता सी लचीली, बाप चंदन चोवा की तरह यश से सुरभित और चाचा पीतांबर की तरह फहराते हुए''[66] ।

उपर्युक्त प्रसंगों में उपमा के प्रयोग से कथन की भावभंगिमा में अद्भुत सौंदर्य हो गया है ।

इसी प्रकार इनके सांस्कृतिक निबंधों में रूपक अलंकार भी यत्र-तत्र मिलते हैं ।

''गोस्वामी तुलसीदास ने अतल गहराई से मुक्ताओं को निकलकर रामचरितमानस के तागे में गूंथने की कोशिश की''[67] ।

''पांडित्य की हिमानी के नीचे लोकहृदय की निर्झरिणी निरंतर झरती रही''[68] ।

''शिलामई चंद्रमुखियों की भंगिमांओं को देखकर सहज ही मांसल सौंदर्य की मोहकता बिसराई जा सकती है ।''[69]

मेरी सुविधाओं की मथुरा में हर एक भीतर आनेवाली साँस के द्वारा भेजा गया अनदेखा सा अनुत्तरित संदेशा करके आया - मेरी रचना खालिन ने परकीया के लहजे में ठाकुर से शब्द माँग यह उलहना या निराशा भेजी है ।''[70]

''नवद्वारोंवाली जो यह शरीररूपी नगरी है इस पूरी नगरी को अपने लावण्य से आभासित करनेवाले और अपने वात्सल्य से परिपोषित करनेवाले चित्त से ही परम एकनिष्ठता सदती है''[71] ।

उपर्युक्त उद्धरणों के अवलोकन से विदित होता है कि मिश्रजी ने अपनी भाषा की सुंदरता बढ़ाने केलिए सांस्कृतिक निबंधों में रूपक अलंकार का सुष्ठु प्रयोग किया है ।

मानवीकरण

मिश्रजी के निबंधों में प्रकृति के मानवीकरण का सुंदर प्रयोग हुआ है -

''पर जवाब पाने केलिए न जाने कितनी श्रुतियाँ, कितनी स्मृतियाँ और कितनी पुरानी प्रीतियाँ श्वास-प्रश्वास रंध्र-रंध्र से कान लगाए खड़ी है''[72] ।

''जेठ की रात बिछुए उतारकर विश्राम कर रही थी''[73] ।

''शरद् ऋतु की साक्षात् प्रतिमा महर्षी जाबाली की स्निग्ध छाया में आकर भी तुम्हें चिंतातप सता रहा है ।''[74]

"तीसरा दर्जा भी बिना बाप का हो गया है"[75] ।

मानवीकरण के इन प्रयोगों द्वारा भाव एवं भाषा में काफी निखार आ गया है जिससे कि अनुभूती एवं अभिव्यक्ति का सुंदर सामंजस्य भी पैदा हो गया है ।

संसृष्टि

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों की भाषा व अत्यंत अलंकारनिष्ठ है । प्रत्येक पंक्ति में स्थित अलंकारों को पृथक करना आसान काम नहीं है । उनके एक-एक वाक्य में भी संसृष्टि अलंकार को देखा जा सकता है उदाहरणार्थ यह स्पष्ट है कि - "पहले फूल आते हैं तब पल्लव आते हैं तब भौरें आते हैं तब कोयल बोलती है ।"[76]

"कैसे कहूँ कि व्रज का नहीं हूँ, वृन्दावन-बिहारी और उसकी प्रियाजी के निकुंजों का नहीं हूँ, कैसे कहूँ बनारसी के बनारसी रंग का नहीं हूँ "[77]

यह बिछुडन चाहे मनुष्य के श्रेय और प्रेय के बीच में हो चाहे विषय और विषयी के बीच में हो, मन और आत्मा के बीच में हो पर प्रत्येक को इसका अनुभव होता है "[8]

और एक उदाहरण दृष्टव्य है - तुम्हीं रसे घर पहुंचा सकती हो इसको अपना स्वरूप खींचना ही नहीं है, खींचना भी है, भरना ही नहीं है, खाली होकर विशालता से विराटता से बृहता से खाली होकर लघुता से, वामनता से, जीवतासे भरा जाना भी है ।"[79]

उपर्युक्त कथनों से विदित होता है कि मिश्रजी के निबन्धों की भाषा की गहरी अर्थवत्ता का प्रधान कारण ही अलंकार योजना है ।

इस प्रकार लेखक ने अपने सांस्कृतिक निबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकारों की योजना की है । जिनसे भाषा में स्पष्टता, स्वच्छता, स्वाभाविकता, आकर्षण कौतूहल आदि विशेषताओं के संयोजन से प्रभावोत्पादन की क्षमता उत्पन्न हुई है ।

प्रतीक योजना

अलंकारों के अतिरिक्त इसके सांस्कृतिक निबंधों में प्रतीकों और बिम्बों का भी भरपूर प्रयोगमिलता है - जैसे 'नगाधि राज हिमालय' निबंध में 'हिमालय' भारत के गौरव का प्रतीक है जिसका वर्णन कालिदास की प्रसन्न वाणी में हुआ है । 'बेचिरागी गाँव' नामक निबंध में गाँव के रूप उसकी हूड़ा अंधकार, शोषण तथा गरीबी का प्रतीक है ।

'निर्भाल्य' नामक विबन्ध में निर्भाल्य भारतीय संस्कृति के तत्वों की समग्रता का प्रतीक है । हल्दी, दूब, दधि, अच्छत आदि प्रचीन संस्कारों के प्रतीक हैं 'बाल के दूँह', औद्योगीकरण की अमानवीय परिस्थितियों का प्रतीक है । नारियल समष्ठि चेतना का प्रतीक है तथा गाँव का मन भोलेपन, सादगी तथा निश्चलता का प्रतीक है ।

इस प्रकार मिश्रजी के निबन्धों में प्रतीक योजना का सुंदर विवेचन हुआ है ।

बिम्ब योजना

मिश्रजी ने बिम्ब योजना के माध्यम से सांस्कृतिक निबंधों की भाषा की श्री वृद्धि की है । बिंबयोजना की विशेषता के बारे में डॉ. सूर्यप्रकाश लिखते हैं - "बिंब की मूल विशिष्टता-स्पष्टता तथा तद्जन्य सौन्दर्य के विशेषतः विधायक होने से साम्य मूलक अलंकारों का काव्य में सर्वातिशय महत्व है । इनके द्वारा कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति को रमणीय बनाकर बिंब रूप प्रदान करता है ।[80]

'बिंब' अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का पर्याय है, जिसका तात्पर्य है किसी पदार्थ या मनश्चित्र या मानसी प्रतीकृति'[81] कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है ।[82] किसी व्यक्ति या पदार्थ की प्रतिकृति, मूर्त या दृश्य प्रत्यंकन एक पदार्थ केलिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे ब्यंजित करता हो जैसे मृत्यु केलिए निद्रा का प्रयोग ।[83]

बिंब शब्दार्थ सूर्य, चंद्रमंडल, प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिंबित अथवा प्रत्यंकित रूप चित्र है ।[84]

बिंब के संबन्ध में अज्ञेय जी का कथन इस प्रकार है कि "प्राथमिक अनुभव के आधार पर बिंब बनता है । और क्योंकि वह प्राथमिक अनुभव के आधार पर ही चलता है, इसलिए कविता केलिए उसकी इतनी उपयोगिता नहीं है ।"[85]

अज्ञेयजी बिंब को ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं मानतें है परन्तु नगेन्द्र के मतानुसार बिम्ब कला सर्जना का नाम है इसीलिए यह महत्वपूर्ण है ।

मिश्रजी ने बिम्ब को महत्वपूर्ण माना है - 'हम और हमारे फूल' नामक निबन्ध के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के फूल तथा विभिन्न ऋतुओं के बिम्ब सम्मुख आजाते हैं । शरत का कमल, हेमन्त का कोई फूल नहीं है, कुन्द में कली आती है शिशिर का लोध, वसंत का कुरबक, ग्रीष्म का शिरीष तथा वर्षा कदम्ब है ।

हम और हमारी नदियाँ निबन्ध में सिंधु, गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, तापी, गोदावरी, कावेरी आदि नदियों के प्रवाह का बिम्ब मन में आ जाता है ।

'कभी नाँव पर' निबन्ध में नाव जीवन दर्शन की एक मूर्त व्यंजना है । नाव का ही बृहत्तर रूप बोसित या जहाज है । पारमार्थिक संतरण के साधन के रूप में भी इसी बिम्ब का प्रयोग निरंतर हुआ ।

इस प्रकार मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों में बिम्ब योजना के दर्शन होते हैं ।

भाषात्मक गुण

विद्यानिवास मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों की भाषा दोषरहित, शुद्ध परिष्कृत साहित्यिक खड़ीबोली है । उनकी भाषा में निम्नलिखित गुण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं ।

सहजता, सरलता एवं स्पष्टता

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों की भाषा सहजता, सरलता एवं स्पष्टता के गुणों से युक्त है । इनके निबन्धों में सरलता और विद्वत्ता का अनूठा संयोग मिलता है साथ ही सभी प्रचलित भाषाओं की शब्दावली का प्रयोग हुआ है । विदेशी शब्दों को भी मिश्रजी ने आत्मसात् करलिया है ।

सांस्कृतिक निबंध के क्षेत्र में मिश्रजी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की परंपरा को निबाहा है, फिर भी इनकी भाषा केवल विद्यानिवास मिश्रजी की भाषा के रूप में ही पहचानी जाती है ।

मिश्रजी की भाषा के संबन्ध में डॉ. जयचंद्र राय ने लिखा है - "उनके लेखन में शास्त्र संपदा और लोक संस्कृति एवं लोकाचार आदि का सहज स्वाभाविक सम्मिलन होगया है ।"[86]

इसी प्रकार डा. ओंकार नाथ शर्मा ने भी लिखा है -इनके निबंधों में प्रसादमयी भाषाशैली कथात्मक चित्रों की अधिकताऔर विवेचन की तथ्यपूर्ण गम्भीरता विद्यमान है ।[87]

वस्तुतः मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा सहज, सरल एवं स्पष्ट तो है ही साथ ही परिनिष्ठित, संस्कृतमय एवं व्याकरण से अनुशासित है उपर्युक्त गुणों से युक्त उनकी भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

" इन पत्रों में भ्रमरानंद की चिट्ठियाँ भी है जो सरस्वती के संपादक आदरणीय भैयासाहब (पं. श्री नारायण चतुर्वेदी) को लिखी गई है । एक तरह से उन्हीं के आशीर्वाद की प्रेरणा से वे लिखी गई है ।इस संग्रह में इसीलिए ललित निबंधवाली बात शायद आपको न मिले क्योंकि मन की ललिता सखी सुषुम है । हाँ, आपको बातचीत का रस मिल सकता है, क्योंकि गहन चिंतन से कुछ क्षण पनाह पर भावहीन पाने के लिए ही मैं अब निबंध लिख सकता हूँ । बातचीत के विषय भी आप के जाने पहचाने है ।"[88]

इस प्रकार मिश्रजी के निबंधों की भाषा में सहजता है सरलता एवं स्पष्टता भी है । सरलता एवं उत्कृष्टता लाने के लिए उद्धरणों का भी प्रयोग किया है ।

लयात्मकता एवं प्रवाहमयता

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा में एक लय है एवं प्रवाह है । इनके अधिकांश निबंधों में लयात्मकता, रसात्मकता, प्रवाहमयता आदि गुण विद्यमान हैं । 'तुम चंदन हम पानी' निबंध संग्रह की भूमिका में पं. श्री नारायण चतुर्वेदी ने मिश्रजी के निबंधों के विषय में जो कहा है उससे हिन्दी निबंध साहित्य के काव्यमय रूप की अथवा लयात्मकता की बात स्पष्ट

हो जाती है । वे लिखते हैं- "ये निबंध कहीं-कहीं वास्तव में काव्य हो गये हैं । यदि रस का परिपाक काव्य का मुख्य लक्षण है तो मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि ये निबंध गद्य काव्य हैं । हिन्दी में अभीतिक मैंने ऐसे निबंध नहीं देखे जो गंभीर होते हुए कविता से इतना सराबोर हैं ।"[89]

मिश्रजी के निबन्धों में यत्र-तत्र लयात्मकता के दर्शन होते हैं । जैसे - "बरबस सपनों में उलझ गया कि कानों में एक कड़ी गूँजी - नंदक-नंदक कदम्ब के तरुतर धीरे-धीरे बजाऊ"[90]

वह धर्म विचार नहीं था, आचार था । आचार भी ऐसा जिसमें मन वाक् काय तीनों एक थे । बौद्ध, सिद्ध, नाथ, मध्ययुगीन संत, सूफी, फकीर, मर्मी, ईसाई, संत सभी एक सनातन भाव में निरंतर भीतर-बाहर बहने वाली उपस्थिति में तिरते हुए भीतर बाहर अपने प्राणों को फूँककर दहकते हुए और साथ ही साथ सहकते हुए ज्योति-पर्व थे ।"[91]

एक और उदाहरण दृष्टव्य है कि - "कोई भी मेला हो कोई भी पर्व हो, कोई भी तीर्थ हो मेले के गीत की यह टेक बराबर गूँजती रहती है ।"[92]

यौवन का नहीं, यौवन की उमंग नहीं, वसंत का नहीं, वसंत के गीत का नहीं, बल्कि आज पुलानिन का, कल शाहसऊद का और परसों महाराज त्रिभुवन का आज शान्ति का, कल इस्लाम के बन्धुभाव का और परसों बौद्ध अनात्मवाद का ।"[93]

जिसमें न वृक्ष हैं, न घर, न घर के बारह बैठा हुआ, पर शून्य में बसेरा लिए चित्त है, जो न मरना चाहता है, न सोना न सपनों में सोना, जो हर बेचैनी के खिलाफ़ जेहाद बोले हुए हैं जो बस शान्ति का तिमिरगीत गाए जा रहे हैं एकदम बेसुर एकदम बेताल ।"[94]

"इसी में घट-घट व्यापी परब्रह्म की पराज्योती है तथा स्वार्थ और परमार्थ की स्व और पर की पार्थिव और अपार्थिव की, ताप और शीत की नश्वर और अनश्वर की नाश और अमरता की नलन भूमि एवं उनकी परम अद्वैत सिद्धि है ।"[95]

उपर्युक्त कथनों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में लयात्मकता एवं प्रवाहमयता है । उनकी उक्ति में चमत्कार एवं अनूठापन है जिससे भाषा में प्रभावोत्पादकता एवं भावोद्रेकता भी आगई है ।

भाषा के गुण एवं दोष

मिश्रजी संस्कृत और हिन्दी भाषा पर समान अधिकार रखते हैं और साथ ही के भाषा वैज्ञानिक भी हैं । इसलिए इसके निबंधों में भाषागत दोषों का अभाव है । हाँ, एक बात जरूर है कि पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण कहीं-कहीं भाषा बहुत दुरूह होगई है जिसे कि आम पाठक नहीं समझ सकते हैं । उनके निबन्धों की भाषा एवं शैली के संबंध में डॉ. सुरेन्द्र सिंह लिखते हैं कि - "डॉ. मिश्र की भाषा एवं शैली विषय के अनुरूप बदलती हुई चलती है । गूढ़ और गम्भीर विषय के लेखन में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का बाहुल्य गुंफित वाक्य रचना और सामासिकता का निर्वाह रहता है वहीं हलके-फुलके विषय में सरल सुबोध शब्दों का प्रयोग आलंकारिकता, पद-लालित्य और उन्मुक्तता रहती है, बल्की यों कहना चाहिए कि ऐसे समय इनकी भाषा ललित साहित्य के निकट पहुँच जाती है । कभी-कभी उस भाषा के कारण ललित निबंध होने का भी भ्रम हो जाता है ।"[96]

उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखते हुए उनके सांस्कृतिक निबंधों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उनकी भाषा में एक ओर संस्कृत की तत्सम शब्दावली मिलती है तो दूसरी ओर अरबी, फारसी, अंग्रजी आदि भाषा के शब्दों का प्रयोग मिलता है । संस्कृत शब्दों की छटा तो लगभग प्रत्येक सांस्कृतिक निबंधों में मिलती ही है परन्तु कुछ अधिक क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग पाठकों को समझने में बाधक अवश्य सिद्ध हुआ है । उदाहरणार्थ यह उल्लेखनीय है- "सौभाग्य फलवती चारूता के प्रतिपादन में उन्होंने सर्वत्र मंजरी को स्मरण किया है ।"[97]

वे अन्यत्र लिखते हैं- "ऋजुकुटिल नाना वर्त्मों से एक ही महान् अर्णव में मिलने का दुर्निवार संकल्प है ।"[98]

इनकी भाषा में विराम आदि चिन्हों का समुचित प्रयोग किया गया है साथ ही गंभीरता, शिष्टता, सरलता एवं मधुर विनोदिता का भी सुन्दर समावेश मिलता है ।

इस प्रकार मिश्रजी के निबंधों की भाषा में शब्द चयन उपयुक्त हुआ है जिसके फलस्वरूप भाषा सरल सुबोध स्वच्छ तथा सहज है । वाक्य विधान अधिकांशतः सरल तथा स्पष्ट है परंतु आवश्यकतानुसार जटिल वाक्यों का भी प्रयोग किया गया है ।

शैली

प्राचीन वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र 'शैली' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ स्वभाव से जोड़ा गया है । 'प्रायेण आचार्याणां इयं शैली यत् सामान्येन अभिधाय विशेषेण विवृणोति'[99] इस कथन के अनुसार शास्त्र में सूत्र के आख्यान पद्धति को शैली कहा गया है । व्याकरण में इसकी व्युत्पत्ती इस प्रकार मिलती है -'शील शब्द षड् और डीम प्रत्ययों के योग से बना है शीलमेव स्वार्थे ष्यडः डीपिय लोपः महाभाष्य में भी उसका प्रयोग इस प्रकार है एंषा ही आचार्यस्य शैली लक्ष्यते''(1-1-2-5) शब्दकोश के अनुसार शैली के अर्थ हैं चाल, ढंग, प्रणाली रीति प्रथा तथा वाक्य रचना का विशिष्ट प्रकार आदि''।[100]

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने शैली के संबंध में अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किए हैं ।आजकल जिस अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग हो रहा है, उस अर्थ में भरतीय साहित्य शास्त्र में कहीं पर भी प्राप्त नहीं होता यह शब्द अंग्रेजी स्टाइल का पर्याय माना जाता है । हिन्दी में कुछ विद्वान शैली की जगह 'रीति' शब्द को ज्यादा उपयुक्त मानते हैं । विद्यानिवास मिश्रजी का मत है कि शैली शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में साहित्येतर विधाओं के संदर्भ में प्रादेशिक विशेषताओं के लिए या कला संप्रदायगत विशेषताओं को बतलाने के लिए और आधुनिक समीक्षा साहित्य में किसी व्यक्ती की साहित्यिक अभिव्यक्ति की विशेषताओं को बतलाने लिए हुआ है । इसलिए भाषागत सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बोधित करने के लिए शैली का प्रयोग असंगत है । इसकी जगह रीति शब्द का प्रयोग ही इसलिए उपयुक्त हैं ।[101]

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार "रीति केवल काव्य रचना का ढंग है जब की शैली वाणी की अभिव्यक्ति में अभिनयात्मकता शक्ति का संचार करने का माध्यम ।"[102] करुणापति त्रिपाठी जी भी "रीति को काव्य रचना की रीति और शैली को साहित्यकार की अफिव्यक्ति की प्रणाल मानते हैं ।"[103]

नगेन्द्र की धारणा है कि रीति और शैली का अंतर व्यक्तित्व की मात्रा का ही अंतर है ।"[104] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का मानना है कि रीति और शैली अपनी आंतरिकता में बड़ी दूर तक एक ही भाव को ध्वनित करते हैं । रीति और शैली का जो विषय गत स्वरूप प्रारंभ में प्रचलित था उसमें तो कोई विशेष अंतर है ही नहीं, आधुनिक युग में कवि की शाब्दिक भाषागत योजनाओं के विवेचन में रीति और शैली शब्द समान अर्थ में व्यवहृत हो सकते हैं ।"[105]

डॉ. गंगा प्रसाद गुप्त लिखते हैं - रीति की जगह शैली शब्द का प्रयोग प्रचलित होगया जिसमें विषय एवं व्यक्ति दोनों की संयोजना एवं स्वीकृति निहित है तथा वह अंग्रेजी के style का समानार्थी बनगया है ।"[106]

उपर्युक्त विचन से यह विदित होता है कि संस्कृत का शैली शब्द ही रीति शब्द के रूप में मान्यता प्राप्त की तथा आगे चलकर अंग्रेजी के स्टाइल शब्द का पर्याय माना गया है ।

इस संबंध में मिश्रजी मानते हैं कि जिस प्रकार अंग्रेजी में स्टाइल शब्द रचना विधि के अनेक सीमांतों को स्पर्श करता हुआ अपने आधार अर्थ को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं । इसी प्रकार शैली की अर्थव्यक्ति को स्वीकार का स्टाइलिस्टिक्स की जगह शैली विज्ञान शब्द को मान्यता मिलनी चाहिए ।"[107]

शैली के गुण

निम्न प्रकार के गुणों के समावेश से शैली गुणमयी, सरस एवं संप्रेषणीयता की विशेषता युक्त बनती है ।

ओज: निबन्धों की भाषा में ओज गुण के समावेश से जोश एवं उत्साह में वृद्धि होती है । रौद्र एवं वीर रस का संचार होने लगता है इस सन्दर्भ में डॉ. गंगा प्रसाद गुप्त का कथन उल्लेखनीय है - जिसे पढ़कर जोश एवं उत्साह में वृद्धि हो, अंग-प्रत्यंग फड़कने लगे, प्राण में संचार होने लगे । उग्रता और आवेश अपनी प्रमुखता बताने लगे वही रचना ओजपूर्ण रचना कही जाती है ।[108]

उपर्युक्त अंश मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में भी यत्र-तत्र विद्यमान हैं ।

माधुर्य: मधुरता के समावेश से रमतापूर्ण आनंद का अहसास होता है । हृदय उत्फुल्ल एवं आनंदित हो चादा है निबन्धों में रसात्मकता आजाती है मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में इस गुण के समावेश हुए हैं ।

प्रसाद: प्रसाद गुणों से युक्तशैली सरल एवं स्पष्ट होती है । इससे निबन्धों में बेधगम्यता एवं भावपूर्णता आती है । इस संबंध में गुप्त जी का मत है कि - "यह रचना सरल एवं बोधगम्य होती है । सर्वसाधारण इसका अर्थ आलानी से समझ सकते हैं । वाक्य बहुत स्पष्ट एवं भावपूर्ण होते हैं । शान्तिपूर्ण गंभीर भावों-तथ्यों की व्यंजना इसकी विशिष्टता है ।"[109]

मिश्रजी के निबन्धों की शैली में ये सभी गुण विद्यमान हैं जिनका विवरण आगे किया जा रहा है ।

विविध शैलियाँ

वर्णनात्मक शैली

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में यत्र-तत्र वर्णनात्मक शैली के रूप को देखा जा सकता है । जहाँ वे प्राचीन साहित्य अथवा सांस्कृतिक तत्वों का उल्लेख करने लगते हैं वहाँ वर्णनात्मक शैली दृष्टिगोचर होती है । उदाहरणार्थ यह उल्लेखनीय है - "धाटी से ऊपर आकर अब ठीक आमने-सामने प्रपात से आँखों की मुठभेड़ हुई तो फागुन वाला अवसाद और वसंतवाली विरहवेदना एकदम स्वप्न की भांति तिरोहित होगयी । प्रपात पागल हाथी की तरह चिंघाड़ रहा था । रह-रहकर यह बादल इस चिंघाड़ को बर्दास्त न करते हुए तड़फ उठते थे, तब प्रपात का उन्माद

और द्विगुणित होकर आस्फालित हो जाता था । हाँ, यह जरूर था कि चांदी का धुआं कुछ तो मिट्टी के प्रीति के कारण और अधिक तो विश्व के किशोर-किशोरी के श्यामल शृंगार से तन्मय होने के कारण कुछ अधिक संवराने लगा था, पर इस संवराई शोभा में भी रूपहले धुएँ की आभा बीच-बीच में चमक उठती थी, मानो उसके अंतर के रूप का ज्वार मन्मथ के भी मन्मथ, विश्व-मोहन के सांवरे रूप को चुनौती दे रहा हो, इस चुनौती में कौन जाने उस बरसानेवाली का मौन उपालंभ न छिपा ही और उसी की रूपच्छाया पाकर यह प्रभाव और अधिक श्पीत न हो गया हो ।''[110]

इससे यह विदित होता है कि विन्ध्य के दर्शन से उत्प्रेरित मिश्रजी ने वहाँ की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक संपदा के मनोरम चित्रण को वर्णनात्मक शैली में उतारकर पाठकों के सम्मुख रखा है । इसी प्रकार मुकुट मेखला और नूपुर, रेवा से रीवां, राष्ट्रपति की छाया, विन्ध्य की धरती का वरदान, होई है शिला सब चन्द्रमुखी आदि निबन्ध वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं ।

विचारात्मक शैली

विचार और चिन्तन मिश्रजी के सांस्कृतिक निबन्धों का मूल स्रोत है । उन्होने धर्म, विज्ञान, साहित्य, समाज, दर्शन, राजनीति, इतिहास आदि अनेक विषयों से संबंधित समस्याओं पर बहुत गहराई में जाकर सोचा है । इसी में प्राप्त चरम सत्य को वाणी प्रदानकर विचारात्मक शैली में निबन्धों का रूप दिया है । उदाहरण केलिए यह उल्लेखनीय है - ''आधारशिला पर ही भारतीय जीवन दृष्टि आज भी आधारित है, और आज भी विभिन्न प्रकार के घात-प्रतिघात को वहन करते हुए एक अखण्ड चेतना से उद्भासित तमाम साहित्यों को जोड़नेवाली शक्ति आज भी संस्कृत और उसमें निहित सांस्कृतिक संपत्ति में है ।''[111]

कला में नीति की आवश्यकता बताते हुए मिश्रजी लिखते हैं - ''जो कलाकार के गंभीर प्रभाव को समझते हैं व निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि जबतक कला अपने प्रयोजन में सफल नहीं होती तब तक वह समाज के ऊपर अभीष्ट प्रभाव डालने में समर्थ नहीं हो पाता और कोई दोष रह जाता है तो समाज अनुप्राणित नहीं हो पाता ।''[112]

उक्त उल्लेखों से विदित होता है कि मिश्रजी कला में नीति की संयोजना का विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कला में नैतिकता की आवश्यकता है । परंपरा से यहाँ पर कला का प्रयोजन शिवेवर की क्षति अंगल की निवृत्ति, सब दुःखों से मुक्ति एवं परम आनंद माना गया है ।

इसी प्रकार मेघदूत का संदेश, आदर्शों का द्वन्द्व दीपो यत्नेन वार्यताम् आदि निबन्ध विचारात्मक शैली में लिखे गये हैं ।

भावात्मक शैली

मिश्रजी ने कतिपय सांस्कृतिक निबेधों में भावात्मकशाली का प्रयोग किया है । भावात्मक शैली का मुख्य वैशिष्ट्य बताते हुए डॉ. मु.ब. शहा लिखते हैं - "यह स्वाभाविक है कि भाव विभोर रचनाकार बुद्धि और तर्क से जरा कट-छंटकर चले । क्योंकि अपनी प्रामाणिक भावाभिव्यक्ति में वह उन्मुक्त हो जाता है, पाठक के साथ अधिक निकट का संबंध स्थापित करना चाहता है । भावा त्मक शैली से युक्त निबंध की भाषा गीत के समान लयबद्ध, कभी बिखरी हुई, कभी अस्पष्ट कभी छन्दोमय कभी निजी बातचीत के समान होती है । आत्मीयता उनका मुख्य वैशिष्ट्य मानना चाहिए ।"

मिश्रजी की भावात्मक शैली में चिन्तन की अन्तर्धारा मिलती है । अनेक भाव-भावनाओं के जाग्रत प्रतीक बन जाते हैं । भावात्मक शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है - "मेरे कुसुमित यौवन के दूसरे मोड़पर का यह साथी, अब तक न जाने कितने प्रणय कलहों की तपन को बीच, न जाने कितनी विकृत जीवन की दुर्गन्धों के बीच और न जाने कितनी विरसतावों के बीच स्नेह की समरसता का संबल देता रहा है । तब से न जाने कितनी बार दिये में स्नेह भरा गया होगा, न जाने कितनी बाती पूरी दीप की अखण्ड ज्योति की प्रेरणा मुझे मिली है इस दूसरे छितवन की छाया से ।"[113]

उपर्युक्त उद्धरण में मिश्रजी ने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है । इनके अधिकांश सांस्कृतिक निबंध उनके व्यक्तिगत जीवन से ही संबंधित होने के कारण आत्मपरकता का प्राधान्य सहज रूप से दिखाई देता है । संवेदनात्मकता, औज एवं अभिव्यक्ति की तीव्रता से युक्त इनकी भावात्मक शैली अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है ।

आत्मपरक शैली

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में आत्मीयता का तत्व अत्यधिक समाविष्ट हुआ हैं । इस शैली के माध्यम से उन्होंने अपने भावों अथवा मान्यताओं को अभिव्यक्त किया है साथ ही अपने हृदय को पूर्णतया अनावृत कर दिया है ।

"मेरे गाँव के दक्खिन में काली माँ का थान था । नीम की घनी छाँह में मिट्टी की दीवालों से बनी छोटी सी कोठरी थी, कोठरी के ऊपर खपरैल पड़ी हुई थी, और कोठरी में मिट्टी के हाथी , घोडे विराजमान थे । देवी की कोई मूर्ति नहीं थी, ग्राम मन्दिरों में नहीं होती, हाँ हाथी-घोडे जरूर होते हैं, वे भी अधिकतर मिट्टी के ।"[114]

अन्य उदाहरण है-" मुझे बचपन से अभ्यास पड़ा हुआ है कि पत्र लिखने के पहले श्री लिखा जाता है । कभी-कभी स्मरण आता है कि पत्र निजी नहीं है और देश सेक्युलर है । श्री से गैर सेक्युलर गंध आती है तब असंमजस में पड़ जाता हूँ ।"[115]

उपर्यक्त कथनों की शैली के अवलोकन से विदित होता है कि इस शैली से लेखक के सांस्कृतिक निबंधों में रोचकता, कौतूहल और सरसता का समावेश हुआ है ।

मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि 'काहे बिन सून आँगनवा', सिर्फ एक पेड़ गिर गया, गाते-गाते खेल, अभी हूँ अभी नहीं आदि निबन्धों में आत्मपरक शैली विद्यमान है ।

संवादात्मक शैली

मिश्रजी ने अपने सांस्कृतिक निबंधों में संवादात्मक शैली का भी प्रयोग किया है जिससे निबंधों में नाटकीयता, रोचकता एवं सरसता का संचार हुआ है । प्रकृति के विभिन्न उपादानों से अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है । इस संबंध में यह कथन उल्लेखनीय है-

''जहाँ स्व.दादा माखनलाल जी, नवीन जी जैसे वयोवृद्ध लोग हम जैसे नवजवानों के कन्धे पर हाथ रखकर पूछते थे 'कहो यार, कैसा रहा?' ऐसी आत्मीयता जो पीढियों के व्यवधान को तोड़कर होती थी । हिन्दी साहित्य संमेलन का अधिवेशन एक उन्मुक्त आत्मीयता का अधिवेशन हुआ करता था । इसमें टण्डनजी कहा करते थे 'छोटा साहित्यकार हो या बड़ा साहित्यकार, इसमें मैं अंतर नहीं करता । छोटे से छोटा आदमी खडा होकर कहता'बाबूजी यह बात नहीं हैं और बाबूजी, सिंह गर्जन करनेवाले बाबूजी, विधानसभा में पुराने जमाने के हेडमास्टर की तरह डांट पिलानेवाले बाबूजी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति में चुपचाप हँसते हुए उसे झेलते थे । और उन्हीं के मुख से सुना है कि शालिग्राम की बटिया क्या छोटी- क्या बड़ी हिन्दी में जो लिखता है हिन्दी में जो सोचता है, हिन्दी में जो रचता है उन सब में उस विशाल शालिग्राम की संभावना है ।''[116]

इसी प्रकार मिश्रजी के कतिपय निबंधों में संवादात्मक शैली का प्रयोग हुआ है । इस शैली के द्वारा उन्होंने पाठकों को तथ्य की विशालता, संवेदनशीलता एवं प्रकृति प्रेमी रूप का परिचय दिया है ।

व्यास शैली

मिश्रजी ने विषय को विस्तार से विवेचन करते समय व्यास शैली का प्रयोग किया है। साथ ही सरल भाषा का भी प्रयोग हुआ है यथा-

''नई कविता की परिभाषा ठीक-ठीक तब तक नहीं की जा सकती, जब तक इसका सही-सही विवेक न हो जाए कि कौनसी नकली नई कविता है और कौन सी सही मानें में कविता है ।'नई कविता' यह नाम कुछ भ्रामक जरूर है, पर प्रयोग के बाद बन जाने पर यही नाम कुछ सुविधाजनक प्रतीत हुआ । वैसे इस नई विशेषता की सार्थकता केवल इतनी है कि इस कविता धारा ने काव्यगत प्रतिमानों का पुनर्नवीकरण किया है '' ।[117]

एक और उदाहरण दृष्टव्य है -''पर केवल इतना है कि एक ऊँची मचान से चार घंटे तक जो एक जन समुद्र को दो नदियों के बीच हिलोर लेते देखता रहा, उस समुद्र की

एक-एक लहर की अलग-अलग रंगत दीखता रहा-धूसर, गेरूई, केसरिया, नारंगी, बैंगनी, नीली आसमानी मूंगिया, धानी, बसंती, लाल, प्याजी फिरोजी और झकाझक सफेद, यह बघेलखंड है, यह बुंदेलखंड है, यह नेपाल है, यह मिथिला है, यह कोशल है, यह काशी है, यह मथुरा है, यह अयोध्या है, यह कांची है. यह द्वारिका है, यह पुरी है, यह नवद्वीप है, यह वृन्दावन है, यह हरिद्वार है, यह अमृतसर है, यह नासिक है, यह रामेश्वर है, एक-एक लहर का अलग-अलग कलरव पहचानता रहा । मैथिली, भोजपुरी, बघेली अवधी लोकगीतों की पंक्तियों में एक ही धुन गुनता रहा, बंगला के कीर्तन में व्रज के कृष्ण की किंकिणी बजते सुनता रहा और मैं मचान समेत उस लहर का अंग बन गया ।[118]

इस प्रकार मिश्रजी के निबंधों में व्यास शैली का प्रयोग यत्र तत्र मिलता है ।

समास शैली

भावविचार सघन रूप में अभिव्यक्त इस शैली में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस शैली का यह उदाहरण दृष्टव्य है-

रस सिद्धांत भारतीय कला दृष्टि को समझने के लिए एक अच्छा उदाहरण है, पर उसकी अमूर्तता केंद्रित रमणीयता को समझने के लिए इसके अलावा अब और बहुत सी चीजों को समझने की जरूरत है जिसमें वाचिक परंपरा की निरंतरता और अविच्छिन्न प्रवाहशीलता तथा जगत के प्रति सच्चे अर्थ में विज्ञानमय दृष्टि अर्थात् बौद्धिक निःसंगता और सांसारिक जीवन को अभिशाप के साथ में नहीं , स्पृहणीय वरदान के रूप में स्वीकृति, ये सारी बातें रस सिद्धांत से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है ''।[119]

इस प्रकार उनके निबंधों में यत्र-तत्र सामासिक शैली का प्रयोग हुआ है ।

विवेचन शैली

विवेचन शैली में तार्किकता, दार्शनिकता, खंडन-मंडन, वाद-विवाद, व्याख्या-विवेचन आदि की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होते हैं । इस शैली का प्रयोग मिश्रजी के कतिपय निबंधों में हुआ है- ''दुःख इसका नहीं है कि हिन्दी राज्यभाषा के रूप में स्वीकार करने का निश्चय पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो रहा है । दुःख इसका है कि हिन्दी को कागजी प्रतिष्ठा देकर उसका सारे बाजार इतना अपमान किया जा रहा है और हिन्दी भाषा के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का इतना तिरस्कार क्यों किया जा रहा है ? इससे भी ज्यादा दुःख इस बात का

है कि हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार इस समस्या पर कुछ भी बोलने में असमर्थ हैं ।''[120]

इस प्रकार मिश्रजी के निबंधों की विवेचन शैली में उनके विचार गुंफित हैं, जिनमें वाक्यों का गठन और भाषा का गांभीर्य विशेषरूप से परिलक्षित होता है ।

व्यंग्य शैली

मिश्रजी अपने निबंधों में व्यंग्य पूर्ण, सरस, विनोद शैली का भी प्रयोग करते हैं । समाज और राजनीति की विसंगतियों पर बराबर प्रहार करते हैं । अमेरिका तथा वहाँ से आये हुए हिप्पीयों के प्रति भारत के रवैये पर व्यंग्य करते हुए 'हिप्पी पंथ' नामक निबंध में लिखते हैं- भ्रमरानंद यह लीला देख-देखकर स्तब्ध हैं हे लीलामय यह क्या हो रहा है ? हिन्दुस्तान हाथ पसारकर भीख मांग रहा है । हमें अपना सत्व-निकाला गेहूँ दो रसायनों के बल पर बीस-बीस साल सबूत रखा-मक्का दो, अपना यंत्र दो, अपनी लाल-पीली हरी रोशनी की भाषा दो और इस पूंजीवादी देश का तरूण हाथ पसारकर उस भिखमंगे से माँग रहा है- अपने मसान की भस्म दो अपनी दरिद्रता दो यह ऐश्वर्य, यह जीवन नहीं सहा जा रहा है ।''[121]

उपर्युक्त कथन के माध्यम से मिश्रजी समसामयिक भारतीय एवं पाश्चात्य जीवन शैली पर कटाक्ष व्यंग्य करते हैं । व्यंग्य विशेषतः वर्तमान की घटनाओं पर ही किया जाता है । जो कि इनके निबंधों में अधिकांशतः मौजूद है । इन्होंने वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक विसंगतियों को व्यंग्यात्मक शैली के माध्यम से ही व्यक्त किया है जिसमें भाषा, संस्कृति और साहित्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है ।

तरंग शैली

इस शैली में मिश्रजी का मन लहरों की तरह तरंगायित होने का प्रतीत होता है साथ ही अधिक भावुक और गतिशील दिखता है इसके लिए यह एक उदाहरण दृष्टव्य है - गीत में निहित केन्द्रबिन्दु की बात छोड दें तो गीत वह है, जो पक्के गाने के रूप में गाया जा सके, वह भी है जो लोक धुनों की मुरकियों की याद एक साथ दिला सके, वह भी है जो फिल्मी तरानों के झटके दे सके, वह भी है जो गाया न भी जा सके तो खिंचतान के बल

पर क्रेंकार की तरह दूर तक पहुँचाया जा सके वह भी जो खेलकूद, कवायत और अभियान के ताल में सहायक बन सकें । वह भी जो टेक की तुर्कों की खूटियों में कस कर बाँधा जा सकें और वह भी जो हमारे समाचार पत्रों में छपें तारीकाओं के चित्रों की तरह केवल शीर्षक से जाना जा सके कि हाँ, यह गीत है ।''[122]

तरंग शैली का नमूना मिश्रजी की निबंधों में यत्र-तत्र मिलता है ।

विक्षेप शैली

मिश्रजी के कुछ निबंधों में विक्षेप शैली का प्रयोग किया गया है । विक्षेप का अर्थ है बिखरा हुआ या भटकन । इस शैली का प्रयोग करते हुए मिश्रजी अपने विचार व्यक्त करते हैं - ''संपादकजी आप सोचते होंगे कि भ्रमरानन्द ने आज गहरी विजया छनी है, तभी यह अकाल रुदन कर रहा है । पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इस समय तो नशा हिरन हो गया है । ये प्रदर्शनीया वसंत आते आते समाप्त हो जाएँगे । चुनाव रूपू अनंग शरसंधान करनेवाला है । रंग-बिरंगि झंडियाँ खिलनेवाली हैं, पंद्रह फ़ीसदी के कोटा के अयाचित वरदान के फलस्वरूप नई नई कलियाँ चिटकनेवाली हैं । नव वसंत में नए बन्दीनों की कूक पर नए नए गुल खिलनेवाले हैं । यह नया अनंग असंख्य मोटरों की धूल से अपना हाथ घुरिया घुरिया कर नए निशानों पर तीर बिटलानेवाला है ।

इस प्रकार की विक्षेप शैली मिश्रजी के निबंधों में यत्र-तत्र उपलब्ध है ।

प्रलाप शैली

आवेग की अतिशयता ही प्रलाप शैली है । इस शैली के निबंध आत्ममुखी होकर रुदन और प्रलाप का वातावरण प्रस्तुत करते हैं । मिश्रजी के निबंधों में यह शैली 'मेरी रुमाल खो गई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि निबंध में मिलती है । इस केलिए एक उदाहरण दृष्टव्य है, ''सोचते सोचते लगा कि इस देश की नहीं, पूरे विश्व की ही एक कौसल्या है जो हर बारीश में बिसूर रही है - मेरे राम के भीजै मुकुटवा । मेरी संतान, ऐश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है । उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे, मेरे मन के सेवा का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुवे का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण

भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ ।" इस प्रकार मिश्रजी ने अपने निबंधों में प्रलाप शैली का भी प्रयोग किया है ।

धारा शैली

कहीं-कहीं धारा शैली का भी प्रयोग करते हुए मिश्रजी ने अपने सांस्कृतिक निबंधों की शोभा बढ़ाई है । उदाहरण उल्लेखनीय है - "हमारी पराधीनता की बेडियाँ भी इस स्वच्छन्द आनंदोत्सव में टूट जाती थी । वर्ग, जाती, कुल का गर्व खर्व हो जाता था, समरसता की मात्र समता की नहीं लहर दौड जाती थी, तन मन वचन राग के पारावार में नहाँ उठता था । सुधारक अपने को रजाइयों में लपेट कर कोठरीयों में बंद करते, अधिकारी दफा 144 लगाते, पर उन्मुक्त आनंद इन्हें भूल जाता, घर-घर प्रेषित पत्रिकाएँ वासक सज्जा बनती, आधी रात तक क्या भोर तक जागरण होता और प्रातःसमय वह अनिंद्य शोभा घर-घर कुलदेवताओं की आँखे जुड़वाती ।"[124] इस प्रकार की धारा शैली भी मिश्रजी के निबंधों में प्राप्त है ।

निष्कर्ष

विद्यानिवास मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनकी शैली में भाषा एवं भाव का संतुलित सामंजस्य हुआ है । एक ओर भाषा की सरलता, सहजता, स्पष्टता और गंभीरता पर दृष्टि रखें हैं तो दूसरी ओर विचारों, भावों की स्पष्टता, रागात्मकता, निर्णयात्मकता, तर्कपूर्णता आदि गुणों के प्रति भी सतर्क रहें हैं जिसके कारण इनकी शैली में नवीनता एवं रोचकता के गुण भी आगये हैं ।

इन्होंने जीवन जगत् के विभिन्न विषयों पर निबंध लिखें हैं । विषयों की विविधता को संप्रेषणीयता प्रदान करने केलिए विविध शैलीयों का प्रयोग भी करते हैं । इस तरह से हम कह सकते हैं कि इन्होंने विचारों एवं भावों के अनुरूप ही भाषा और शैली का प्रयोग किया है ।

समग्र दृष्टि से विद्यानिवास मिश्रजी की भाषा एवं शैली आदर्शपूर्ण एवं सफल है । इनकी शैली में गांभीर्य, शिष्टता, सरलता के साथ-साथ व्यंग्य विनोदिता का भी सुंदर समावेश हुआ है ।

शैली की रमणीयता उपयुक्त एवं सुंदर शब्दों के चयन से मुखरित हो उठी है । इनकी शैली में शिष्टता, भावाभिव्यक्ति की रोचकता, संस्कृत एवं गौरवपूर्ण शालीनता का समन्वय हुआ है ।

इस प्रकार मिश्रजी की भाषा एवं शैली में विविधता है, आकर्षण एवं रोचकता है । ये गुण उनके स्पष्ट, सरल एवं भारतीय संस्कृति के अमर गायक के व्यक्तित्व का परिचायक हैं । अपने निबंधों में समस्त प्रचलित शैलीयों का समन्वय करते हुए वे एक नवीन एवं आतर्श शैली का प्रयोग करते हैं ।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. डॉ. मु.ब.शाह — हिन्दी निबंधों का शैलिगत अध्ययन, पृ.64.
2. डॉ. ओंकारनाथ शर्मा — हिन्दी निबंध का निलय, पृ.208.
3. विद्यानिवास मिश्र — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.25.
4. वही — सोऽहम्, पृ.42.
5. वही — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.क्रमशः 21,33,49,58.
6. वही — महाभारत का काव्यार्थ, पृ.क्रमशः 25,31,36,48,62.
7. वही — भारतीयता का पहचान, पृ.क्रमशः 12,17,29,56,80.
8. वही — भारतीय चिंतन धारा, पृ.क्रमशः 17,27,47,66,98.
9. वही — साहित्य का प्रयोजन, पृ.क्रमशः 17,35,42.
10. वही — अंगद की नियति, पृ.23.
11. वही — गाँव का मन, पृ.क्रमशः 10,12,13, 23,43.
12. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.कमशः 1,2,33,51.
13. वही — अग्निरथ, पृ.क्रमशः 23,28,38.

14. विद्यानिवास मिश्र — तमाल के झरोखे से, पृ.38,47,51,68,69.90.
15. वही — भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.क्रमशः 9,24,25,65,123.
16. वही — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.49.
17. वही — वही, पृ.क्रमशः 10,12,14,41,137.
18. वही — तुम चन्दन हम पानी, पृ.56,60,14,62.
19. वही — वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नही, पृ.22,28,37,73,112.
20. वही — छितवन की छाँह, पृ.22,31,34,36.
21. वही — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.15,40,49,101,81.
22. वही — नैरंतर्य और चुनौती, पृ.19,126,127.
23. वही — शिरीष की याद आयी, पृ.71.
24. वही — वही, पृ.24,53,69,70,106.
25. वही — जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है, पृ.81,96,102,81,72.
26. वही — साहित्य का खुला आकाश, पृ.20,21,39,41,52.
27. वही — सप्ने कहाँ गये, पृ.17,21,28,45,65.
28. वही — नदी, नारी और संस्कृति, पृ.25,32,50,70,91.
29. वही — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.19.
30. वही — देश, धर्म और साहित्य, पृ.18,49,80,82.
31. वही — अंगद की नियति, पृ.23,40,42,44,61,63,66.
32. वही — फागुन दुइ रे दिना, पृ.24,66,70,81,92,94.
33. वही — सोऽहम्, पृ.11,41,71,74,75,76,79,80,84.
34. डॉ.सुरेन्द्रकुमार — समकालीन आलोचनात्मक निबंध, पृ.205.
35. डॉ.श्रीनिवास शास्त्री — काव्यप्रकाश, पृ.98.
36. विद्यानिवास मिश्र — भारतीय चिंतन धारा, पृ.33.
37. वही — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.14.
38. वही — गाँव का मन, पृ.12.

39. विद्यानिवास मिश्र — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.51.

40. वही — मेरे निबंध, मेरी पसंद के, पृ.53.

41. वही — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.55.

42. वही — वही, पृ.16.

43. वही — कदंब की फूली डाल, पृ.10.

44. वही — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.59.

45. वही — भारतीय चिंतन धारा, पृ.37.

46. वही — अग्निरथ, पृ.58.

47. वही — संचारिणी, पृ.35.

48. वही — वही, पृ.37.

49. वही — शेफाली झर रही है, पृ.9.

50. वही — वही, पृ.53.

51. वही — परम्परा बंधन नहीं, पृ.23.

52. वही — वही, पृ.62.

53. Dr.L.P.Smith — Words and Idioms.

54. विद्यानिवास मिश्र — गाँव का मन, पृ.26.

55. वही, — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.51.

56. वही — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.102.

57. वही — तुम चन्दन हम पानी.

58. वही — तमाल के झरोखे से, पृ.39.

59. वही — वही, पृ.27.

60. वही — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.37.

61. वाचस्पत्यं — भाग-1, पृ.358.

62. विद्यानिवास मिश्र — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.24.

63. वही — मेरे निबंध मेरी पसंद के, पृ.10.

64. विद्यानिवास मिश्र — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.1.
65. वही — शेफाली झर रही है.
66. वही — अग्निरथ, पृ.58.
67. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.9.
68. वही — मेरे निबंध मेरी पसंद के, पृ.36.
69. वही — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, पृ.70.
70. वही — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.32.
71. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.6.
72. वही — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.78.
73. वही — वही, पृ.83.
74. वही — मैंने सिल पहुँचाई, पृ.136.
75. वही — भोर का आवाहन, पृ.41.
76. वही — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.33.
77. वही — गाँव का मन, पृ.71.
78. वही — मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.13.
79. वही — शेफाली झर रही है, पृ.89.
80. डॉ.सूर्यप्रकाश — काव्य में लोकोक्तियाँ और मुहावरों का सौंदर्य, पृ.317
81. Oxford Dictionary
82. Chambers Twentieth Century Dictionary.
83. Websters Third New International Dictionary.
84. संस्कृत-इंग्लीश शब्दकोश
85. काव्यबिंब — कल्पना, पृ.15.
86. डॉ.नगेन्द्र — हिन्दी वाङ्मय बीसवी शती, पृ.354.
87. डॉ.ओंकारनाथ शर्मा — हिन्दी निबंध का विकास, पृ.280.
88. विद्यानिवास मिश्र — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.49.

89. विद्यानिवास मिश्र — तुम चन्दन हम पानी, पृ.7.
90. वही — वही, पृ.136.
91. वही — अग्निरथ, पृ.32.
92. वही — गाँव का मन, पृ.57.
93. वही — अग्निरथ, पृ.33.
94. वही — वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं.
95. वही — छितवन की छाँह, पृ.103.
96. डॉ.सुरेन्द्र सिंह — समकालीन आलोचनात्मक निबंध, पृ.202.
97. विद्यानिवास मिश्र — आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृ.24.
98. वही — वही, पृ.49.
99. कुल्लूकभट्ट — मनुस्मति, पृ.194.
100. रामचन्द्र वर्मा — प्रामाणिक हिन्दी शब्दकोश, पृ.1230.
101. विद्यानिवास मिश्र — रीति विज्ञान, पृ.14.
102. डॉ.नगेन्द्र — भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ.53.
103. करुणापति त्रिपाठी — शैली, पृ.119.
104. डॉ.नगेन्द्र — भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ.105.
105. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी — रीति और शैली, पृ.34.
106. डॉ.गंगाप्रसाद गुप्त — हिन्दी साहित्य में निबंध और निबंधकार, पृ.28.
107. विद्यानिवास मिश्र — साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद, पृ.53.
108. डॉ.गंगाप्रसाद गुप्त — हिन्दी साहित्य में निबंध और निबंधकार, पृ.38.
109. वही — वही, पृ.39.
110. विद्यानिवास मिश्र — कदम की फूली डाल, पृ.36.
111. वही — साहित्य की चेतना, पृ.12.
112. वही — कदम की फूली डाल, पृ.89.
113. डॉ. मु.ब. शाह — हिन्दी निबंधों का शैलिगत अध्ययन, पृ.86.

114. विद्यानिवास मिश्र — छितवन की छाँह, पृ.24.

115. वही — गाँव का मन, पृ.64.

116. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.99.

117. वही — नैरंतर्य और चुनौती, पृ.41.

118. वही — निज मन मुकुर, पृ.85.

119. वही — कौन तू फुलवा बीननि हारी, पृ.16.

120. वही — निज मन मुकुर, पृ.122.

121. वही — अस्मिता केलिए, पृ.32.

122. वही — भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.132.

123. वही — साहित्य की चेतना, पृ.102.

124. वही — भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.77.

125. वही — मेरे राम मुकुट भीग रहा है, पृ.106.

126. वही — भ्रमरानन्द के पत्र, पृ.33.

सप्तम अध्याय

उपसंहार

सप्तम अध्याय

उपसंहार

विद्यानिवास मिश्रजी बीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक महाजागरण की देन है । वे भारतीय नवोत्थान के साहित्यिक संदेशवाहक हैं । उनके व्यक्तित्व निर्माण में योग देनेवाली कतिपय परिस्थितियों की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते ।

गोरखपुर जिले के पकड़डीहा के ग्रामीण वातावरण में जन्मे-पले और प्राथमिक शिक्षा पाये । बाल्य-जीवन गाँव के अकृत्रिम परिवेश एवं घर की विपन्न परिस्थितियों में बीता । वहाँ के ग्रामीण प्रकृति ने उन्हें खूब मोह लिया था । फिर भी ज्ञानार्जन केलिए वे प्रयाग पहुँचे । जब वहाँ के वातावरण में ज्ञान की गरिमा, संस्कृति का वैभव और साधना का बल था । मिश्रजी ने प्रयाग के इस वातावरण से सद् पक्ष का ग्रहण किया जिससे वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान बन गये । संस्कृत के गहरे अध्ययन ने मिश्रजी के ज्ञान एवं दृष्टिकोण को बहु आयामी बनाया । हिन्दी साहित्य केलिए यह सौभाग्य की बात है कि संस्कृत भाषा एवं साहित्य के वेत्ता तथा संस्कृत में ही पीएच.डी. की उपाधी प्राप्त मिश्रजी ने हिन्दी भाषा में अपनी लेखनी चलाई । इस केलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी, पं.श्री नारायण चतुर्वेदीजी, राहुल सांकृत्यायनजी तथा पं.क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्यायजी आदी महान् व्यक्ति के संपर्क ही प्रेरणा स्रोत बन गये । इनके निकट रह कर मिश्रजी ने गुरू के गौरव, शिक्षक की दृढ़ता, मनुष्य का सहृदयता का पाठ पढ़ा जिसे जीवन में उतारने का प्रयास निरंतर करते आ रहें हैं । मिश्रजी कई साहित्य को संस्थाओं से जुड़े रहें, साहित्यिक सेवा चलती रही, देश-विदेशों की यात्रा करते रहें, साथ ही अध्यापकीय जीवन बिताते हुए लेखनकार्य को सफलतापूर्वक निभाते रहें । प्रशासकीय पद पर विराजमान हो कर भी अपना लेखनकार्य जारी रखा और आज भी साहित्य साधना निरंतर चली आ रही है । मिश्रजी के व्यक्तित्व की एक विशेषता है - सहजता । वे अपने प्रत्येक रूप में सहज है । लेखक के रूप में, वक्ता के रूप में और सामान्य व्यवहारकर्ता के रूप में । वे जैसे सोचते हैं वैसे कहते हैं और जैसे कहते हैं वैसे ही करते हैं । कथनी और करनी में अभेद देखते हैं । मिश्रजी का व्यक्तित्व एवं जीवन दर्शन भारतीय साहित्यिक

एवं सांस्कृतिक परंपरा का वह चरम विकसित पुष्प है जिस में कालिदास की सहृदयता, भवभूति की करुणता, बाणभट्ट की विद्वत्ता एवं कबीर की निश्छलता विद्यमान है ।

विद्यानिवास मिश्रजी की प्रतिभा का सर्वोत्तम विकास निबंधों में ही स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है । उन्होंने मन की मुक्त उड़ानवाले व्यक्तिव्यंजक निबंध लिखे हैं जिनमें उनकी व्यक्तिगत रुचि एवं जीवन दृष्टि की सहजता विद्यमान हैं । कला और साहित्य की तात्विक विवेचनावाले निबेध लिखें हैं जिन में संबद्ध समस्याओं का मौलिक विवेचन हैं । सभ्यता और संस्कृति की सटीक व्याख्या, परिभाषा, उद्‌भव एवं विकास के परिचायक निबंधों की सर्जना भी हुई है ।शोध की दिशाओं की ओर संकेत करने वाले शोधपरक निबंध भी लिखे हैं । राष्ट्रभाषा हिन्दी और उससे संबंधित भाषाओं के विवेचन से युक्त निबंधों की रचना भी हुई है । कहने का अभिप्राय यह है कि कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस पर मिश्रजी ने न लिखा हो । छितवन की छाँह, हरसिंगार, शिरीष का आग्रह, वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं, टिकोरा, इन टूटे हुए दीयों से काम चलाओ, आँगन का पंछी और बनजारा मन जैसे अनेक निबंध व्यक्तिव्यंजक एवं भावात्मक निबंधों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । इन निबंधों में आत्मप्रकाशन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है । परंपरा आधुनिक भारतीय संदर्भ में, विश्वविद्यालय और न्यायालय, नयी पीढ़ी की बेचैनी आदि अनेक विचारात्मक निबंध हैं जिन में समसामयिक समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है । रेवा से रीवा, तीन नदियाँ तीन देश, अमर कंटक की सालती स्मति, रूपहला धुँआ, होई है शिला सब चन्द्रमुखी आदि निबंध मिश्रजी के वर्णनात्मक निबंध हैं जिन में दर्शनीय स्थानों, तीर्थों, यात्राओं मेले-तमाशों के सजीव वर्णन किया गया है । हिमालय ने उन्हें बुला लिया, भैया साहब हमारे आपके सबके, निबंधकार द्विवेदीजी, भाई को बधाई आदि निबंध संस्मरणात्मक निबंध हैं । इन निबंधों में मिश्रजी ने निकट के मित्रों एवं साहित्य सेवियों के जीवन की मनोरम स्मृतियों को अंकित किया है । महाभारत का काव्यार्थ, रीति विज्ञान, हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज आदि निबंध संग्रह शोधपरक निबेधों के वर्ग में आते हैं । मिश्रजी के इन विविध विषयों पर लिखे गये निबंधों पर समग्र रुप से विचार करने पर हमारे मानसपटल पर उनके अगाध पांडित्य, साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति, शिक्षा, कला, भाषा आदि विशेषताएँ अंकित हो जाती हैं ।

वर्तमान समय में अनेक निबंधकार उभर कर आये हैं जिन्होंने विविध विषयक निबंधों से हिन्दी ललित निबंध शाखा को परिपुष्ट कर दिया है । निबंध शब्द के व्युत्पत्तिपरक एवं कोषगत अर्थ को अवगाहन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि निबंध की दो प्रकार हैं - वस्तुव्यंजक और व्यक्तिव्यंजक । व्यक्तिव्यंजक निबंधों का ही एक प्रकार ललित निबंध है । हिन्दी में ललित निबंध शब्द मराठी से आया है, यद्यपि संस्कृत के भगवद्गीता में भी ललित शब्द का प्रयोग हुआ है फिर भी हिन्दी निबंधों के क्षेत्र में पं.बालकृष्णभट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, अध्यापक पूर्ण सिंह, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने ललित निबंध की पूर्वपीठिका स्थापित कर दी थी । इसी परंपरा का उत्कृष्ट रूप आगे चल कर पं.विद्यानिवास मिश्रजी के निबंधों में दिखाई पड़ता है । मिश्रजी के ललित निबंधों में उनके व्यक्तित्व की रागात्मक अभिव्यंजना होती है । वे अपने सरल व्यक्तित्व की सजगता एवं सहृदयता के कारण कवि के तरह निबंधों में भावों की सरसता एवं माधुर्यता भर देते हैं । मिश्रजी के निबंधों पर आमूलाग्र दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि ये निबंध उनके रागात्मक व्यक्तित्व की स्वच्छन्द एवं कलानिष्ठ अभिव्यक्ति है । अनुभूति, विचार, शैली एवं काल्पनिकता के तत्वों के कुशल संयोजन से मिश्रजी के निबंधों की सर्जना हुई है । वैयक्तिक रागात्मक अभिव्यक्ति, स्वच्छन्दता, बौद्धिकता, संक्षिप्तता, एकसूत्रता एवं कलात्मकता आदि कतिपय निजी विशेषताएँ इन निबंधों में दृष्टिगोचर होती हैं । अपनी निबंध कला के माध्यम से मिश्रजी ने ललित निबंध के विकास का जो मार्ग प्रशस्त किया है वह अप्रतिम है । हिन्दी ललित निबंध के क्षेत्र में पं. विद्यानिवास मिश्रजी का योगदान अन्यतम है । उनके सांस्कृतिक निबंध हिन्दी साहित्य की अमूल्य थाती है ।

पंडित विद्यानिवास मिश्रजी भारतीय संस्कृति के अनन्य पूजारी है । बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में भारतीय संस्कृति की गहरी छाप पड़ी है । वैसे श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्यायजी के संपर्क में रहने का कारण इनके भावों और विचारों पर सांस्कृतिक विचारधारा का प्रभाव और भी अधिक गहराई के साथ पड़ा है । उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनका साहित्यिक जीवन एवं कार्यक्षेत्र भी भारतीय संस्कृति के उज्वलतम आकर्षण केंन्द्रों से ओत-प्रोत रहा है । वे चाहे वाराणसी में रहें हो, चाहे प्रयाग विश्वविद्यालय में सर्वत्र भारतीय संस्कृति की पावन

पयस्विनी में आकंठ निमग्न रहें हैं । यही कारण है कि उनके निबंधों में सर्वाधिक सांस्कृतिक तत्वों की बहुलता के ही दर्शन होते हैं । मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों में मुख्य रूप में संस्कृति और सभ्यता, संस्कृति और समाज, संस्कृति और साहित्य आदि विषय उल्लेखनीय है । इन निबंधों में उनकी सांस्कृतिक विचारधारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है । संस्कृति और सभ्यता को वे अंग्रेजी के कल्चर एवं सिविलैजेशन् शब्दों के आधार पर गढ़े हुए मानते हैं । मिश्रजी यह भी मानते हैं कि संस्कृति समाज के आंतरिक विकास का कारण है तो सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्था है । संस्कृति को वे किसी देश-काल में आबद्ध नहीं समझते । उनका अभिमत है कि सारे संसार में मनुष्यों की एक ही सामान्य 'मानव संस्कृति' है जिसके कारण संस्कृति मनुष्य की श्रेष्ठ साधना का नाम है । 'वसुधैव कुटुंबकम्' मनुष्यों की अधिकृत वस्तु है । मिश्रजी भारतीय संस्कृति को किसी संकीर्ण दृष्टि से न देखकर व्यापक दृष्टि से देखते हैं । उनका विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की सबल और समर्थ दार्शनिक मान्यताएँ हैं । ज्ञान-विज्ञान के निरंतर विकास से प्राप्त संस्कारों को अपने में आत्मसाथ करने की क्षमता है । मिश्रजी ने अपने सांस्कृतिक निबंधों में नृतत्व शास्त्र, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि की शाखाओं का अपने दार्शनिक सिद्धांतों के साथ मेल बढ़ाने की चेष्ठा की है । समग्र अवलोकन से यह विदित होता है कि इस प्रकार के सांस्कृतिक निबंधों में मानव मात्र की एकता और सार्वभौम सत्यों की प्रतिष्ठा पर बल देना ही मिश्रजी का मुख्य ध्येय रहा है ।

भारतीय संस्कृति के विशेष परिप्रेक्ष्य में विद्यानिवास मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों का विश्लेषण अत्यधिक महत्वपूर्ण है । इनके निबंधों में भारतीय संस्कृति की विविध झाँकिया अंकित हुई है । साथ ही आध्यात्मिक एवं पौराणिक संस्कृति की मूल प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । इसी कारण से मिश्रजी के ये निबंध भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति में व्याप्त धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ, सत्य, दया, अहिंसा, दान आदि जीवन मूल्य, धार्मिक अनुष्ठान, प्रकृति प्रेम, उदारता, मानवीयता, भारतीयता, स्वदेशाभिमान आदि अनेक भावों से ओत-प्रोत हैं । आध्यात्मिक संस्कृति के साथ मध्यकालीन संस्कृति को जोड़ कर वर्तमान संस्कृति के विविध पहलुओं को प्रस्तुत करने में मिश्रजी मुक्तहस्त लेखक हैं । मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था, मध्ययुगीन साहित्य, धर्म, परंपरा आदि सांस्कृतिक तत्वों के विशेषताओं

से इनके निबंध अभिमंडित हैं । आधुनिक राजनीति एवं शासनतंत्र में व्याप्त विषमताओं एवं अनियमितताओं की ओर संकेत करते हुए सुंदर, स्वस्थ एवं संपन्न शासन पद्धति के प्रति प्रेरणा प्रदान भी की । आधुनिक जीवन की विसंगतियों एवं विपथगाओं के प्रति अपने दुःखपूर्ण विचार अभिव्यक्त किये हैं । विश्वविद्यालयों एवं अध्यापकों में व्याप्त असंतोष की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया साथ ही विश्वविद्यालयों के प्रशासन में परिवर्तन लाने केलिए अध्यापकों तथा कर्मचारियों पर होनेवाले अन्याय एवं अत्याचार को समाप्त करने केलिए योग्य सलाह भी दी । भोजपुरी अंचल की ग्राम्य-गीतियों के द्वारा लोक-संस्कृति का वर्णन मिश्रजी ने अपने अनेक निबन्धों में किया हैं ।

पंडित विद्यानिवास मिश्रजी हिन्दी निबंध साहित्य के इतिहास में उन विरल लेखकों की प्रथम पंक्ति में आते हैं जिन्होंने व्यक्तित्व तथा पांडित्य के मणिकांचन योग द्वारा गद्य-शैली को एक नई दिशा प्रदान की और उसका पथ-प्रशस्त किया है । मिश्रजी बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं । वे संस्कृति, समाजशास्त्र, साहित्य, मानवविज्ञान आदि विविध विषयों पर गंभीर तथा साहित्यिक लेख प्रस्तुत किये हैं । मिश्रजी संस्कृत भाषा और साहित्य के पूर्ण पंडित हैं । संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय का इन्होंने समग्र अध्ययन किया है और प्राचीन काव्यों, नाटकों, वेद, उपनिषत्, पुराणों के आख्यानों को आत्मसात कर लिया है । संस्कृत के अतिरिक्त पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, उर्दू, फारसी, बंगाली एवं अंग्रेजी भाषाओं की भी अच्छी जानकारी हैं । इसीलिए मिश्रजी के निबंधों में लोकभाषा के शब्दों से लेकर अंग्रेजी, उर्दू, अरब्बी एवं संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता है । वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के उद्धरणों ने मिश्रजी के सांस्कृतिक निबंधों की भाषा को अनोखी गंभीरता प्रदान की है । मुहावरे एवं लोकोक्तियों के माध्यम से उनके सांस्कृतिक निबंध विशेष रोचक बन पड़े हैं । अलंकार योजना सटीक बनी हुई है । उनके सांस्कृतिक निबंध के भाषा में सहजता, सरलता, स्वच्छन्दता, स्पष्टता, आत्मीयता एवं प्रवाहमयता का अपूर्व सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है । मिश्रजी के निबंधों का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि उनके निबंध न तो भाषा प्रधान है, न भावप्रधान । उस में दोनों का संतुलित सामंजस्य है । एक ओर सरलता, सहजता, गांभीर्यता आदि पर दृष्टि रखते हैं तो दूसरी ओर माधुर्य, प्रसाद, ओज

आदि गुणों के प्रति सतर्क रहते हैं । मिश्रजी के निबंधों की शैली वर्ण्य-विषय के अनुकूल बदलती रहती है । वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक आदि शैलियों के साथ-साथ उन्होंने व्यास, समास, तरंग, विक्षेप आदि शैलियों के माध्यम से अपने सांस्कृतिक निबंधों को सजाया है । समग्र दृष्टि से निबंधकार विद्यानिवास मिश्रजी की भाषा एवं शैली सफल ही नहीं आदर्शपूर्ण भी है । अतः यह कहना उचित होगा कि मिश्रजी ने अपने निबंधों में समस्त प्रचलित शैलियों का समन्वय करते हुए अपनी एक आदर्श एवं अभिनव शैलि को प्रस्तुत किया है ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

इस परिशिष्ट में विद्यानिवास मिश्रजी के लगभग समस्त निबंधों की सूची वर्णानुक्रम के अनुसार लिख रहा हूँ ताकि भविष्य में शोधकार्य करनेवाले शोधार्थियों एवं पाठकों को जानकारी मिलसके । इसके माध्यम से यह जानने में सुविधा होती है कि अमुक निबन्ध उनके किस निबंध संग्रह में संकलित है । मैंने यह कार्य मिश्रजी के द्वारा लिखे गये विपुल निबंधों के कारण किया । उदाहरण स्वरूप यदि मिश्रजी के धर्म या संस्कृति संबंधी निबंधों की जानकारी प्राप्त करनी है तो इस सूची के माध्यम से आसानी से जाना जा सकता है ।

निबन्ध	संग्रह
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते	साहित्य का प्रयोजन
आधुनिकता: मेरी नजर में	संचारिणी
अहमनृतात् सत्यमुपैन सत्यधर्म	हम चंदन तुम पानी
आंगन का पंछी	गाँव का मन
अभी अभी हूं, अभी नहीं	,,
अयोध्या उदास लगती है	,,
ऐसी स्मृतियों के राम	तमाल के झरोसे से
अमृतमात्मनः कलाम्	तमाल के झरोसे से
आम्र मंजरी	आंगन का पंछी और बनजारा मन
अग्र पुरुष	,,
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-कवि और भावक	नैरंतर्य और चुनौती
अर्थार्षवाक्	,,
अंग्रेजी के कारण सांस्कृतिक अवरोध क्यों	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
अंधी जनता और लंगडा जनतंत्र	,,
अस्ति की पुकार: हिमालय	,,
अमृत मन्थन: स्मृति या प्रत्यक्ष	शेफाली झर रही है

अपनी प्रासंगिकता	शेफाली झर रही है
अल्पसंख्यक बहुसंख्यक से हटकर	नदी नारी और संस्कृति
अमर कंटक की सालती स्मृति	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
आज के भारत की सांस्कृतिक विपन्नता	परंपरा बन्धन नहीं
आधुनिक संदर्भ में आस्था की सही पहचान	,,
आचार्य नरेन्द्र दे: नव संस्कृति के सूत्रधार	देश, धर्म और साहित्य
आहुति दो आरुति की वेला है	मैं ने सिल पहुँचाई
आदर्शों का द्वन्द्व	,,
आज तो हिन्दी अपनों से ही हारी है	,,
आंचलिक मित्रों से	,,
आहो आहो संज्ञा गोसाइँनि	छितवन की छाँह
आधुनिक साहित्य का प्रयोजन	साहित्य का खुला आकाश
अंगद की नियति	अंगद की नियति
अहिंसा को जीता	शिरीष की याद आई
अव्यक्त में अपने को सौंपने का पर्व	,,
अग्निरथ	अग्निरथ
आलोक पर्व तिमिर पर्व	अग्निरथ
अपनी वापसी कविता की वापसी नहीं	,,
भारतीय इतिहास का एक संधिकाल	संचारिणी
भारतीयता की व्याख्या पुनः पुनः	,,
भोर का आवाहन	तुम चंदन हम पानी
बौद्धावतारे	,,
बेचिरागी गाँव	,,
भरी देहु गगरिया हमारी	गाँव का पंछी और बनजारा मन
बनजारा मन	आंगन का पंछी और बनजारा मन

भारतीय साहित्य में अध्यात्म	सोऽहम्
बूंद मिले सागर में - 1	बूँद मिले सागर में
बूंद मिले सागर में - 2	''
भारतीय काल प्रत्यय: आधुनिक संदर्भ	नैरंतर्य और चुनौती
भारतीयता की पहचान	''
भारतीय परिवेश के जागरूक साहित्यकार - अज्ञेय	''
भाई	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
बर्फ और धूप	''
भाषा साहित्य और भविष्यत्	शेफाली झर रही है
भारत के लोक और शास्त्र	भारतीयता की पहचान
भारत में मनुष्य और उसका परिवेश	''
भारत में विज्ञान का विशालतर प्रयोजन	''
भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता	''
भारतीय सनातन मूल्य: वसुधैव कुटुंबकम्	''
भारतीय आराध्य शिव के नाम	''
भारतीय आराध्य शिव का स्वरूप	''
भारत में मातादेवी की प्रतिष्ठा	भारतीयता की पहचान
भारतीय पर्व राम नवमी	''
भारतीय पर्व श्रीकृष्ण जन्म	''
भारतीय पर्व होली	''
भारतीय पर्व वासंती नवरात्र	''
भारतीय एकता के सूत्रधार	''
भारतीय वाचिक परंपरा	''
बेतवा के तीर पर	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
बालू के दूह	''

भारत का इतिहास-बोध	परंपरा बंधन नहीं
भारतीय लोक साहित्य की पहचान	,,
भारतीय कला दृष्टि	,,
भारतीय विचारक: याज्ञवल्क्य	देश, धर्म और साहित्य
भ्रमरानंदी रसवाद	मैं ने सिल पहुंजाई
भाषा, साहित्य, मिथक और संस्कृति	साहित्य का खुला आकाश
भारती जय विजय करे	अंगद की नियति
भक्तिरस की साकार प्रतिमा करपात्रीजी	,,
बस सिर्फ एक पेड़ गिर गया	,,
भैया साहब हमारे आपके सबके	कौन तू फुलवा बीननिहारी
भारतीय कौन	,,
भाई को बधाई	,,
बाँधौ आजु कौन तोहिं छोरै	शिरीष की याद आई
बीता कभी भीतता नहीं	,,
भाषा और विभाषा	,,
भोग और उपभोग	,,
भक्ति, भक्ति काव्य भक्ति रस	भावपुरुष श्रीकृष्ण
ब्रज में मनुष्य ईश्वर नहीं ईश्वर मनुष्य हैं	अग्निरथ
बढ़ती समृद्धि: बिखरती संस्कृति	,,
भारतीय संस्कृति और समन्वय	नदी, नारी और संस्कृति
बस्तियाँ मालिन क्यों?	,,
भारतीयता की खोज	,,
भारतीय मन का अकेलापन	,,
भाषा और अस्मिता	,,
भक्ति रस का अनुभव - ।	लागौ रंग हरी श्याम रसायन

भक्ति रस का अनुभव - 2	लागौ रंग हरी श्याम रसायन
चलन चलत रघुरैया	अग्निरथ
चौराहे पर	नदी, नारी और संस्कृति
चिंतन-कण	परंपरा बंधन नहीं
चंद्रमा मनसो जातः	छितवन की छाँह
छंद और कविता	नैरंतर्य और चुनौती
छितवन की छाँह	छितवन की छाँह
दीपावलियों के बीच से	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
दाम्यत दत्त दयध्वम् - दान धर्म	तुम चंदन हम पानी
धर्म मानवीय मूल्य	संचारिणी
धान-पान और नीली पलटें	गाँव का मन
दिये बाती का मेल	आंगन का पंछी और बनजारा मन
ड्योढ़े दर्जे का खातिमा	,,
डेरी बनाम खेती	,,
देश की पहचान	सोऽहम्
धर्म और संप्रदाय	देश धर्म और साहित्य
दीपो यत्नेन वार्यताम्	मैं ने सिल पहुँचाई
धनवा पियर भईले मनवा पियर भईलें	छितवन की छाँह
दिया टिम टिमा रहा है	,,
दारुल शफा के बहाने	अंगद की नियति
दीया और जुगनू	,,
देहाती दुनिया का संस्कारी पुरुष	शिरीष की याद आई
धर्ममय रथ	अग्निरथ
देश की पहचान	,,
धर्म का बुनियादी सरोकार	नदी नारी और संस्कृति

एक अलाव बुझा, एक आँच गई	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
एक घूँट पानी	तमाल के झरोसे से
फूल तब पात	आँगन का पंछी और बनजारा मन
फकीर के चोले में माँ का हृदय	अग्निरथ
फादर कामिल बुल्के: एक शुभ्र स्मृति	,,
गंगा किसकी	शिरीष की याद आयी
गनीमतों का साल - 93	,,
गंगा का शाप कब उतरेगा	,,
गान्धी का पेड़ गैसे फिर रोपें	नदी नारी और संस्कृति
ग्राम स्वराज्य का नया अभियान	,,
गंगा, एक लहर हमें दे तू	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
गंगा की छति	,,
गीत गोविंद: नया युगारंभ	भाव पुरुष श्री कृष्ण
गंगाया घोष:	तुम चंदन हम पानी
गंवई गाँव के गोसाई शिवबाबा	गाँव का मन
गाँव का मन	,,
गुजर जाती है धार मुझ पर भी	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
गगन में थाल रविचंद्र दीपक जैर	शेफाली झर रही है
गंगा देश की प्राण नाड़ी	देश धर्म और साहित्य
गुरु अर्जुन देव का जीवन दर्शन	,,
गउचोरी	छितवन की छाँह
घने नीम तरु तले	,,
गाते गाते खेल	कौन तू फुलवा बीननि हारी
गंगा के बिन्दु बिन्दु में गोविंद	,,
हम और हमारे नदियाँ	संचारिणी

हम और हमारे फूल	संचारिणी
हमारे सामाजिक परिवेश में एकता के सूत्र	,,
है राह कुहासे तक ही नहीं	साहित्य का प्रयोजन
हो रहा	गाँव का मन
हल्दी दूब और दधि अच्छत	,,
हिन्दी साहित्य की काल निचोड़ प्रतिभा	बूँद मिले सागर में
हिन्दी हारी हुई लड़ाई जीतने केलिए	नैरंतर्य और चुनौती
हिन्दी बनाम राजनीति	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
हिन्दी का विभाजन	,,
हिमालय ने उन्हें बुलालिया	,,
हिन्दी के अपराजय योद्धा भैया साहेब	,,
हिप्पी पंथ	,,
हरिरिह विहरति	शेफाली झर रही है
हिन्दी होने का मतलब	भारतीयता की पहचान
होईहै शिला सब चंद्रमुखी	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
हिन्दू धर्म की नई पहचान	परंपरा बंधन नहीं
हिन्दुत्व की परिभाषा	परंपरा बंधन नहीं
हमारे देश की वाचिक परंपरा	,,
हवाई के साथ मेरा अभिसार	मैं ने सिल पहुंचाई
हिमालय	,,
हर सिंगार	छितवन की छाँह
हरि जो भरि हैं	अंगद की नियति
हिमाचल की बाँहों में सतलज	शिरीष की याद आई
हृदयकुंज में वापसी की प्रतीक्षा	,,
हम भूगोल होगये हैं	,,

हमरे तुहरे कौन परस्पर	अग्निरथ
हमारी परंपरा और हम	,,
हिंसा और अहिंसा	नदी, नारी और संस्कृति
होली का आमंत्रण	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
हिन्दू धर्म	हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज
इकाई बनाम दुहाई	आंगन का पंछी और बनजारा मन
इति वृत्त परंपरा और संभावनाएँ	नैरंतर्य और चुनौती
इस टूटे हुए दियों से काम चलाओ	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
जयति जय निवासो देवकी जन्मवाद	तुम चंदन हम पानी
जननी जन्म भूमिश्च	तमाल के झरोखे से
जीवन अपनी देहरी पर	,,
जयंती मंगला काली	आंगन का पंछी और बनजारा मन
जेल में बरसात	शेफाली झर रही है
जातीय स्मृति के प्रतिमान प्रसाद	देश धर्म और साहित्य
जय अंग्रेजी रानी	मैं ने सिल पहुँचाई
जमुना के तीरे तीरे	छितवन की छाँह
जहाँ शाम कुछ जल्दी होती है	शिरीष की याद आई
जीवन उत्सव है	,,
जीवन अलभ्य है ,जीवन सौभाग्य है	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
जयदेव	लागौ रंग हरी श्याम रसायन
काहे रे नलिनी तू कुम्हिलानी	अग्निरथ
क्या पूरब क्या पच्छिम	नदी नारी और संस्कृति
खेतिहर की आँखों से	शिरीष की याद आई
कर्मयोग-शास्त्र	तुम चंदन हम पानी
कला शक्ति और शिव	,,

कला के पलने के पास
कटहल
काहे बिन सून आँगनवा
कमल भक्षकों के देश में
करूणा रस की अवधारणा
कालिदास का रमणीय बोध
कुम्भ, जन ,जल और आस्था
काव्य-बीज
कुमार स्वामीका भारत चिंतन
कलचुरियों की राजधानी गुर्गी
खामोशी की झील
काशी के प्रकाश-स्वामी करपात्रीजी
कचनार और मृगनयनी का देश काल
कौसानी के झरोखे से
खुसरो रैन सोहाग की
कहो कैसा रंग है
कौन तू फुलवा बीननि हारी
लोकाचार और शिष्टाचार
लोक की पहचान
लोकवार्ता और लोकसाहित्य
मा पुरो जरसो मथा: जीवन धर्म
मुरली की टेर
मेरा गाँव घर
मैं मधुवन जाऊँगा रे
मलय के अंचल में

तुम चंदन हम पानी
गाँव का मन
तमाल के झरोखे से
आंगन का पंछी और बनजारा मन
सोहम्
नैरंतर्य और चुनौती
शेफाली झर रही है
''
भारतीयता की पहचान
मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
''
देश धर्म और साहित्य
''
अंगद की नियति
''
''
कौन तू फुलवा बीननि हारी
संचारिणी
सोऽहम्
नैरंतर्य और चुनौती
तुम चंदन हम पानी
''
गाँव का मन
''
आंगन का पंछी और बनजारा मन

मेरी रुमाल खोगई	आंगन का पंछी और बनजारा मन
मरजीवा कबीर	बूँद मिले सागर में
मुकुट मेखला और नूपुर	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
मेघदूत का संदेश	,,
मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,
महाभारत का सत्य	परंपरा बंधन नहीं
मैं ने सिल पहुँचाई	मैं ने सिल पहुँचाई
मध्ययुगीन भक्ति	साहित्य का खुला आकाश
माँ कदंब का पेड़ अगर यह होता जमुना तीरे	अग्निरथ
माँ और धरती	,,
माटी के महादेव	,,
मैं देखेयौ जसुदा के नंदन	,,
मेरे शहर की शरद पुनो	,,
मानव और मानववाद	नदी नारी और संस्कृति
मीरा	लागौ रंग हरी श्याम रसायन
नस्ल की गाँठ	शिरीष की याद आयी
नयेपन के आह्वान का दिन वसंतपंचमी	शिरीष की याद आयी
नारियल	अग्निरथ
नदी नारी और संस्कृति	नदी नारी और संस्कृति
नगाधिराज हिमालय	तुम चंदन हम पानी
नमः शिवाय	,,
निर्माल्य	,,
नारियल	गाँव का मन
न पनिया का वह मामूल है	तमाल के झरोखे से
नया दौर	आंगन का पंछी और बनजारा मन

नर-नारायण
नैरंतर्य और चुनौती
नयी बीढ़ी की बेचैनी
निबंधकार द्विवेदीजी
निरपेक्षता किससे
और यात्रा अभी शुरु नहीं हुई
प्रयोजन का प्रयोजन
पूर्णमदः पूर्णमिदम्
प्रात तव द्वार पर
पार्थिव धर्म
प्रभुत्व-ज्वर अस्पताल
पुनर्जागरण या सम्मोहन
परंपरा रूढी नहीं है
परंपरा के द्वार से आधुनिकता
परंपरा: आधुनिक भारतीय संदर्भ
परंपरा बंधन नहीं
प्राचीन भारतीय साहित्य की मानवीय परिकल्पना
प्रसाद की भारतीय दृष्टि
पलाश के फूल की दहक
परदेसी की पाती
प्यारे हरिचंद की कहानी रही जायेगी
परंपरा: भाषा और संस्कृति
प्राण, वाणी माँगता हूँ
प्रयाग में कल्पवास

आंगन का पंछी और बनजारा मन
नैरंतर्य और चुनौती
वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
''
मैं ने सिल पहुँचाई
तमाल के झरोखे से
साहित्य का प्रयोजन
तुम चंदन हम पानी
गाँव का मन
आंगन का पंछी और बनजारा मन
''
सोऽहम्
नैरंतर्य और चुनौती
''
वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
परंपरा बंधन नहीं
''
देश, धर्म और साहित्य
''
मैं ने सिल परुँचाई
छितवन की छाँह
साहित्य का खुला आकाश
अंगद की नियति
कौन फुलवा बीननि हारी

प्रवासी बडभैये	शिरीष की याद आयी
परिवार वर्ष	,,
पर्वों का पर्व मकर संक्रांति	,,
परंपरा का पुरुषार्थ	नदी नारी और संस्कृति
रचना का संकट	संचारिणी
रामकथा मेरेलिए	,,
रससिद्धांत: प्रत्यवलोकन	नैरंतर्य और चुनौती
राष्ट्रभाषा और समस्या	वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं
राष्ट्रपति की छाया	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
रेवा से रीवा	,,
रूपहला धुआँ	,,
राधा माधन होगई	,,
राजनीति का धर्म और धर्म की राजनीति	देश, धर्म और साहित्य
रचना आस्वाद और आलोचना	साहित्य का खुला आकाश
रचनाकार का दायित्व	देश, धर्म और साहित्य
रोमानिया मे भारत के साक्षात्कार	कौन तू फुलवा बीननि हारी
राम होने का अर्थ	शिरीष की याद आयी
राज्य और संस्कृति	नदी नारी और संस्कृति
राज्य राष्ट्रीय विकास और संस्कृति	,,
राजनीतिक संस्कृति	,,
रूढ़ियों का उपनिवेश	,,
रामो विग्रहवान् धर्मः	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
राम जन-जन के अपने	,,
राममय संस्कृति	,,
राम से रिश्ता	,,

राम इतिहास से परे	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
रहीम	लागौ रंग हरीश्याम रसायन
रसखान	,,
शिरीष की याद आयी	शिरीष की याद आयी
शान्ति की राजनीति	,,
संस्कृति का हस्तक्षेप	नदी नारी और संस्कृति
सांस्कृतिक परचान और विकास	,,
साथ रहने का संस्कार	,,
समग्र शिक्षा	,,
साहित्य और जीवन	,,
साहित्य के बारे में सोचें	जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है
शारदीय नवरात्र	,,
सनातन काशी	,,
सम्मान की स्वीकृति	,,
श्री कृष्ण रस	,,
श्री कृष्ण तत्त्व	भावपुरुष श्री कृष्ण
श्रीमद्भागवत का दिव्य तत्त्व	भावपुरुष श्री कृष्ण
श्रीमद्भागवत का मानवीय तत्त्व	,,
सूर	लागौ रंग हरी
सत्तून् पिब देवदत्त	भ्रमरानंद के पत्र
सूली ऊपर तेज हमारी	साहित्य का प्रयोजन
समाज परिवर्तन और साहित्य	,,
साहित्य का भविष्य	,,
संस्कृति और समन्वय	संचारिणी
साहित्य का समाजशास्त्र	,,

साहित्य इतिहास में दशकवाद	संचारिणी
साहित्य में सामाजिक दायित्व	,,
शिवजी की बारात	तुम चंदन हम पानी
संध्या का ध्यान	,,
सदा आनंद रहे एहि द्वारे	गाँव का मन
साहित्य की मेरी पहचान	तमाल का पंछी और बनजारा मन
सहृदय-हृदय संवाद	सोऽहम्
श्रीमद् भागवत रसविमर्श	,,
साहित्य की पहचान	,,
संप्रेषण	बूंद मिले सागर में
संपर्क भाषा हिन्दी	,,
संप्रेषण समस्या और समाधान	नैरंतर्य और चुनौती
साहित्य का अमृतत्व	,,
शब्द सौंदर्य	,,
शेफाली झर रही है	शेफाली झर रही है
सिव सिर मालती माल	,,
सीप और चांदी	शेफाली झर रही है
स्वाधीनता युग के कटघरें में हिन्दी	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
सावनी स्वाधीनता	,,
संस्कृत साहित्य की सही पहचान	परंपरा बंधन नहीं.
साथ रहना कब सीखेंगे	देश धर्म और साहित्य
संस्कृति और हिमालय	,,
स्वामी अखंडानंदजी	,,
शब्दवाहिनी तमसा	मैं ने सिल पहुँचाई
शिरीष का आग्रह	,,

सांझ भई	छितवन की छाँह
सरवा धर्ममय असरथ जाके	,,
साहित्य की चिंता	साहित्य का खुला आकाश
साहित्य और उत्सव	,,
साहित्य और सर्वसाधारण	,,
साहित्य और लोक	,,
साहित्य और काम पुरुषार्थ	,,
साहित्य स्मृति और विस्मृति	,,
साहित्य और इतिहास	,,
साहित्य और राजनीति	,,
साहित्य प्रयोजन की जिज्ञासा	,,
संस्कृत साहित्य का प्रयोजन	,,
समाज परिवर्तन और साहित्य	,,
संस्कृत की सारस्वत साधना	कौन तू फुलवा बीननि हारी
संस्कृत काव्य का स्निग्ध ताप	,,
सागर घेरे विशाल	,,
श्री	कौन तू फुलवा बीननि हारी
तांत्रिक कला की साध्यभूमि	तुम चंदन हम पानी
तुम चंदन हम पानी	,,
तोमार की मने आछे	तमाल के झरोखे से
तमाल के झरोखे से	,,
तुम दिया हम बाती	बूँद मिले सागर में
तकनीकी में हिन्दी की भूमिका	,,
तटस्थता की अब गुंजाइश नहीं	वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं
तकनीक और आदमी	परंपरा बंधन नहीं

टिकोरा

ट्रांजिस्टरी युद्ध दर्शन

तासों ही कारो रंग हरि पायो

तीन नदियाँ तीन देश

उनके मनायें न मानूंगी

व्रजभाव

व्यष्टि और समष्टि की संधि

विनयी विन्ध्याचल

विजयादशमी पर एक पत्र

वसंत एक दुःस्वप्न

विश्वविद्यालय और न्यायालय

वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं

वंदउँ तव

व्रज में व्रजन

विज्ञान और साहित्य

विंध्य की धरती का वरदान

वैदिक धारा और श्रमण धारा

विकास की सार्थकता

विवाह धूम

वसंत न आवै

वासंती रसवृष्टि का काव्य

वन और वन का स्वभाव

वसंत के भीतर से गुजरते हुए

यात्रा रास्ते की नहीं

यात्री की पहचान

छितवन की छाँह

भ्रमरानंद के पत्र

अंगद की नियति

कौन तू फुलवा बीननि हारी

शेफाली झर रही है

संचारिणी

तुम चंदन हम पानी

,,

,,

तमाल के झरोखे से

वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं

,,

,,

शेफाली झर रही है

भारतीयता की पहचान

मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

देश धर्म और साहित्य

,,

मैंने सिल पहुँचाई

छितवन की छाँह

अंगद की नियति

शिरीष की याद आयी

जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है

अग्निरथ

ये विपथ गाएँ

यह घर तो बख्श दो

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बांधवो में

आंगन का पंछी और बनजारा मन

मैंने सिल पहुँचाई

कौन तू फुलवा बीननि हारी

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

प्राचीन ग्रन्थ

ऋग्वेद

यजुर्वेद

ऐतरेय ब्राह्मणम्

छान्दोग्योपनिषत्

कठोपनिषत्

पूर्वमीमांसा सूत्र

न्याय वैशेषिक सूत्र

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

पराशर धर्म संहिता

नारदीय भक्तिसूत्र

पाणिनी अष्टाध्यायी

श्रीमद्भागवतम्

महाभारतम्

श्रीमद्भगवद् गीता

कोश साहित्य

रामचन्द्र वर्मा	मानक हिन्दी कोश
कालिका प्रसाद	बृहत् हिन्दी कोश
गोविन्द चातक	बृहत् हिन्दी पर्याय वाची कोश
वामन शिवराम आप्टे	संस्कृत-हिन्दी कोश
भोलानाथ तिवारी	व्यावहारिक हिन्दी-अंग्रेजी कोश
गणेश शर्मा	संस्कृक धातु कोष
डॉ.श्यामसुंदर दास	हिन्दी शब्दसागर
डॉ धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश

विद्यानिवास मिश्रजी के ग्रन्थ

ग्रन्थ	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
अग्निरथ	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1985
अंगद की नियति	"	1984
अस्मिता केलिए	आलेख प्रकाशन, नई दिल्ली	1981
आँगन का पंछी और बनजारा मन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी	1962
कस्मै देवाय हविषा विधेम	भारती भण्डार, इलहाबाद	1983
कमद की फूली डाल	न्यू लिटरेचर, इलहाबाद	1955
कंटीले तारों के आर-पार	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1976
कौन तू फुलवा बीननि हारी	"	1980
गाँव का मन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1975
छितवन की छाँह	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद	1953
जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1994
तुम चन्दन हम पानी	भारतीय भण्डार, इलाहाबाद	1956
तमाल के झरोखे से	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1981
देश, धर्म और साहित्य	"	1992
नदी, नारी और संस्कृति	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
परम्परा बंधन नहीं	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद	1977
पीपल के बहाने से	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1994
फागुन दुइ रे दिना	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1994
भारतीयता की पहचान	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1989
भारतीय चिंतन धारा	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1995
भावपुरुष श्रीकृष्ण	"	1989
भोर का आवाहन	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली	1968
भ्रमरानन्द के पत्र	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1981

महाभारत का काव्यार्थ	नेशनल् पब्लीशंग हाउस, नई दिल्ली	1985
मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	"	1976
मेरे निबंध मेरी पसंद के	कौशांबी प्रकाशन, इलहाबाद	1974
मैंने सिल पहुँचाई	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1966
रीति विज्ञान	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1973
लागौ रंग हरि	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1973
वसंत आगया पर कोई उत्कंठा नहीं	लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद	1970
शिरीष की याद आयी	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1995
शेफाली झर रही है	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1987
संचारिणी	"	1981
सपने कहाँ गए	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
साहित्य का खुला आकाश	"	1996
साहित्य की चेतना	विंध्याचल प्रकाशन, इलाहाबाद	1987
सोऽहम्	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1991
हिन्दी की शब्द संपदा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1970
हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1978

अन्य सहायक ग्रन्थ

डॉ.गंगाप्रसाद गुप्त	हिन्दी साहित्य में निबंध और निबंधकार रचना प्रकाशन, इलाहाबाद	1971
डॉ.राघव प्रकाश	शैली विज्ञान और पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकाडमि, जयपुर	1983
डॉ.गणपतिचन्द्र गुप्त	आ.हजारी प्रसाद द्विवेदी: व्यक्तित्व एवं साहित्य अट्लांटिक पब्लीशर्स, नई दिल्ली	1989
वीरेन्द्र मोहन	भक्ति काव्य और मानव मूल्य प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली	1986

एस.के.पद्मावती	कवि दिनकर: व्यक्तित्व एवं कृतित्व जवाहर पुस्तकालय, मथुरा	1967
डा.सूर्यप्रकाश	लोकोक्ति और मुहावरा: स्वरूप एवं विश्लेषण लोक प्रकाशन, नई दिल्ली	1990
"	काव्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का सौंदर्य लोक प्रकाशन, नई दिल्ली	1988
गिरिधर प्रसाद शर्मा	भक्ति काव्य के स्रोत राज पब्लीशिंग हाउस, दिल्ली	1989
रामेश्वरदास सप्रा	श्रीमद् वाल्मीकी रामायण में भक्ति तत्व सत्साहित्य भंडार, दिल्ली	1991
डा.बेनी बहादूर सिंह	भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास शांति प्रकाशन, इलाहाबाद	1989
जनार्दन भट्ट	भारतीय संस्कृति वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1985
डॉ.वेदवती राठी	हिन्दी ललित निबंध, परंपरा एवं प्रयोग पाठक प्रकाशन,. अलीगढ़	1991
दुर्गा भागवत	भारतीय लोक साहित्य की रूपरेखा भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली	1991
डॉ.पूर्णचन्द शर्मा	लोक संस्कृति के क्षितिज संजय प्रकाशन, दिल्ली	1987
रमेश उपाध्याय	हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार डी.पी.ग्राफिक्स, नई दिल्ली	1996
डॉ.सत्येन्द्र	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन विनोद पुस्तक मंदिर, आग्रा	1960
अमिता सिंह	कुबेरनाथ राय और उनका साहित्य ग्रन्थायन, अलीगढ़	1982

कुबेरनाथ राय	दृष्टि-अभिसार नैशनल पब्लीशिंग हाउस, नई दिल्ली	1984
गणोश खरे	हिन्दी के प्रमुख निबंधकार रचना और शिल्प अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर	1979
जयनाथ नलिन	हिन्दी निबंधकार आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली	1964
जैनेन्द्रकुमार	साहित्य और संस्कृति पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली	1979
द्वारिका प्रसाद सक्सेना	हिन्दी के प्रतिनिधि निबंधकार विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1980
डॉ.नगेन्द्र	भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका नैशनल पब्लीशिंग हाउस, नई दिल्ली	1963
''	मिथक और साहित्य नैशनल पब्लीशिंग हाउस, नई दिल्ली	1979
''	हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1972
रामजी उपाध्याय	भारत की प्राचीन संस्कृति किताब महल प्रयाग	1948
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	1940
वासुदेव	विचार और निष्कर्ष भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली	1956
वासुदेव शरण अग्रवाल	कला और संस्कृति साहित्य भवन, प्रयाग	1952
वासुदेव सिंह	हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास संजय बुक सेंटर, वाराणासी	1983

विजयेन्द्र स्नातक	विमर्श के क्षण नैशनल पब्लीशिंग हाउस, नई दिल्ली	1979
श्रीवल्लभ शुक्ल	हिन्दी के वैयक्तिक निबंध साहित्य भवन, इलाहाबाद	1986
सत्यकेतु विद्यालंकार	भारतीय संस्कृति और साहित्य सरस्वती सदन, मस्सूरी	1956
हरिहरनाथ द्विवेदी	निबंध: सिद्धांत और प्रयोग बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकाडमी, पाटना	1971
अज्ञेय	जोग लीखी राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली	1977
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य लक्ष्मी प्रेस, इलाहाबाद	1954
डा.मु.ब.शाह	हिन्दी निबंधों का शैलिगत अध्ययन पुस्तक संस्थान, कानपुर	1973
जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	हिन्दी गद्य शैली का विकास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	1977
ओंकारनाथ शर्मा	हिन्दी निबंध का विकास अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर	1964

अंग्रेजी के ग्रन्थ

Dr. K.N. Munshi	Our Greatest Need
Dr.Radhakrishnan	East and West
Dr.Ravindranath Tagore	The Centre of Indian Culture
Hirendranath Dutt	Indian Culture
Nirmal Kumar Bose	Cultural Anthropology
Bipin Bihari	Science, Culture and Man

B.G. Gokhale	Indian Thoughts through the Ages
Heinrich Zimmer	Philosophies of India
S.Siddhantalankar	Heritage of Vedic Culture
P.V.Kane	History of Dharmashastra

कन्नड भाषा के ग्रन्थ

जी.वी.डी.	भारतीय काव्य मीमांसे
डी.एस.इ.आर.टी.	भारतीय दर्शन
गुरुनाथ जोशी	हिन्दी-कन्नड़ शब्दकोश

पत्र-पत्रिकाएँ

अंतर्ज्वाला

आजकल

कल्याण

धर्मयुग

प्रकर

मधुमती

समीक्षा

संस्कृति

साहित्य अमृत

हंस

जनसत्ता

नवभारत टाईम्स